

तीर्थङ्कर वर्द्धमान

[प्रथम खण्ड]

लेखक :

श्री श्रीचन्द्र रामपुरिया वी कॉम, वी एल



भूमिका लेखक :

श्री यशपाल जैन सं० 'जीवन-साहित्य'

प्रकाशक :
हमीरमल पूनमचन्द रामपुरिया
सुजानगढ़ (बीकानेर)

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी
वीरनिर्वाण संवत् २४८०
प्रथम संस्करण १००० प्रतियाँ
मूल्य ५)

मुद्रक :
मदनकुमार मेहता
(आदर्श-साहित्य-संघ द्वारा संचालित)
रेफिल आर्ट प्रेस,
३१, बड़तला स्ट्रीट, कलकत्ता ।

समर्पित

बहुश्रुतों में बहुश्रुत
प्रज्ञा, सेवा और विनय
की

जीवन्त मूर्ति
तपोपूत स्थविर मंत्री
मुनि श्री भगनलालजी को

तीर्थङ्कर वर्द्धमान

(जीवन-चरित और प्रवचन)

नाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेणं तवेण य ।
खन्तीए मुत्तीए, वड्ढमाणो भवाहि य ॥

उत्त० २२ : २६

—तुम ज्ञान, दर्शन और चारित्रसे तथा तप,
कामा और निर्लोभतासे सदा वृद्धि पाते रहना ।

प्रस्तावना

हिन्दी भाषाभाषी जनताके सम्मुख तीर्थङ्कर वर्द्धमानके चरितका यह प्रथम खण्ड उपस्थित करते हुए एक आत्म-तृप्तिका अनुभव हो रहा है। इस महान् विभूतिके सम्बन्धमे हिन्दी साहित्यमे नगण्य-सा ही लिखा मिलता है। यूग-युग प्रकाशकारी इस महान् पुरुषके व्यवितत्वका पूरा तो क्या स्वल्प मात्र भी नाप-तोल अभी तक हिन्दी-जगत् में नहीं हुआ।

इस प्रथम खण्डमे दो भाग हैं। प्रथम भागमें जीवन-चरित और द्वितीय भागमें प्रवचन-संग्रह है।

आज तक जो महावीर चरित लिखे गये हैं वे प्रायः कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यके 'त्रिपटिशलाका पुरुष चरित्र' काव्यकी सामग्रीके आधार पर ही हैं। वर्षोंसे इच्छा थी कि तीर्थङ्कर महावीरका, प्राचीन-से प्राचीन सामग्री पर आधारित, एक प्रामाणिक जीवन-चरित हिन्दीमें लिखा जाय। यह उसी दिशामें एक प्रयत्न मात्र है।

इस जीवनीकी सामग्री अधिकांशतः आगम-ग्रन्थोंसे ली गई है और पाद टिप्पणीमें संदर्भ दे दिये हैं। जिन घटनाओंका आगम-ग्रन्थोंमें उल्लेख नहीं, इन्हें छोड़ दिया गया है। इस तरह प्राचीन-से-प्राचीन सामग्रीके आधार पर महावीरके जीवनकी जो रूप-रेखा बनती है, वही

[४]

सहज भावसे इस खण्डके प्रथम भागमें आई है। जीवन-चरितमें महावीरके प्रभावशाली व्यक्तित्वके विषयमें लेखककी ओरसे एक शब्द भी नहीं लिखा गया और न उनकी विशेषताओंको दिखानेकी चण्टा की गई है। पाठकोको यह कमी अखरेगी पर ऐसा जान-बूझ कर ही किया गया है। महावीरका अद्भुत और अनन्य व्यक्तित्व उक्त समय तक अतिरिजित ही बना रहेगा जबतक उनके जीवनके सारे प्रसंग सामने नहीं आ जायेंगे। ऐसे प्रसंगोंके अध्ययनसे ग्रन्थित व्यक्तित्व ही महावीरका सच्चा व्यक्तित्व होगा और वही सर्वाधिक विश्वसनीय बन सकेगा, इसी दृष्टिसे लेखकने उनके व्यक्तित्वके बारेमें अभी इस खण्डमें कोई जिक्र नहीं किया।

‘तीर्थङ्कर वर्द्धमान’ का द्वितीय खण्ड प्रेसमें है, जिसमें भगवान् महावीरके जीवन-प्रसंगोंका संग्रह है। इस प्रथम खण्डके द्वितीय भाग में प्रवचनोंका संग्रह है। ज्ञाता धर्म सूत्रके आधार पर लेखक द्वारा प्रस्तुत महावीरकी धर्मकथाओंका संग्रह पहले ही प्रकाशित किया जा चुका है। तृतीय खण्डमें इसी सब सामग्रीके आधारपर भगवान् महावीरके अद्वितीय व्यक्तित्व और उनकी महान् देनके विषय पर प्रकाश डाला जायगा और इसमें भगवान् महावीर, तथागत बुद्ध और महात्मा गांधीका तुलनात्मक अध्ययन भी रहेगा। यह प्रथम खण्ड समूची जीवनी उपस्थित करने की योजनाका एक अंश मात्र ही है।

इस प्रथम खण्डके उत्तरार्द्धमें महावीरके प्रवचनोंका सिलसिलेवार और एक योजनापूर्वक संग्रह किया गया है। अर्थमें मूलके यथाशक्य नजदीक रहनेकी चण्टा की है। सारे प्रवचनोंको पढ़ लेनेपर तीर्थङ्कर-

* ‘दृष्टान्त और धर्मकथाएँ’—प्रकाशक जैन श्वेताम्बर तेरापथी
महासभा ३, पोर्च्यूगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता मूल्य 1।।]

वर्द्धमानका जीवन किस सिद्धान्तवाद और कौसी जीवन-साधनाके लिए था, यह सहज ही समझमें आ सकेगा ।

यह प्रवचन-संग्रह पहले मैंने गद्यमें तैयार किया और बादमें मूल सहित । विद्वत्वर पं० बेचरदासजी दोशीकी 'महावीर वाणी' सस्ता साहित्य से सन् १९४२ में प्रकाशित हुई उसके पहले ही यह संग्रह तैयार हो चुका था और इसके फुटकर अथ कुछ पत्रोंमें प्रकाशित भी हुए थे । एक समय विद्वान द्वारा सम्पादित उपरोक्त संग्रहके प्रकाशनके बाद इस संग्रहके प्रकाशनकी आवश्यकता न देख मैंने इसे यों ही रख छोड़ ।

सं० २००५ की बात है । मैं चातुर्मासमें पूज्यपाद आचार्य श्री तुलसीके दर्शनके लिए छापरा गया था । इन दिनों आचार्यश्री प्रवचन-संग्रहका ही कार्य करा रहे थे । सहज ही एक सुझाव मुहसे निकल पड़ा । आचार्यदेवको वह पसन्द पडा और अकस्मात् इस तरहका सुझाव कैसे दे पाया—पूछने की कृपा की । मैंने अपने संग्रहकी बात चलाई, जो संयोगवश उस समय मेरे साथ छापरामें था । महती कृपाकर आचार्यश्रीने संग्रह अवलोकनार्थ रख लिया । मैं कुछ दिनों बाद कलकत्ता चला आया । समाजभूषण छोगमलजी चौपडाने इस संग्रहका जिक्र करते हुए एक बार लिखा—आचार्य देवने तुम्हारे संग्रहकी परिश्रमसाध्य और उपयोगी बतलाया है । मैंने अपना अहोभाग्य समझा ।

छापरा चातुर्मासके बाद आचार्य देव राजलदेसर पधारे जहा, सं० २००५ का माघमहोत्सव था । सतीने देखनेके बाद संग्रह एक श्रावकको सभला दिया । वे मुझे देना भूल गये और उसका पता न चल पाया । सं० २००७में मैं लुधियाना आचार्यदेवके दर्शनके लिए

[घ]

गया हुआ था और अपने एक मित्रके साथ भोजन कर रहा था। उसी समय एक सज्जन आए और कपड़ेमें बधा हुआ एक पुलिन्दा मेरे हाथमें देते हुए बोले—‘रामपुरियाजी, देखिए यह क्या चीज है। किसीको देना थी। सत्ताने राजलदेसरमें सभलाई थी, पर मैं नाम ही भूल गया। हिफाजतसे रख छोड़ी है पर किसको दूँ?’ मैंने वही उत्सुकतासे भोजन करते-करते ही वण्डल खोली। मेरे आनन्दका ठिकाना न रहा। अपनी ही चीजें उसमें पा उन सज्जनको धन्यवाद देते हुए बोला—‘अब आपको और किसीकी खोज नहीं करनी होगी। ये कागजात मेरे ही हैं।’ उस समय जीवनीवाला अक्ष प्रेसमें दिया जा चुका था। कुछ फोर्म छप भी चुके थे। सोचा इस सग्रहका इस समय मिलना इस बातका संकेत है कि इसका उपयोग उसके उत्तरार्द्ध में कर लेना चाहिए। इसी भावना से इस सग्रहको इस खण्डके द्वितीय भागके रूपमें जोड़ दिया गया है।

प्रवचनको चार विभागोंमें बाटा गया है। प्रथम विभाग— शिक्षापदमें—भगवान् महावीरकी सार्वभौम शिक्षाओंका सग्रह है, जो निविशेष रूपसे मानव-मात्रके लिए उपयोगी है—चाहे वह किसी जाति या धर्मका हो, चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि हो। दूसरे विभाग—निर्ग्रंथपद—में उन शिक्षापदोंका समावेश किया गया है जिन पर महावीरके मुनियोंको चलना पड़ता था। इससे महावीरकी मुनि-जीवनकी कल्पना क्या थी और उनके मुनियोंको कैसा कठोर साधना-मय और अहिंसक जीवन व्यतीत करना पड़ता था इसका पता चल सकेगा। तीसरे विभाग—दर्शन-पदोंसे महावीरके वाद—उन्होंने जिस दर्शनधाराका प्रतिपादन किया, उसका सहज बोध हो सकेगा। अन्तिम विभाग—कालिपदसे—भगवान् महावीरने अपने जमानेकी

बुराह्यो और जड़ताओके विरुद्ध जो तुमूल मोर्चा लिया, उसका सहज विद्य सामने आ जायगा ।

विदेशी विद्वानोका अनुसरणकर महावीरकी जन्मभूमि वंशाली मानो जाने लगी है पर लेखकका मत है कि वंशाली महावीरको जन्मभूमि नहीं हो सकती । उनका जन्मभूमि क्षत्रियकुण्ड ग्राम (पुर) था । इस विषयकी चर्चा जीवनीमें जन्मभूमि शीर्षकके अन्तर्गत आई है ।

इस पुस्तकके लिखनेमें जिन-जिन विद्वानोकी पुस्तकोका सहारा लेना पडा है, उनके प्रति लेखककी हार्दिक कृतज्ञता है ।

'जीवन-साहित्य'के सम्पादक सहृदय भाई यशपालजी जैनने मेरे अनुरोधको स्वोकारकर भूमिका लिखनेकी कृपा की, उसके लिए मैं उनका हार्दिक आभार मानता हूँ ।

यह जीवनी महावीरका प्रामाणिक जीवन-परिचय देनेकी दृष्टिसे लिखी गई है । यदि यह प्रयास उस दिशामें थोड़ा भी सफल रहा, तो मैं अपनेको कृतकृत्य समझूंगा ।

ई५।३ पांचागली

कलकत्ता

ता० २८।४।५३

श्रीचन्द रामपुरिया



भूमिका

वक्त्र श्रीचन्द्रजी रामपुरियाने जब प्रस्तुत पुस्तककी भूमिका लिख देनेका आग्रह किया तो अत्यधिक व्यस्त होने और अपनी मर्यादाबोका जानते हुए भी मैं सहसा इन्कार न कर सका। इसका मुख्य कारण था अपने भारको हल्का करनेकी भावना। आजसे कुछ महीने पूर्व जब मैं श्री रामपुरियाजीसे मिला था तो उन्होंने इस पुस्तककी चर्चा करते हुए सहज भावसे पूछ लिया था कि भूमिका किससे लिखवाना ठीक होगा। मैंने उन्हें न केवल नाम ही सुझाया, अपितु भूमिका लिखवा देनेका आश्वासन भी दे दिया। मेरे इस आश्वासन पर रामपुरियाजी कई महीने तक छपी पुस्तक को केवल भूमिकाके लिए रोके रहे। लेकिन वचन देकर और चाहते हुए भी जब वह सज्जन अत्यधिक व्यस्तताके कारण भूमिका न भेज सके और कई महीने निकल गये तो मेरे हृदय पर बोझकी एक चट्टान-सी खड़ी हो गई। उसी बोझको हल्का करनेके लिए, भूमिकाके रूपमें इन पक्तियोंके लिखनेकी मांग होने पर, मेरे लिए वचनेका कोई अवसर न रहा। मुझे खेद है कि रामपुरियाजीको पुस्तक प्रकाशित करने और पाठकोको उसे पानेके लिए इतनी प्रतीक्षा करनी पड़ी।

भारत एक विशाल भू-खण्ड है। लगभग पैंतीस करोड़ लोग यहां बसते हैं। उनकी अनेक जातियां हैं, धर्म हैं और अलग-अलग विश्वास हैं। प्राचीनकालसे ही यह परम्परा चली आ रही है। जिस समय

[ख]

आर्य लोग इस देशमें आये थे, उनकी सख्या अधिक न थी, लेकिन वे सब-के-सब किसी एक स्थान पर केन्द्रित न होकर भिन्न-भिन्न जन-पदोंमें फैल गये । इस प्रकार विकेन्द्रित होकर उनकी अलग-अलग शाखाएँ हो गईं और क्षेत्र एव कालके अनुसार उनकी धार्मिक मान्यताओंमें भी अन्तर पड़ गया । वे एक ईश्वरके उपासक थे और प्रकृति की विभिन्न शक्तियोंमें ईश्वरके नाना रूपोंकी कल्पना करके देवी-देवताओंके रूपमें उनकी पूजा करते थे । देवी-देवताओंको प्रसन्न करने के लिए उन्होंने यज्ञकी परिपाटीको प्रोत्साहन दिया, परन्तु कालांतर में धर्म सबधो उनकी मूल भावनामें भारी परिवर्तन हो गया । यज्ञ उनके लिए मोक्षके साधन बन गये और उनमें वे हजारों-लाखों निरीह पशुओंकी बलि देने लगे । वे समझने लगे कि पशुओंकी बलिसे देवी-देवता प्रसन्न हो जायगे और उनके लिए मोक्षका द्वार अनायास खुल जायगा । घोर हिंसाका प्रचार हो गया । पूजामें हिंसा आई ता जीवन के अन्य व्यवहारोंमें उससे कैसे बचा जा सकता था ? इस प्रकार क्या पूजा-आराधनामें और क्या पारस्परिक व्यवहार और व्यवसाय में, हिंसाका बोलबाला हो गया ।

अपनी सुविधाकी दृष्टिसे आर्योंने कार्य-विभाजन करके एक-एक वर्गको उसकी योग्यतानुसार काम सौंप दिया था । आगे चलकर वह वर्ग-विभाजन वर्णके रूपमें परिवर्तित हो गया । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये पृथक्-पृथक् चार वर्ण बन गये । उनमें ऊँच नीचकी भावना उत्पन्न हो गई और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय अपनेको उच्च मानकर वैश्य और शूद्रोंको हेय दृष्टिसे देखने और तदनुसार उनके साथ आचरण करने लगे । सेवा-कार्य करनेवाले शूद्रों और दासोंका तो एक ऐसा वर्ग ही बन गया, जो न केवल नीचा ही समझा जाने लगा,

अपितु उसे मामान्य मानवीय अधिकारोंमें भी वंचित कर दिया गया । जा आर्य-जाति सगठित हुंकर इस भूमि पर आई थी, वह विखर गई और आदमी आदमीके बीच दुर्भेद्य दीवार खड़ी हुई । अपने-अपने मत्ताग्रहोंके कारण लोगोंके सिर फूटने लगे ।

राजनैतिक क्षेत्रमें भी विपम स्थिति पैदा हो गई । भौतिक जय-पराजयमें लोग अपने पराक्रमकी चरम सीमा मानने लगे ।

ऐसी भयावह स्थितिमें विहारके ज्ञातृकगणके अधीनस्थ कृण्डलग्राम (कृण्डलपुर) के राजघरानेमें ईसासे ५९९ वर्ष पूर्व वर्द्धमान नामक एक बालक उत्पन्न हुआ । चैत्रका मास, ग्रीष्म ऋतु, शुक्ल त्रयोदशी का दिन और मध्य रात्रिकी बेला । पिता सिद्धार्थ और मा त्रिशला तो पुलकित हुए ही, सारा राज्य आनन्दित हो उठा । जवसे बालक मा के पेटमें आया था तभीसे कुलकी सुख-समृद्धि और मान-मर्यादामें आश्चर्यजनक वृद्धि हुई थी । स्वभावतः बालकका नाम उसके गुणोंके अनुसार वर्द्धमान रक्खा गया ।

वर्द्धमानका बचपन वैसे ही बीता जैसे धन्य बालकोंका बीता करता है । वह उदार थे और उनका शरीर बलिष्ठ और कातिवान था । उन्हें सब प्यार करते थे ।

दियम्बर सम्प्रदायकी मान्यता है कि महावीरने विवाह नहीं किया और आजन्म ब्रह्मचारी रहे । श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानता है कि उन्होंने मा के विशेष आग्रह पर यशोदा नामकी लड़कीसे विवाह किया और उनके एक कन्या भी उत्पन्न हुई । जो ही, बचपनसे ही उनमें वैराग्यका बीज विद्यमान था और वह धीरे-धीरे उनकी मानस-भूमिमें जमता जा रहा था । ३० वर्षकी आयु तक वर्द्धमान घरमें रहे; लेकिन अनासक्त रहकर । घरके किसी काम-काज अथवा राज-पाटमें उन्हें

[घ]

रस न था । वीराग्यका बीज जो पनप रहा था । जब वह विकसित हुआ तब ३० वर्षकी भरी जवानी, भरा-पूरा घर-बार, विस्तृत राजपाट, कुछ भी उन्हे न रोक सका । सबको लात मार कर वह तपश्चर्या करने घरसे निकल पडे । उन्होंने प्रतिज्ञा की :

“सर्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं”

अर्थात्—“आजसे मैं कोई पाप नहीं करूंगा ।” इतना ही नदी, उन्होंने पचमहाव्रतके पूर्ण पालनकी भी प्रतिज्ञा की ।

आश्चर्य होता है कि उन्होंने ऐसे कठोर मार्गको कैसे चुना ! आज के युगका ब्रुद्धिवादी यह भी कह सकता है कि उस सबकी आवश्यकता ही क्या थी । भगवानने उन्हे साधन दिये थे तो वे उनका उपयोग करते और उनके द्वारा दूसरोका कष्ट-निवारण करते, लेकिन वह वर्द्धमान का मार्ग नहीं था ।

घरमे बाहर निकलनेके बादके उनके बारह वर्षोंका जीवन इतना कठोर और रोमाचकारी है कि पढकर हृदय काप उठता है । न कोई शिष्य, न उपासक, मौन आत्मशोधनमें लीन, उनकी कष्ट-सहिष्णुता, अडिग ब्रह्मचर्य-साधना, अहिंसा और त्यागके कठोर नियमोका पालन, शारीरिक अनासक्ति, वन्य जतुओका उपद्रव, लोगोका उत्पात, कभी खुलेमें तो कभी पेडकी छाहमें, कभी इमशानमें तो कभी सूने घरमे उनका पडा रहना, खान-पानका अद्भुत सयम, नीद पर विजय, आदि-आदि बातोंके बडे ही विशद और रोचक वर्णन मिलते है । काया सूख गई, वस्त्र जोर्ण होकर नष्ट हो गया । उनकी वह दुर्द्धर्ष तपश्चर्या महीने दो महीने अथवा साल दो साल नहीं, बारह वर्ष तक निरन्तर चली । अनेक उपसर्ग हुए, अनेक प्रलीभन आये; परन्तु वर्द्धमानकी तपस्याको कोई खण्डित न कर सका । अपनी इस निष्ठायुक्त साधना,

असामान्य धर्म, कष्ट-सहिष्णुता एव आत्म-सयमके कारण ही वह ब्रह्मभानसे महावीर बने ।

तेरहवें वर्षमें उनकी तपश्चर्या पूर्ण हुई और वह 'केवली' पदको प्राप्त हुए । ससारके सुख-दुःख, मोह-माया, राग-द्वेष आदिसे वह ऊपर उठ गये । तीर्थका अर्थ होता है, जिसके द्वारा तिरा जा सके और चूकि महावीरने अपनी वाणी द्वारा भवसागरको पार करनेका मार्ग प्रशस्त किया, इसलिए वह तीर्थकर कहलाये ।

केवली पद प्राप्त कर लेनेके बाद उन्होंने धर्मोपदेश देना आरम्भ किया । उनके अनुयायियोंमें स्त्री-पुरुष सब थे । जो पूर्ण ब्रती थे वे 'श्रमण' और जो स्थूल ब्रती थे वे उपासक व श्रावक कहलाये । श्रमण, श्रमणी, उपासक, उपासिका—यह चतुर्विध अनुयायी-समुदाय सघ कहलाया । भगवान् महावीरकी दृष्टि सम्पूर्णतः आध्यात्मिक थी । आध्यात्मिक साधना द्वारा आत्म-दिजय करनेका अभिलाषी कोई भी व्यक्ति सामर्थ्यानुसार व्रत ग्रहण कर सघका अंगी हो सकता था । सघकी नीव ८ तत्त्वों पर आधारित थी :—(१) आत्म-जय, (२) अहिंसा, (३) व्रत, (४) विनय, (५) शील, (६) मंत्री, (७) समभाव और (८) प्रमोद । जो पूर्ण ब्रती थे वे किसी भी सवारीका उपयोग नहीं कर सकते थे, वे पैदल चलते थे । पैरोंमें जूते नहीं पहन सकते थे और न खाट आदि आरामके उपकरण ही काममें ला सकते थे । सादा और स्वावलम्बी जीवनका उनके लिए विधान था । वे वाणिज्य-व्यापार भी नहीं कर सकते थे और अपना जीवन-यापन उ-हे भिक्षा मांग कर करना पड़ता था ।

महावीर ७२ वर्षकी आयु तक जीवित रहे । अनन्तर राजगृहमें शरीर त्याग मोक्षको प्राप्त हुए ।

[च]

अपने उपदेशोंमें महावीरने सभी विषयोंका समावेश किया। वह जानते थे कि जीवनकी छोटी-से-छोटी बात भी महत्त्वपूर्ण होती है और तनिक-सी असावधानी बड़ी-से-बड़ी साधनाको विकृत कर सकती है। अतः उन्होंने गृहस्थोंके लिए नियमादिक बनाये तो साधु, भिक्षु आदिको भी बधनमुक्त नहीं छोड़ा। वह यह भी जानते थे कि सबके लिए समान नियम नहीं बनाये जा सकते, कारण सबकी अपनी-अपनी सीमाएँ होती हैं। अतः साधुके लिए जहाँ उन्होंने पंचमहाव्रतोंके सूक्ष्म पालनकी शर्त रखी, वहाँ गृहस्थोंको उपदेश दिया कि यदि वे अहिंसा आदि व्रतोंका उनके सूक्ष्म रूपमें पालन नहीं कर सकते तो कम-से-कम स्थूल रूपसे तो उन पर चलें।

महावीर चाहते तो अपने प्रवचन पाण्डित्यपूर्ण भाषामें दे सकते थे; लेकिन इससे उनका सदेश पण्डित-वर्ग तक ही सीमित रह जाता। इसलिए उन्होंने लोक-भाषाको अपनाया और अपनी शिक्षाएँ इतनी सरल और बोधगम्य भाषा और शैलीमें दी कि सामान्य व्यक्ति भी उन्हें बिना कठिनाईके समझ सकता था। उनके विचार बहुत स्पष्ट थे। कहीं भी उनमें उलझन नहीं थी। इसीसे उनका सदेश व्यापक रूपसे फैला। फिर एक बात यह भी थी कि उन्होंने अपने उपदेश किसी वर्ग-विशेषके लिए नहीं दिये, बल्कि बिना जाति-पातिका भेद-भावके सबको उनसे लाभ पहुँचे, यह दृष्टि रखी। जिस प्रकार उनके सधका द्वार सबके लिए समान रूपसे खुला था, उसी प्रकार उनके उपदेश भी सबके लिए कल्याणप्रद थे।

प्रस्तुत पुस्तकमें बड़े परिश्रम और अध्ययनके बाद बन्धुवर राम-शुरियाजीने भगवान् महावीरके जीवन-चरितकी सामग्री तथा उनके चुने हुए प्रवचन दिये हैं। जीवन-चरित सम्बन्धी सामग्रीका उन्होंने

चार भागोंमें विभक्त किया है (१) गृहस्थ-जीवन, (२) साधक जीवन, (३) तीर्थकर-जीवन और (४) परिनिर्वाण । महावीरका समूचा जीवन इतना घटनापूर्ण है कि सारी उपलब्ध सामग्रीको एक पुस्तकमें देना एक प्रकारसे असम्भव है । अतः लेखकने बड़ी कृशलता से मुख्य-मुत्त्य घटनाएँ देकर शेषके लिए पुस्तको आदिके सन्दर्भ पाद-पाठोंमें दे दिये हैं । उन सन्दर्भोंके कारण अधिक जानकारी पाने की जिज्ञासा रखनेवाले पाठकोको पुस्तकोके दूढ़नेमें कठिनाई नहीं होगी ।

पुस्तकका सबसे मूल्यवान भाग महावीरके प्रवचन है, जिन्हें चार भागोंमें बाटा गया है (१) शिक्षा-पद, (२) निर्ग्रन्थ-पद, (३) दर्शन-पद और (४) क्रान्ति-पद । प्रवचनका प्रत्येक विभाग अमूल्य रत्नसे भरा पडा है । पहले मूल भाषामें एक-एक पद दिया गया है । साथ ही सुबोध भाषामें उसका अर्थ । अर्थको सरल बनानेकी चेष्टा की गई है और जहां पारिभाषिक शब्दोंका रखना अनिवार्य हो गया है, वहां उनकी व्याख्या कर दी गई है । अर्थ करनेमें मूलके निकट रहनेका प्रयत्न भी स्पष्ट दीख पडता है ।

लगभग २५०० वर्ष बाद भी महावीरका सदेश कितना ताजा और कितना स्फूर्तिदायक है, इसके कुछ नमूने देखिये । प्रमादके विरुद्ध चेतावनी देते हुए वह कहते हैं :

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निबडइ राइगणाण अच्चए ।

एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमाथए ॥

—जैसे वृक्षके पत्ते पीले पडते हुए समय आने पर पृथ्वी पर झड़ जाते हैं, उसी तरह जीवन भी (आयु शेष हो जाने पर समाप्त हो जाता है) । हे जीव, क्षण भरके लिए भी प्रमाद न कर । (पृ० १०१)

एक छोटे-से पदमें उन्होंने जीवनका कितना बड़ा सत्य भर दिया है :

दुःखं ह्यं जस्सं न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा ह्या जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥

—उसने दुःखका नाश कर दिया, जिसके मोह नहीं होता । उसका मोह नष्ट हो गया, जिसके तृष्णा नहीं होती । उसकी तृष्णा नष्ट हो गई, जिसके लोभ नहीं होता । उसका लोभ नष्ट हो गया, जो अकिंचन है । (पृष्ठ १२४)

वैरके दूषित परिणामके सबघमें उनका विश्लेषण देखिये :

वेराइं कुन्वई वेरी, तओ वेरेहि रज्जई ।

पावोवगा य आरंभा, दुःखफासा य अन्तसो ॥

—वैरी वैर करता है और फिर दूसरोके वैरका भागी होता है । इस तरह वैरसे वैर आगे बढ़ता जाना है । पापोत्पन्न करनेवाले आरम्भ अंतमें दुःखकारक होते हैं । (पृ० १४४)

कितनी सुन्दर उपमा देकर उन्होंने अघमके भयकर चक्रसे बचनेकी चेतावनी दी है :

जहां सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं ।

विसमं भग्गसोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पड्विज्जिया ।

बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥

—जिस तरह कोई जानकार गाड़ीवान समतल विशाल मार्गको छोड़कर विषम मार्गमें पड़ जाता है और गाड़ीकी धुरी टूट जानेसे सोच करता है, उसी तरह घमको छोड़कर अघममें पड़नेवाला मूर्ख मृत्युके मुंहमें पड़ा हुआ जीवनकी धुरी टूट जानेकी तरह शोक करता

हैं । (पृष्ठ १५६)

क्रोध, मान, माया और लोभसे मनुष्य किस प्रकार उत्तरोत्तर नीचे गिरता जाता है, इस सम्बन्धमें महावीरकी व्याख्या देखिये :

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।

मायागईपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥

—क्रोधसे मनुष्य नीचे गिरता है, मानसे अधोगति पाता है, माया से सद्गतिका रास्ता रुकता है और लोभसे इहभव और परभव दोनों विगडते हैं । (पृष्ठ १७६)

आजके यगकी मवमें बड़ी बुराई यह है कि अधिकांश लोग स्पष्ट भाषाका प्रयोग नहीं करते । असत्य भाषण भी प्रायः कर जाते हैं । भगवान् महावीरकी भाषाके विषयमें सावधानता देखिये :

तत्थिमा तइया भासा, जं वइत्ताऽणुत्तप्पई ।

जं छन्नं तं न चत्तव्वं, एसा आणा नियण्ठिया ॥

—भाषा चार प्रकारकी होती है । उनमें झूठसे मिली हुई भाषा तीसरी है । विवेकी पुरुष ऐसी मिश्र भाषा न बोले । न वंसी भाषा बोले, जिससे बादमें पश्चाताप करना पड़े । न प्रच्छन्न बात कहे । यही निर्ग्रन्थ ऋषियोंकी आज्ञा है । (पृष्ठ १७९)

जीवनकी क्षणभंगुरताके विषय में :

जहेह सीहो व मियंगहाय, मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले ।

न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिसहरा भवन्ति ॥

—निश्चय ही अतकालमें मृत्यु मनुष्यको वैसे ही पकड़ कर ले जाती है, जैसे सिंह मृगको । अन्तकालके समय माता-पिता या भाई-बन्धु कोई उसके भागीदार नहीं होते । (पृष्ठ १८७)

भोगोंकी निस्सारताके बारेमें उन्होंने कितने सुन्दर ढंगसे अपनी

बात कही है :

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,

न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा ।

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,

दुमं जहा रीणफलं व पक्खी ॥

—काल बीता जा रहा है । रात्रिया भागी जा रही है । मनुष्यों के ये काम-भोग निहय नहीं हैं । जैसे पक्षी क्षाण फलवाले द्रुमको छोड़ कर चले जाते हैं, उसी तरह काम-भोग क्षाणभागी पुरुषको छोड़ देते हैं । (पृष्ठ १९१)

दुनियाके सम्बन्धोंके विषयमें उनका सदेव आज भी कितना ताजा है :

दाराणि य सुया च्चेव, मित्ता य तह चन्धवा ।

जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य ॥

—स्त्री और पुत्र, मित्र और बान्धव जीवनकालमें ही पीछे-पीछे चलते हैं, मरनेके बाद वे साथ नहीं देते । (पृष्ठ २००)

नीहरन्ति मयं पुत्ता, पियरं परम दुस्सिय्या ।

पियरो वि तहा पुत्ते, वन्धू रायं तवं चरे ॥

—जैसे अत्यन्त दुःखी पुत्र मृत पिताको घरके बाहर निकाल देते हैं, वैसे ही माता-पिता भी मरे पुत्रको बाहर निकाल देते हैं । सगे-सम्बन्धियोंके विषयमें भी यही बात है । हे राजन् ! यह देखकर तू तप कर । (पृष्ठ २००)

आसक्त और अनासक्त व्यक्तियोंकी मनोभावनाओंका निरूपण उन्होंने कितनी सरल उपमा देकर किया है .

उल्लो मुफ़खो च दो छूडा, गोलया मट्टियामया ।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई ॥
एवं लग्गन्ति दुग्ग्मेहा, जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्क गोलए ॥

—जिम तरह नूखे और गीले दो मिट्टीके गोलोको फेकने पर उनमेंसे गीला ही टीवारसे चिपकता है और सूखा नहीं चिपकता, उसी प्रकार जो काम-लालनामें आसक्त और दुष्ट वृद्धिवाले मनुष्य होते हैं, उन्हींको समारका बन्धन होता है, पर जो काम-भोगोंसे विरत होते हैं, उनके ऐमा नहीं होता । (पृष्ठ २११)

अधिकांश व्यक्ति सदाचारी जीवनके राजमार्गको छोड़कर बुराई के मार्ग पर चल पड़ते हैं । उन्हें चंतावनी देते हुए वे कहते हैं :

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियन्तं मणुयाण जीवियं ।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंबुडा ॥

—हे पुरुष ! पाप कर्मोंसे निवृत्त हो । यह मनुष्य-जीवन शीघ्रतामे दौड़ा जा रहा है । जो लाभ लेना हो, वह ले ले । भोग-रूपी कादे (दलदल) में फसा हुआ और काम-भोगोंमें मूर्च्छित अजितेन्द्रिय मनुष्य हिताहित विवेकको खो कर मोहग्रस्त होता है । (पृष्ठ २१६)

मानवके लिए सबसे महत्वकी बात अपनी आत्मा पर विजय पाना है । वही सबसे कठिन काम भी है । इस सम्बन्धमें वे कहते हैं :

इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ जुद्धारिहं
खलु दुल्लभं ।

—हे प्राणी, अपनी आत्माके साथ ही युद्ध कर । बाहरी युद्ध करनेसे क्या मतलब ? दुष्ट आत्माके समान युद्ध योग्य दूसरी वस्तु दुर्लभ है । (पृष्ठ २१७)

नीचेके पदोंमें उन्होंने सत्य-भाषणका कितना सूक्ष्म विवेचन किया है :

सच्चमेगं पढमं भासज्जायं, बीयं मोसं, तइयं सच्चामोसं ।
जं णेव सच्चं णेव मोसं, असच्चामोसं णाम तं चउत्थं भासज्जातं ॥

—भाषा चार प्रकारकी होती है—(१) सत्य, (२) असत्य, (३) मत्यासत्य और (४) न सत्य-न-असत्य ।

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पण्णवं ।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासेज्ज सव्वसो ॥

—प्रज्ञावान उपरोक्त चार भाषाओंको अच्छी तरह जानकर सत्य और न-सत्य-न-असत्य इन दो भाषाओंसे व्यवहार करना सीखे और एकांत मिथ्या या सत्यासत्य इन दो भाषाओंको कभी न बोले । (पृष्ठ २३१)

सामान्य उपमा देकर बड़ी-मे-बड़ी बात समझा देनेमें तो महावीर का कमाल हासिल था । धनके मोहमें फसे लोगोंके विषयमें उन्होंने कितने तथ्यकी बात कितने सरल ढंगसे समझा दी है

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अट्टुवा परत्था ।
दीवप्पण्णे व अणंतं मोहे, नेयाउयं दट्ठमदट्ठमेव ॥

—प्रमत्त मनुष्य धन द्वारा न तो इस लोकमें अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोकमें । हाथमें दीपक होने पर भी जैसे उसके बुझ जाने पर सामनेका मार्ग नहीं दिखाई देता, उनी तरहसे धनके असीम मोहसे मूढ़ मनुष्य न्याय-मार्गको देखता हुआ भी नहीं देख सकता । (पृष्ठ २५३)

नाथु पुद्गलोंके लिए उन्होंने कितने पत्तोंकी बात कही है

[६]

वहुं सूनोइ कन्नेहिं, वहुं अच्छीहिं पिच्छई ।

न य दिहुं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिइइ ॥

—साधु कानोमे बहुत बातें सुनता है, आंखोंसे बहुत बातें देखता है, परन्तु देखी हुई, सुनी हुई सारी बातें किमीसे कहना साधुको उचित नहीं है । (पृष्ठ ३१२)

साधु-असाधुकी उनकी परिभाषा पर ध्यान दीजिये :

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहू गुणमुब्बऽसाहू ।
वियाणिया अप्पगमप्पणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥

—गुणोंसे साधु होता है और अगुणोंसे असाधु । सद्गुणोंको ग्रहण करो और दुर्गुणोंको छोड़ो । जो अपनी ही आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को जानकर राग और द्वेषमें समभाव रखता है, वह पूज्य है । (पृष्ठ ३३४)

भगवान् वास्तवमें क्रान्तिकारी थे । सच बात निर्भीकतापूर्वक कहनेसे कभी नहीं चूकते थे :

न वि मुंडिण्ण समणो, न ओंकारेण वंभणो ।

न मुणी रणवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥

—सिर मूंडा लेने मात्रसे कोई 'श्रमण' नहीं होता, 'ओम्' के उच्चारण मात्रसे कोई ब्राह्मण नहीं होता, श्ररण्यवास करने मात्रसे कोई मुनि नहीं होता और न बल्कल चौर-घारण मात्रसे कोई तापस (तपस्वी) होता है । (पृष्ठ ४४४)

उनकी दृष्टिसे ब्राह्मणके रूपकी कल्पना कीजिये :

तवस्सियं किसं दन्तं, अवचयमंससोणियं ।

सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं वूम माहणं ॥

—जो तपस्वी है, कृश है, जितेन्द्रिय है, तप साधनासे जिसने

रक्त-मांस सूखा दिया है, जो सुजती है और जिसने क्रोध, मान, माया और लोभसे मुक्ति पा ली है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

समूची पुस्तक ऐसे ही अभूत-वचनोसे परिपूर्ण है । महापुरुष दृष्टा होते हैं और वे ऐसे सनातन सत्योका प्रतिपादन करते हैं, जो कभी वासी नहीं होते । उनके वचन प्रत्येक युगमें स्फूर्ति और प्रेरणा देनेवाले होते हैं । भगवान महावीरके उपदेशोसे ऐसा लगता है, मानो आज ही कोई महापुरुष अपनी बात कह रहा हो । पाठक यह भी देखेंगे कि उनकी भाषा कितनी सरल थी । यद्यपि आज उस भाषाका प्रचलन नहीं है, तथापि थोड़ा-सा ध्यान देने पर वह भाषा आज भी आसानीसे समझमें आ जाती है । प्रस्तुत पुस्तकके लेखकने मूल पदोका अनुवाद भी वैसे ही सरल ढंगसे करके 'सोनेमें सुहागे' की कहावत चरितार्थ की है ।

हिन्दीमें भगवान महावीरके छोटे-बड़े कई जीवन-चरित निकले हैं और उनके उपदेशोके कुछ संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं । अर्द्धमागधीके सुप्रसिद्ध विद्वान् प० वेचरदासजी दोशीका संग्रह 'महावीर-वाणी' तो बहुत ही सुन्दर और उपादेय है । 'तीर्थंकर महावीर' का प्रकाशन उसी दिशामें एक अभिनन्दनीय प्रयास है । पुस्तककी सबसे बड़ी खूबी यह है कि लेखकने कहीं भी अपना मत पाठको पर लादनेका प्रयत्न नहीं किया ।

पुस्तककी प्रामाणिकता, विशेषकर प्रवचनोके पदोके अनुवादके विषयमें तो मूल भाषाके विज्ञ लोग ही राय दे सकेंगे; लेकिन इतना हम अवश्य कहेगे कि अनुवादकी भाषा हमें बहुत सरल, सुबोध और प्रवाह्युक्त प्रतीत हुई है ।

पुस्तककी एक और विशेषता उसकी सामग्रीके वर्गीकरणमें है ।

महावीरके जीवनके क्रमिक विकासकी दृष्टिसे पहले भागकी सामग्री इस प्रकार दी गई है कि गर्भसे लेकर मोक्ष तककी पूरी ज्ञाकी पाठको को मिल जाती है । इसी तरह प्रवचनोका भी उन्होंने इस ढंगसे क्रम और विभाजन किया है कि कोई भी आवश्यक विषय नहीं छूटने पाया है ।

लेखककी योजना विशद् है । इस मालामे वह कई पुस्तकें निकालनेके अभिलाषी है । पहला खण्ड तो पाठकोके नामने है ही । दूसरे खण्डमें वह महावीर के जीवन-प्रसंग रोचक और सजीव ढंगसे देना चाहते हैं । तीसरे खण्डमें महावीर, बुद्ध और गांधीका तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करना चाहते हैं । बुद्ध और महावीर तो समकालीन थे और जिस प्रकार महावीरने लोक-जीवनके आध्यात्मिक स्तरको ऊंचा उठानेका प्रयत्न किया, उसी प्रकार बुद्धने भी अपने ढंगसे उस दिशामे महान् कार्य किया । गांधीजी यद्यपि उस युगके नहीं हैं तथापि उन्होंने अपने जीवनकालमें जिन मिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया वे उसी युगकी एक अटूट कड़ी हैं । मानवकी पावनताके साथ-साथ गांधीजीने राजनीतिमें भी धर्म-नीतिका प्रवेश करानेका जो भगीरथ प्रयत्न किया, वह उनकी भारतको ही नहीं, समूचे विश्वको एक महान् देन है । इसमें वह महावीरसे भी एक कदम आगे बढ़ गये दिखाई देते हैं । उनकी सप्त महाव्रतोंकी व्याख्या भी गज्वकी चीज है ।

निश्चय ही यह हम सबका परम सौभाग्य है कि इस घरा पर महावीरका अवतरण हुआ । महापुरुष सहस्रो वर्षोंमें एक बार पैदा होते हैं, लेकिन जब पैदा होते हैं तो ससारको धन्य कर जाते हैं । भगवान् महावीर ऐसे ही महापुरुष थे । अपनी कठोर तपश्चर्या और महान् व्यक्तित्वसे उन्होंने विश्वके समक्ष एक ऐसा कल्याणकारी मार्ग

[त]

प्रशस्त कर दिया, जिस पर चलकर प्रत्येक व्यक्ति अपना हित कर सकता है। वह किसी एक समाज या दलके नहीं, ये, इसलिये सारी दुनिया उनकी और वे सबके ये। जीवनके जिन सनातन सत्यों का उन्होंने निरूपण किया, वे मानवताके लिए सदा दीप-स्तंभका काम करेंगे।

बाज भगवान महावीरके सिद्धान्तोंके मूल तत्त्वोंको बहुत कुछ भ्रमोंमें भुला दिया गया है। इतना ही नहीं, आजका युग उन सिद्धांतोंको नारी चुनौती दे रहा है। लगता है, जैसे आजकी भौतिकता, मानवता और आध्यात्मिकताको लौल जायगी। ऐसी अवस्थामें भगवान महावीरके सिद्धान्तोंको निःस्वार्थ भावसे जनसाधारणमें प्रसारित करनेकी दृष्टिसे उठाया गया यह कदम न केवल सामयिक है, अपितु स्तुत्य भी। लेखक इसके लिए हम सबकी बधाईके पात्र है। इसके विवरणोंमें थोड़े मतभेदकी गुंजाइश हो सकती है; लेकिन फिर भी इस पुस्तकका प्रकाशन एक सराहनीय प्रयत्न है। आजकी सबसे बड़ी आवश्यकता लोगोंमें विचार-क्रान्ति उत्पन्न करनेकी है। उन्हें बताना है कि जीवनके सही मूल्य क्या हैं और किन तत्त्वों पर चल कर जीवन सार्थक और कृतार्थ बन सकता है। इसके लिए बिना किसी भेद-भाव के उन महापुरुषोंके सिद्धान्तों और विचारोंका सीधो-सादी भाषानें व्यापक प्रसार करना अपेक्षित है, जिन्होंने 'प्रेय' से अधिक 'श्रेय' पर जोर दिया और जिन्होंने अपने आचरणसे सिद्ध कर दिया कि आत्मिक दलका मुकाबिला संसारकी कोई भी शक्ति नहीं कर सकती। ऐसे महापुरुष हमें ही जीवित रहेंगे और उनके महान् वचन मूली-मटकी मानव-जातिका मार्ग-दर्शन करेंगे। इन वचनोंको समझनेके साथ-साथ मुख्य बात निष्ठा-पूर्वक उनके अनुसार आचरण करनेकी है। बाणीके

[थ]

पीछे यदि कर्मका बल न हो तो वह विशेष लाभदायक नहीं होती ।
जीवन पूर्ण तभी बनता है जब मनःप्यकी कथनी और करनीमें साम-
जस्य स्थापित हो जाता है । एक महान्पुरुषके कथनानुसार यदि विचारो
के अनुरूप कार्य न हो तो वह गर्भपात करनेके समान है ।

हम चाहते हैं कि पाठक इस पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़ें, इसके
विचारोका मनन करें और तदनुसार अपना जीवन ढालनेका प्रयत्न
करें । कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जो इसमें जितना गहरा जायगा,
उतने ही मूल्यवान् रत्न उसके हाथ पडेंगे ।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तकका सर्वत्र स्वागत होगा और सर्व-
साधारण, विशेषकर आत्माथियोंको इससे बड़ा लाभ पहुँचेगा ।

अ८. दरियागंज, दिल्ली ।

—यशपाल जैन

१२ फरवरी १९५३

विषय-सूची

प्रस्तावना	१
भूमिका	क
१—जीवन चरित	पृष्ठ १-१८
२—प्रवचन	पृष्ठ १९-४६८

संकेत-सूत्री

भा०	=	भाचाराग सूत्र
उ०	=	उत्तराध्ययन सूत्र
उत्त०	=	उत्तराध्ययन सूत्र
उव०	=	उववाइय (श्रीपपातिक) सूत्र
द०	=	दसर्वकालिक सूत्र
द० चू०	=	दसर्वकालिक चूलिका
द० श्रु०	=	दसाश्रुत-स्कध सूत्र
प्रश्न०	=	प्रश्नव्याकरण सूत्र
सू०	=	सूत्रकृतांग सूत्र
ज्ञा०	=	ज्ञाताधर्मकथा सूत्र

.

.

2

1

१ : जीवन-चरित

- १—गृहस्थ-जीवन : पृष्ठ १—२६
(१) जन्म-काल पृष्ठ १—(२) जन्मभूमि पृ० ५—(३)
माता-पिता पृ० ११—(४) जन्म-नाम पृ० १३—(५)
गोत्र, जाति और वंश-परिचय पृ० १४—(६) यौवन और
विवाह पृ० १८—(७) वंराग्य और प्रव्रज्या पृ० २०—(८)
अभिनिष्क्रमण पृ० २३—(९) अभिग्रह पृष्ठ २६
- २—साधक-जीवन : पृ० २७—४२
(१) १२ वर्षका तपस्वी-जीवन पृष्ठ २९—(२) बद्धमानसे
महावीर पृ० ३७—(३) साधनाकालके अनुभव और अतिम
सिद्धि पृ० ३९—(४) केवलज्ञान-केवलदर्शन पृ० ४१
- ३—तीर्थङ्कर-जीवन : पृ० ४३—८८
(१) गणघरवाद पृष्ठ ४५—(२) प्रथम घर्मोपदेश पृ० ५०
(३) संघ स्थापना पृ० ५१—(४) अनुशासन और व्यवस्था
पृ० ५२—(५) पार्श्वनाथके श्रमण और एकीकरण पृ० ७०
(६) सघका विस्तार पृ० ७६—(७) प्रथम सघ-विच्छेदक
जमालि पृ० ७६—(८) प्रतिस्पर्द्धी गोशालक पृ० ८०
- ४—परिनिर्वाण : पृ० ८६—१८
(१) भगवानका जीवन-काल पृष्ठ ९१—(२) निर्वाणभूमि
और निर्वाण पृ० ९३ (३)—गोतमको केवल ज्ञान पृ० ९४—
(४) श्रद्धाञ्जलियां पृ० ९७

२ : प्रवचन

१—शिक्षापद् :	पृष्ठ १९—२५७
१—समय गोयम । भा पमायए	१०१
२—दुलंभ सद्योग	१०५
३—आत्म-जय; परम जय	१०८
४—रहस्य-भेद	११२
५—अठारह पाप	११७
६—कामी पुरुषसे	१२१
७—परम्परा	१२४
८—ज्ञान और क्रिया	१२६
९—सच्चा सन्नाम	१२८
१०—यज्ञ	१२९
११—तीर्थ-स्नान	१३०
१२—विषय गृद्धि और विनाश	१३१
१३—नृष्णा और दु ख	१३६
१४—त्रीतराग कौन ?	१३८
१५—विषय और विकार	१४०
१६—बाल वीर्य: पण्डित वीर्य	१४३
१७—बाल मरण: पण्डित मरण	१४८
१८—दृष्टान्त	१५३
१९—सम्यक्त्व पराक्रम	१६२
२०—विकीर्ण सुभाषित	१७४

२१—भावना	पृष्ठ—१८४
२२—प्रात्मा	२१७
२३—अहिंसा	२१९
२४—बोलीका विवेक	२३०
२५—अस्तेय	२३४
२६—ब्रह्मचर्य	२३६
२७—अपरिग्रह	२५३
२—निर्ग्रन्थ पद :	पृ० २५६—२८०
१—वैराग्य और प्रव्रज्या	२६१
२— छः महाव्रत	२६८
३—आठ प्रवचन माताए	२७४
४—अक्षण्ड नियम	२८२
५—अनगार	२९३
६—विनय-समाधि	२९५
७—भिक्षा और भोजनके नियम ,	३०३
८—गली गर्दभ	३१७
९—समभाव	३२०
१०—मुनि और परिषद्	३२२
११—स्नेह-पाश	३२८
१२—स भिक्षुः स पूज्यः	३३२
१३—मार्ग	३३६
१४—निस्पृहता	३४०
१५—अनुस्रोत	३४३
१६—अप्रमाद	३४६

१७—मुनि और चित्त-समाधि	३४८
१८—निग्रन्थ	३५१
१९—कौन ससार-भ्रमण नहीं करता ?	३५३
२०—विनयी बनाम अविनयी	३५५
२१—साधु-धर्म	३५७
२२—समाधि	३६०
२३—निर्वाण-मार्ग	३६३
२४—जीवन-सूत्र	३६६
२५—ब्रह्मचर्य और मुनि	३७३
२६—अपरिग्रह और मुनि	३७७
२७—महा शील	३८०
२८—तिनिका	३८३
३—दर्शन-पद :	३६१—४३८
१—सम्यक्त्व-सार	३९३
२—लोक और द्रव्य	३९६
३—अजीव	३९८
४—सिद्ध जीव	४०१
५—ससारी जीव	४०४
६—कर्मवाद	४१०
७—मोक्ष-मार्ग	४१७
८—सिद्धि क्रम	४२२
९—अज्ञान क्षय-क्रम	४२६
१०—सिद्ध और जनके सुख	४३०
११—दुर्लभ सुलभ	४३३
१२—दिरमूढ	४३५

१—क्रांति-पद

पृष्ठ ४३६-४७०

१—मनाथ	४४१
२—ब्राह्मण कोन ?	४४४
३—कुशील	४४८
४—वस्य और मार्ग	४५०
५—पापौ श्रमण	४५१
६—परमार्थ	४५३
७—मद	४५५
८—सच्चा तप	४५९
९—पात्र कोन ?	४६२
१०—बाह्य शुद्धि	४६३
११—तुप	४६८

तीर्थंकर ऋद्धमान्

भाग १

जीवन-चरित

1

.

-

१ : जन्मकाल

अनन्त काल-प्रवाह बीत चुका । न उसके सिरेका पता है और न उसके छोरका । वह बहता ही चला जा रहा है और बहता ही रहेगा । इस अनन्त काल-प्रवाहके वर्तमान कालचक्रमें ही तीर्थकर वर्तमानका जन्म हुआ था ।

एक घड़ीकी ओर आख उठाकर देखिये—एक कालचक्र क्या है, यह सहज ही समझ सकेंगे । घड़ीको उलटाकर देखिये, उसके १२ का अङ्क नीचेकी ओर और ६ का अङ्क ऊपरकी ओर रखिये । १२ के अङ्कसे लेकर ६ के अङ्क तक घड़ीका आधा चक्र होगा और ६ के अङ्कमे १२ के अङ्क तक बाकी आधा चक्र । दोनों मिलाकर घड़ीका एक पूरा चक्र होगा । इसी तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—ऐसे दो—कालभाग मिलकर एक कालचक्र पूरा करते हैं ।

उलटाई हुई घड़ीकी कोई भी सुई १२ के अङ्कसे क्रमशः ऊर्ध्वगति करती हुई—ऊपरकी ओर चढ़ती हुई—६ के अङ्कपर सीधी ऊर्ध्व हो जायगी और ६ के अङ्कसे पुनः नीचेकी ओर उतरती हुई क्रमशः १२ के अङ्कपर पहुँचकर सीधी अधोमुखी हो जायगी । ठीक उसी तरह

कालचक्रका उत्सर्पिणी भाग^१ उत्तरोत्तर उत्थान और अवसर्पिणी भाग^२ क्रमशः अवनतिका समय होता है तथा उत्क्रान्ति करता कालचक्रका बाधा उत्सर्पिणी भाग जहा शेष होता है, वहीसे अघोगति करता कालचक्रका दूसरा अवसर्पिणी भाग आरम्भ हो जाता है ।

जिस तरह १२ के अङ्कसे ६ के अङ्क तक घड़ीके चक्रके ६ विभाग होते हैं और फिर ६ के अङ्कसे १२ के अङ्क तक ६ विभाग, उसी तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—प्रत्येक—कालभागके भी ६ विभाग होते हैं, जिन्हें जैन परिभाषामें 'आरा' कहा जाता है । अन्तर केवल इतना ही है कि घड़ीके चक्रके बारह ही भाग बराबर होते हैं, जबकि कालभागोंमेंसे प्रत्येकके केवल दो ही 'आरे' समान अवधिके होते हैं और परस्पर एक दूसरेके समान नामवाले आरे ही बराबर होते हैं ।

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—दोनों—कालभागोंके आरोंके नाम इस प्रकार हैं—(१) दुपमा-दुपमा, (२) दुपमा, (३) दुपमा-सुपमा, (४) नुपमा-दुपमा, (५) सुपमा और (६) मुपम-नुपमा । उत्सर्पिणी

१—पूछकी ओरमें मुंहकी ओर जिस तरह सर्पकी मोटाई उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है, उसी तरह जीवोंके सहनन, सस्थान, आयु, अवगाहना, उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम, पुद्गलोंके रूप, रस, स्पर्श, गन्ध तथा अन्य भाव एव विषयोंमें, जो क्रमशः उन्नति और वृद्धिका काल हो, वह उत्सर्पिणी कालभाग ।

२—मुंहकी ओरमें पूछकी ओर जिन तरह सर्पकी मोटाई क्रमशः ह्लामको प्राप्त होती जाती है, उसी तरह टिप्पणी न० १ में उक्त विषयोंमें जो क्रमशः अवनति—ह्लाम—का समय हो, वह अवसर्पिणी कालभाग ।

कालभागके ६ आरोंका क्रम उपर्युक्त रूपसे ही है, परन्तु अवसर्पिणीके आरोंका क्रम ठीक उलटा है अर्थात् उसका पहला आरा सुपमा-सुपमा और इसी तरह अन्तिम आरा दुपमा-दुपमा होता है। उत्सर्पिणीका सुपमा-सुपमा नामवाला आरा अवसर्पिणीके सुपमा-सुपमा आरेके बराबर होता है और इसी तरह समान नामवाले अन्य आरे भी। उत्सर्पिणी कालमें उत्तरोत्तर वृद्धि होते हुए सुपमा-सुपमा आरेमें उच्चतम अवस्था आ जाती है और अवसर्पिणी कालमें क्रमशः ह्रास होते हुए दुपमा-दुपमा आरेमें हीनतम अवस्था आ जाती है।

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके दाने ऐसे अनन्तकाल चक्र^१ वीत चुके थे। वर्तमान कालचक्रका उत्सर्पिणी भाग वीत चूका था और अवसर्पिणी

१—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—दोनों—कालभाग बराबर अवधिके होते हैं। अवसर्पिणी भागकी माप इस प्रकार है

पहला आरा :	४ × (१ करोड़ × १ करोड़)	सागर वर्ष
दूसरा आरा :	३ × (१ करोड़ × १ करोड़)	"
तीसरा आरा :	२ × (१ करोड़ × १ करोड़)	"
चौथा आरा :	१ × (१ करोड़ × १ करोड़)	" कम ४०००० वर्ष
पाचवा आरा :	२१०००	वर्ष
छठा आरा :	२१०००	वर्ष

१० × (१ करोड़ × १ करोड़) सागर वर्ष

उपर्युक्त हिसाबसे एक कालचक्र $२ \times १० \times (१ \text{ करोड़} \times १ \text{ करोड़})$ सागर वर्ष अर्थात् २० ओडाओड़ी सागर वर्षका होता है।

सागर वर्ष किसे कहते हैं, यह गणनासे नहीं बताया जा सकता। वह उपमासे ही समझा जा सकता है। इसलिए इसे औपमिक काल

भागके भी प्रथम तीन आरे वीत चुके थे । चौथे आरे—दुपमा-सुपमा—का भी अधिकांश भाग वीत चुका था और उसके अवशेष होनेमें केवल ७४ वर्ष ११ महीने ७। दिन बाकी थे^१ । वर्द्धमानका जन्म इसी समय हुआ । इसका अर्थ यह हुआ कि तीर्थंकर वर्द्धमानका जन्म हुआ उस समय प्रकर्षभावो—शुभभावो—के पतनकी हीनतम अवस्था नहीं पहुँची थी । दुपमा-सुपमाके बाद दुपम और दुपम-दुपम समय आता है और ये कालांश ही ह्यामकी उत्तरोत्तर चरम सीमाएं मानी गई हैं । महावीरका जन्म इन कालांशोंके पूर्व हुआ था ।

कहा जाता है । इसे मूत्रमें पत्य (कूएं) और केशाश्रका उदाहरण देकर समझाया गया है ।

एक योजन आयाम और विष्कभक, एक योजन ऊचाई और तीन योजन परिधिवाले एक पत्य—कूएकी कल्पना कीजिये । उसे उत्कृष्ट भोगभूमिमें उत्पन्न १ से ७ दिनके जन्मे हुए बालकके केशोंके कोमल-कोमल अग्रभागोंमें ठसाठस भर दीजिये । सौ-सौ वर्ष बाद उसमेंमें केशका एक-एक अग्र भाग निकालिए । इस तरह निबालते-निबालते इस कूएको सम्पूर्ण खाली करनेमें जितने वर्ष लगेगे, उस अवधिको पत्योपम कहा जाता है । ऐसे कोटाकोटी पत्योपमको १० गुण करनेमें एक सागरोपम होता है—भगवती मूत्र (अमोलक ऋषि) ३० ६ ३० ७ . ४, ५ । योजनकी परिभाषा और विस्तारके लिए भी वही देखिये ।

१—आचारांग मूत्र (रवजी भाईवाली आवृत्ति)—श्रु० २ अ० २४ :

१९१, १९५,

कल्पमूत्र (अमूनलाल अमरचन्दवाली आवृत्ति)—२, १६,

आजके शब्दोंमें कहे, तो तीर्थङ्कर वर्द्धमानका जन्म ईस्वी सन्से ५९९ वर्ष पूर्व हुआ था^१। ग्रीष्म ऋतु थी। चैत्रका महीना था। शुक्ल त्रयोदशीका दिन था। मध्य-रात्रिकी वेला थी। हस्तुत्तरा— उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रका योग था। ऐसे ही समय त्रिशला क्षत्रियाणीने वर्द्धमानको क्षेम-कुशलपूर्वक जन्म दिया^१।

२ : जन्मभूमि :

उस समय ब्राह्मणकुण्डग्राम (पुर) और क्षत्रियकुण्डग्राम (पुर)— ऐसे नगर होनेके उल्लेख जैनागमोंमें हैं। कहीं-कहीं इन्हें नगर न कह सन्निवेश भी कहा गया है^१। पाश्चात्य विद्वानोंका मत है कि कुण्डग्राम

१—“जैनोके अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामीके निर्वाणसे जो सवत् माना जाता है, उसको वीर-निर्वाण सवत् कहते हैं। X X वास्तवमें विक्रम सं० से ५७० वर्ष पूर्व, शक सवत्से ६०५ वर्ष पूर्व और ईस्वी सन्से ५२७ वर्ष पूर्व भगवान् महावीरके निर्वाण-सवत्का प्रारम्भ मानना युक्ति-सगत है, जैसा कि प्राचीन जैन-आचार्योंने माना है।”—महामहोपाध्याय, रायवहादुर गौरीशकर हीराचन्द ओभा, (अजमेर)—श्री जैन सत्यप्रकाश, वर्ष २, अंक ४-५, पृ० २२७-२८।

महावीर ७२ वर्ष जिए। इस तरह उनका जन्म ई० सन्से ५९९ वर्ष पूर्व ठहरता है।

२—आचारांग सूत्र (रवजी भाईवाली आवृत्ति) श्रु० २, अ० २४.९९५ कल्पसूत्र : ९६;

३—भगवती सूत्र : (अमोलक ऋषिवाली आवृत्ति) श० ९ उ० ३३ १, २१ (देवानन्दा और जमालि-प्रकरण);

आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ ९९१, ९९३;

कल्पसूत्र : २, १५, २०, २१, २४, २६, २८, ३०, ६७, १००;

एक ही नगर था, जिसके दो विभाग थे। जिस विभागमें प्रधानत ब्राह्मणोंकी वसति थी, उसे ब्राह्मणकुण्डग्राम और जिसमें प्रबान्त क्षत्रियोंकी वसति थी, उसे क्षत्रियकुण्डग्राम कहा जाता था^१। पर आगमोंमें जो वर्णन मिलता है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनो नगर भिन्न-भिन्न थे। ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि क्षत्रियकुण्डग्राम ब्राह्मणकुण्डग्राम नगरके पश्चिमकी ओर था^२। ब्राह्मणकुण्डग्राम नगरके बाहर बहुशालक नामक चंत्य होनेका वर्णन है^३ और क्षत्रियकुण्डग्राम नगरके बाहर 'णायसड'—ज्ञातृखड नामक उद्यान या वन^४ होनेका। इससे भी दोनोंके अलग-अलग होनेका संकेत मिलता है। क्षत्रियकुण्डग्रामसे निकलकर जिस तरह ब्राह्मणकुण्डग्राममें जानेका वर्णन मिलता है^५, उससे अनुमान होता है कि दोनो नगरोंके बीच काफी दूरी होनी चाहिए। दोनो नगरोंके बाहर अलग-अलग उद्यानका होना उनके अलग-अलग अस्तित्वको ही सिद्ध नहीं करता, पर उनकी विशालता पर भी प्रकाश डालता है। क्षत्रियकुण्डग्राम नगरसे एक साथ ५०० क्षत्रियोंके प्रव्रजित

१—Uvasagadasao (Hoernle)—Lecture 1. §§ 3.

Note 8 Page 3 to 6

२—भगवती सूत्र . श० ९ उ० ३३.२१

३—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३.१, २२, २३, (देवानन्दा और जमालि-प्रकरण)

४—आचाराग सूत्र : श्रु० २ अ० २४—१०१७;

कल्पसूत्र : ११५;

आव्ययक निर्युक्ति : गा० २३१;

५—भगवती सूत्र श० ९ उ० ३३:२१, २२, २५ (जमालि प्रकरण)

होनेका उल्लेख मिलता है, जो उत्तकी विशाल जनमंन्याका पर्याप्त सूचक है। उपर्युक्त प्रव्रज्याके अवसरपर क्षत्रियकुण्डग्रामको बाहर भीतरसे सजानेकी बात आई है। नगरमें शृंगाटक, शिक, चौक आदि रास्ते थे। इन सब परसे—क्षत्रियकुण्डग्राम एक विशाल नगर था, यह कहा जा सकता है और ब्राह्मणकुण्डग्राम भी उतना ही बड़ा रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं। ये दोनों नगर जम्बूद्वीपके भारतवर्षके दक्षिणाद्रं भारतमें अवस्थित कहे गये हैं। तीर्थङ्कर वर्द्धमान ब्राह्मणकुण्डग्राम नगरके दक्षिण भागमें माताके गर्भमें आए और क्षत्रियकुण्डग्राम नगरके उत्तर भागमें उनका जन्म हुआ था।

कुण्डग्राम नगरोके आसपासके स्थानोंमें वाण्यग्राम नगर, वैशाली नगरी, कोल्लागमन्निवेश और कर्मारि गावोंके नाम उल्लेखनीय हैं। चौथी पीरूपीमें प्रव्रजित हा अपनी जन्मभूमिसे विहार कर वर्द्धमान उसी दिन मूर्च्छा रहते कर्मारि गाव पहुँचे थे। इससे कर्मारि और क्षत्रियकुण्डग्राम नगरका समीप होना सिद्ध होता है। कर्मारि गावसे सूर्योदयके बाद रवाना होकर उसी सुबह कोल्लागसन्निवेशमें भगवान्ने पारणा किया। इससे क्षत्रियकुण्डग्राम नगर और कोल्लागसन्निवेशकी

१—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३:७३ (जमालिप्रकरण)

२—भगवती सूत्र . श० ९ उ० ३३.४१

३—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३ २२; कल्पसूत्र. १००;

४—आचाराग सूत्र . श्रु० २ अ० २४:९९१;

कल्पसूत्र २, १५; २०, २४, २८,

५—आचाराग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ ६९१, ९९३

६—आचाराग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ १०१७, १०२१

७—आवश्यक निर्युक्ति : गा० ३१९, ३२५,

सन्निकटता सिद्ध होती है। एक बार गीतम वाणिज्यग्राम नगरके बाहर उत्तर-पूर्व आए हुए दूधपलासय^१ चैत्यसे निकल वाणिज्यग्राम नगरमें भिक्षाके लिए आए। वापिस जाते समय वाणिज्यग्राम नगरसे निकल कोल्लागसनिवेश होकर लौट^१। कोल्लागसनिवेश वाणिज्यग्राम नगरके बाहर उत्तर-पूर्व दिशाकी ओर अवस्थित था^१। इस तरह प्रमाणित होता है कि क्षत्रियकुडपुर और वाणिज्यग्राम—ये दोनो—नगर सन्निकट थे। वाणिज्यग्राम और वैशालीके बीच जलातर था—गडकी नदी पडती थी^१। इस तरह वैशाली नगर भी सन्निकट ही था।

तीर्थंकर वर्द्धमानको जैनागमोमें 'वेसालिए'—'वैशालिक' भी कहा गया है^१। इसपरसे अनुमान लगाया गया है कि उनकी जन्मभूमि वैशाली ही थी^१। कहा गया है कि "कुडग्राम और वाणिज्यग्राम वैशालीकी ही

१—विपाक सूत्र . अ० २:३

उपासकदशा सूत्र (अमोलक ऋषिवाली आवृत्ति) . अ० १ ३;

२—उपासकदशा सूत्र अ० १.७८-८०

३—उपासकदशा सूत्र : अ० १ ७

४—विशेषावश्यक निर्युक्ति : गा० ४२९

त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व १० सर्ग ४ श्लोक १३९

५—सूत्रकृताग सूत्र . श्रु० १ अ० २ उ० ३ २२

उत्तराध्ययन सूत्र . अ० ६ १७

भगवती सूत्र . श० २ उ० १ ८, श० १२ उ० २ : १, यथा .

“पिगलेए णाम नियठे वेसालिअसावए परिवसइ”

६—(१) सूत्रकृताग . श्रु० १ अ० २ उ० ३ : २२ पर शीलाका चार्यकी टीका ।

अन्तर्भूत वस्तिया या स्थान थे और इच्छानुसार वैशालीको ही कुडग्राम या वाणिज्यग्राम कहा जाता रहा। कुडग्राम और वाणिज्यग्राम वैशालीके ही दूसरे नाम थे। वैशालीमें तीन जिले (Districts) थे। वैशाली, कुडपुर और वाणिज्यग्राम ही ये तीन जिले बताये जा सकते हैं। कुडपुरके उत्तर-पूर्वमें कोल्लागसन्निवेश था। कोल्लागसन्निवेशसे सलग्न, पर उसके बाहर, ज्ञातक्षत्रियोका दूइपलाश नामक धार्मिक प्रतिष्ठान—चंद्र्य—था। इसे उद्यान भी कहा गया है। यह ज्ञातक्षत्रियोका उद्यान था और इसीसे इसे नायसड वन-उद्यान या नायमड उद्यान कहा गया है^१। कोल्लागसन्निवेशमें ज्ञातक्षत्रियोकी पोषधशाला होनेका उल्लेख मिलता है—‘कोल्लागसन्निवेशे नायकुलसि पोसहसाला’ (उवासगदसा—अ० १ : ६७) और चूकि वर्द्धमान ज्ञातृवशी क्षत्रिय ही थे—कोल्लागसन्निवेशमें ही वर्द्धमानका जन्म हुआ था^२।”

हमने कतिपय प्रमाणोंके आधारपर यह दिखाया ही है कि वाणिज्यग्राम और दोनों कुडपुर समीप होते हुए भी स्वतन्त्र नगर थे। इन नगरोंके अस्तित्वके विषयमें असदिग्ध उल्लेख है। ‘होत्था’—था—शब्द के प्रयोग द्वारा उनके अस्तित्वको कायम किया गया है। एक स्थान

१—(१) Uvasagadasao (Hoernle) L. I. §§ 3 Page F N. 8

(२) The Sacred Books of the East Vol 22 (Gana Sutras, Part I.) Introduction by Hermann Jacobi pp x-xvii

(३) Archaeological Survey of India (Annual Report 1903—04) by J. H. Marshall, pp. 87—88.

२—Uvasagadasao (Hoernle) L. I. §§ 3 F. N 8

यह सब शक्य है कि साहित्यशास्त्र में संश्लेषक जो हूए चरित्रमानकी कल्पना
 करी पर चरित्रकी घड़ी थी । साहित्यशास्त्र और संश्लेषक एक साथ
 एक प्रत्यक्ष नाम वाता और वाताय वाय उतर नहीं रहा होगा इस
 बात का प्रमाण है कि दोहा युद्ध उतरा अथवा ५ । योद्धु मांति मम संश्लेष
 या उद्धु मांति मित्रा है, पर कही भी नहीं । मन्त्र पर नहीं विचार
 कि संश्लेषक और नाम साहित्यशास्त्र में पूरापर थे । इस मन्त्र
 स्पष्ट है कि साहित्यशास्त्र, संश्लेषक और साहित्यशास्त्र नाम जिनके अन्त-
 र्गत मन्त्र है । साहित्यशास्त्रमंत्रा स्पष्ट संश्लेषक और हूए कोलाग
 साहित्यशास्त्र चरित्रमानकी अन्तर्गत नामों भी अन्तर्गत है । उदाहरण
 आचार्यकी घोषणाया जाने । संश्लेषक पर मन्त्र पर विचारका नि-
 राधे चरित्रमानकी अन्तर्गत भी, संश्लेषक नहीं ।

संश्लेषक चरित्रमानकी अन्तर्गत नामों का प्रमाण हूए वाताय राक्षस नाम
 जो अन्तर्गत साहित्यशास्त्रमंत्रा उतरा नाम था । कोलागमन्त्रा
 न मन्त्रा नहीं थी और न संश्लेषक ही अन्तर्गत थी । संश्लेषक अन्त-
 र्गतके नाम ही एक वटा मन्त्र था और कोलाग एक छोटी वस्ती ।
 तादात्मिक स्पष्ट रूपसे पहना अभी कटिन्त है, किन्तु भी पूर्वपर वर्णन
 (उपाधकदशा नून—१२, १७, १८, १९७; १७०;)
 ने अनुमान होता है कि कोलागमन्त्राके जो घोषणाया थी, वह
 सानन्द श्रावणके जातियो—मन्त्रमन्त्रियोकी थी, न कि चरित्रमानके परिवार
 के आन्तर्गतियोकी । यह भी दिखाया जा चुका है कि हूएपलास्य
 चरित्र और नायगड उद्यानकी निगमि अलग-अलग स्थानोंपर थी और वे
 फलमन्त्र वाणिज्यग्राम और कृष्णपुरग्रामके बाहर स्थित उद्यान थे ।
 एंगी हूएतमें दोनोंका एक मान लेना निराधार कल्पनामात्र है ।

कल्प सूत्रमें वर्द्धमानके पिताको राजा, उनके घरको राज-भवन, उनके कुलको राजकुल कहा गया है^१। इससे कुण्डग्रामका राजा सिद्धार्थ था, ऐसा अनुमान सम्भव है। वाणिज्य ग्रामका राजा जित-शत्रु या मित्र था और वंशाली राजा चेटकके अधीन थी^२। इससे भी इनकी स्वतन्त्रता सिद्ध है।

३ : माता-पिता

तीर्थङ्कर वर्द्धमानके पिताका नाम प्रायः सिद्धार्थ क्षत्रिय और माता का नाम प्रायः त्रिशला क्षत्रियाणी उल्लिखित है^३। एक बार ब्राह्मण कुण्डग्राम नगरके निवासी ब्राह्मण ऋषभदत्त और उनकी भार्या देवानन्दा तीर्थङ्कर महावीरके दर्शनके लिए गयी थी। वर्द्धमानको देखते ही देवानन्दाका शरीर रोमाञ्चित हो उठा। स्तनसे दूधकी धारा छूट पड़ी। यह देखकर गौतमने पूछा—'भदन्त ! देवानन्दाके रोमाञ्च क्यों हुआ—उसके स्तनसे दूधकी धारा क्यों बह निकली ? महावीरने जवाब दिया—'देवानन्द मेरी माता है और मैं उसका जात्मज हूँ। पूर्व पुत्र-स्नेहानुरागसे यह सब हुआ है^४।' इस प्रसंगसे सवर्षिदत्त धारणासे

१—कल्पसूत्र : ४६, ५०, ५५, ५६, ६३, ६७, ६८, ७२, ८१, ८७,

८८, ९२, ९८, १०२, १०३

२—उपासक दशा अ० १ : ३ ; विपाक सूत्र (चौकसी मोदीवाली आवृत्ति) २ . ८ निरियावल्लियाओ सूत्र

(जैन-धर्म प्रसारक सभा, भावनगर) वर्ग १ : पृ० ३६, ३७, ३९, ४०, ४२, ४५

३—आचाराग सूत्र श्रु० २ अ० २४ : ९९५, १००३

आवश्यक निर्युक्ति : गा० ३८६, ३८९

४—भगवती सूत्र : श्रु० ९ उ० ३३ : १०—१४

भिन्न यह निष्कर्ष निकलता है कि तीर्थङ्कर वर्द्धमानकी माता ब्राह्मणी देवानन्दा और पिता ब्राह्मण ऋषभदत्त थे और यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि जब देवानन्दा ब्राह्मणी और ऋषभदत्त ब्राह्मण ही वास्तव में माता-पिता थे, तब त्रिशला क्षत्रियाणीकी माता और सिद्धार्थ क्षत्रिय को पिता कैसे बतलाया गया ।

इसका प्राचीनतम स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि वास्तवमें तीर्थकर महावीर ब्राह्मणी देवानन्दके ही गर्भमें उत्पन्न हुए थे और ८२ दिन तक उसीके गर्भमें रहे, पर ८३ वे दिन अनुकम्पाशील देवने जीताचार (तीर्थकर ब्राह्मण-कुलमें जन्म नहीं लेता) की ओर ध्यान दे देवानन्दा और त्रिशला क्षत्रियाणीके गर्भका परस्पर परिवर्तन कर दिया^१ । इस तरह गर्भ सहरणके कारण महावीरका जन्म त्रिशला क्षत्रियाणीकी कोखसे हुआ और त्रिशला सिद्धार्थ माता-पिताके रूपमें जगविदित हुए । ऋषभदत्त ब्राह्मण कुण्डग्राम नगरके निवासी थे और सिद्धार्थ क्षत्रिय क्षत्रियकुण्डग्राम नगरके । अतः ब्राह्मण कुण्डग्राम नगर वर्द्धमानकी अवतार भूमि और क्षत्रियकुण्डग्राम नगर उनकी जन्मभूमि हुई । इस गर्भ-सहरण की घटनाके स्पष्टीकरणके लिए प्राचीन-आधुनिक अनेक विद्वानोंने अनेक कल्पनाएँ रखी हैं^२ और हम नहीं चाहते कि किसी नई कल्पनाको उप-

१—आचाराग सूत्र श्रु० २ अ० २४ . ९९३

२—(१) कल्पसूत्र : १६—३० ;

(२) आवश्यक सूत्र (आगमोदय समिति)—श्रीमन्मलयगिर्याचार्य
कृत विवरण—पृ० २५३—४,

(३) रेवेरेन्ड जे० स्टिवेनसन : Kalpa Sutra (English
Translation) p. 37

स्थित कर उनमें वृद्धि करे। हम केवल इतना ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आगममें गर्भ-सहरणकी क्रिया सम्भव बतायी गई है। हाथके सहारेसे गर्भको योनिद्वारसे बाहर निकाल अन्य गर्भमें सहरण किया जाता था। शक्रदूत हरिनैगमेपी गर्भ-सहरण-क्रियामें सिद्धहस्त बताया गया है^१ और यह क्रिया महज डाक्टरकी क्रियाके ढगकी दृष्टि-गोचर होती है।

४ : जन्म-नाम

तीर्थङ्कर वर्द्धमानका वर्द्धमान नाम ही जन्म-नाम है। जबसे बालक क्षत्रियाणी त्रिशलाकी कोखमें आया, तबसे सिद्धार्थ क्षत्रियके कुलमें धन-धान्य, सोने-चांदी, मणि-मुक्ता आदिकी विपुलता—अति वृद्धि—होने लगी। इसलिए माता-पिताने गुणानुसार पुत्रका नाम

(४) डॉ० जेकोवी • The Sacred Books of The East
Vol. XXII. Part 1. Introduction P. XXXI
F. N 2

(५) प० वेचरदासजी—भगवती सूत्र : (जिनागम प्रकाशक सभा
वाली आवृत्ति) द्वितीय खण्ड पृ० १७५ नोट १

(६) पं० सुखलालजी—धर्मवीर महावीर और कर्मवीर कृष्ण
ओसवाल नवयुवक वर्ष ७ सं० ७ पृ० ४३९-४०
भगवान महावीरका जीवन पृ० ३-८,

(७) प० दरवारीलालजी—जैन-धर्म-मीमांसा : भाग १, पृ०
९९-१०१;

१—भगवती सूत्र . श० ५ . उ० ४

वर्द्धमान रखा^१। भगवान्के इस नामका उल्लेख अनेक स्थलोपर है^२।

५ : गोत्र, जाति और वंश परिचय :

ऋषभदत्त कोडाल गोत्रीय ब्राह्मण थे। उनकी भार्या देवानन्दा जालधरायण गोत्रकी स्त्री^३। पुत्रका गोत्र पिताके अनुसार ही माना जाता था, अत मूल पिताकी अपेक्षासे वर्द्धमान कोडाल गोत्रीय ब्राह्मण थे।

सूत्रोमें वर्द्धमानको अनेक स्थलोपर काश्यप कहा गया है^४। इसका कारण यह है कि सिद्धार्थ क्षत्रिय काश्यप गोत्रीय थे^५। विशाला वाशिष्ठ

१—आचाराग सूत्र श्रु० २ अ० २४ ९९९, १००२,
कल्पसूत्र . ९०, १००, १०८,

२—सूत्रकृताग सूत्र . श्रु० १ अ० ६ : २२;
उत्तराध्ययन : सूत्र अ० २३ ५, १२, २३, २९;
आवश्यक निर्युक्ति . गा० २४०, २९९

३—आचाराग सूत्र श्रु० २ अ० २४ ९९१;

४—सूत्रकृताग . श्रु० १ अ० ६ . ७, श्रु० १ अ० १५ . २१

सूत्रकृताग : श्रु० १ अ० २ उ० २ : २५

भगवती सूत्र श्रु० १५ . ८७, ८६

दसवैकालिक सूत्र अ० ४—१, २, ३

उत्तराध्ययन सू० . अ० २ आरम्भ; अ० २ . १, ४६, अ० २९ . १,

सूत्रकृताग सूत्र :

श्रु० १ अ० ३ उ० २ . १४

श्रु० १ अ० ५ उ० १ : २

श्रु० १ अ० ११ : ५; ३२

५—आचाराग श्रु० २ अ० २४ : ९९३, १००३;

कल्पसूत्र : १०९

गोत्री थी^१। पुत्रका गोत्र पिताके गोत्रके अनुसार होना था। उमरगा
वे काश्यप (काश्यप गोत्रवाले) कहलाए^२।

जैनागमोमे वर्द्धमानका उल्लेख जगह जगह णाय, नाय, नायपुत्र,
नायसुत्त, णायपुत्त आदि सम्बोधनोसे किया गया है^३। बौद्ध पिटकोंमें^४

१—आचाराग सूत्र . श्रु० २ अ० २४ : १००४ :

कल्पसूत्र : १०९

२—कल्पसूत्र . १०८

३—आचाराग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १००७ ;

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३६ : २६७ ;

सूत्रकृताग सूत्र : श्रु० १ अ० १ उ० ५ : २७ ;

सूत्रकृताग सूत्र : श्रु० १ अ० २ उ० ३ : २२ ;

सूत्रकृताग सूत्र : श्रु० १ अ० ६ : १४, २१, २३ ,

सूत्रकृताग सूत्र . श्रु० १ अ० २ उ० २ : २६, ३१ ;

उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ६ : १७ ;

भगवती सूत्र : अ० १५ : ७९ ;

कल्पसूत्र : ११० ;

सूत्रकृताग : श्रु० १ अ० ६ : २ ;

आचाराग : श्रु० १ अ० ८ उ० ८ : ४४८ ;

आचाराग . श्रु० २ अ० २४ : १००७ ;

सूत्रकृताग : श्रु० १ अ० ६ : २४ ;

सूत्रकृताग : श्रु० २ अ० ६ . १९ ;

आचाराग : श्रु० १ अ० ९ : ४७१ ;

दशर्वकालिक सूत्र : अ० ५ उ० २ गाया ५१ ; अ० ६ : २१

४—मज्झिम निकाय (हिन्दी-अनुवाद) : उपालि-सुत्तन्त २२२ ; चूल-
सकुलुदायि-सुत्तन्त. पृ० ३१८ ; चूल-दुक्ख-क्खन्ध-सुत्तन्त पृ० ५९
चूल-सारोपम-सुत्तन्त : पृ० १२४ ; महासच्चक-सुत्तत—पृ० १४७ ;

भी भगवानका निगठ नात्पुत्त नामसे उल्लेख आया है। 'नाय' उस समय एक क्षत्रिय कुल था^१ और उसकी गणना उस समयके प्रसिद्ध क्षत्रिय कुलीन वंशों की जाती थी^२। वर्द्धमान इसी कुलके क्षत्रिय थे^३। इसी कारण उन्हें नाय, नायपुत्त आदि कहा जाता था।

तीर्थंकर वर्द्धमानकी माता क्षत्रियाणी त्रिशला वंशालीके राजा चेटककी बहिन थी^४। उसे विदेहदिन्ना—विदेहदत्ता भी कहा गया है^५, क्योंकि वंशाली विदेह जनपदमें अवस्थित थी^६ और उसकी राज-

अभयराजकुमार-सुत्तन्त पृ० २३४, देवदह-सुत्तन्त पृ० ४२८,
सामागान - सुत्तन्त पृ० ४४१

दीघनिकाय (सामञ्जफल सुत्त) १८, २१
(सगीति परियाय-सुत्त) २८२
(महापरिनिव्वाण-सुत्त) १४५
(पासादिक-सुत्त) २५२

सुत्तनिपात (सुभियसुत्त) १०८

विनयपिटक (महावग्ग) पृ० २४२

१—आचाराग श्रु० २ अ० २४—१००७

कल्पसूत्र—२१, २६, ८९, १०४, १०५, ११०

उत्रवाई (धनपतसिंह प्रकाशन) पृ० ७२

२—सूत्रकृताग श्रु० २ अ० १ १३, कल्पसूत्र २१

३—आचाराग श्रु० २ अ० २४ ९९३, कल्पसूत्र ३०,

४—आवश्यक चूर्णि (पूर्वं भाग) पत्र २४५ "भगवतो माया चेश्वरस्य भगिणी ।"

५—आचाराग श्रु २ अध्याय २४ . १००८, कल्पसूत्र १०९,

६—निरयावलियाओ (ए० एस० गोपानी और वी० जे० चौकी द्वारा सम्पादित) पृ० २६,

धानी भी थी^१। विदेहके राजवंशकी कन्याको विदेहदिन्ना या विदेह-दत्ता कहना परम्परागत परिपाटीके अनुसार ठीक ही था। नीताका नाम वंदेही इसी कारणने पडा था कि वह विदेह वंशी राजा जनककी पुत्री थी।

वर्द्धमानके अनेक नामोमे विदेह, वंदेहदत्त, विदेहजात्य, विदेह-सुकुमार आदिका भी उल्लेख है^२। वर्द्धमानके य नाम विदेह राजकुलके साथ उनकी माताके सम्यन्धके परिचायक है और विदेहवंशकी कुलकन्या वंदेही, विदेहदिन्ना, विदेहदत्ताके पुत्र होनेसे पडे, इसमे कोई सन्देह नहीं है। जिस तरह चेटककी कन्या चेलनाका पुत्र 'वंदेहीपुत्र'—विदेह-पुत्र—कहा गया है^३, उसी प्रकार चेटककी बहिनका पुत्र भी विदेहपुत्र आदि कहा गया है। भगवान्को "वंशालि" —वंशालिक भी कहा गया है^४। इसका कारण यह नहीं कि वंशाली उनकी जन्मभूमि थी अथवा कुण्डग्राम वंशालीका ही दूसरा नाम था। वर्द्धमानकी माता विशाला नगरीमे जन्मी थी। इसलिए उसका नाम विशाला हुआ। वंशालीकी राजकन्या 'विशाला'के पुत्र होनेसे ही वर्द्धमानका नाम वंशालिक पडा था। वर्द्धमानका ननिहाल वंशालीके अधिपति राजा

१—Gleanings of Early Buddhism p. 12

History of Tuhut p. 34

२—आचाराग : श्रु० २ अ० २४ : १००७; कल्पसूत्र : ११०

३—भगवती सूत्र ग० ७ उ० ९

दीघनिकाय : (सामञ्जस-सुत्त) पृ० १६, ३३

(महापरिनिब्बान-सुत्त) पृ० ११७

४—पृ० ८ नोट ५। "विशाला महावीर जननी, तस्या अपत्यमिति वंशालिको भगवान्, तस्य वचन शृणोति तद्रसिकत्वादिति वंशालिक श्रावक."—अभ्युदेव

चेटकके यहा था, यह हम ऊपर लिख आए हैं ।

वर्द्धमानके बड़े भाईका नाम नन्दिवर्द्धन था^१ और उनका विवाह लिच्छवीराज चेटककी पुत्री ज्येष्ठाके साथ हुआ था^२ । चेटकके सात पुत्रिया थी, जिनमेंसे एक सुज्येष्ठा अविवाहित अवस्थामें ही दीक्षित हो गई थी । सबसे बड़ी प्रभावतीका विवाह सिंधु सौवीर देशके वीतभय नगरके राजा उदायनके साथ, पद्मावतीका अगदेशकी चम्पा नगरीके राजा दधिवाहनके साथ, मृगावतीका वत्सदेशके कौशाम्बीके राजा शतानीकके साथ, शिवाका उज्जयिनीके राजा प्रद्योतके साथ और चेल्लणाका मगधके राजा श्रेणिक विविसारके साथ हुआ था^३ । इस तरह वर्द्धमानका सम्बन्ध मातृपक्षकी ओरसे अनेक राजघरानोके साथ था ।

उनके काका का नाम सुपाश्वं और बड़ी बहनका नाम सुदर्शना था^४ ।

६ : यौवन और विवाह :

वर्द्धमानके बाल्य जीवनकी किसी महत्त्वपूर्ण घटनाका कोई जिक्र नहीं मिलता । उनके शरीरके विषयमें कहा गया है कि वह उदार,

१—आचाराग श्रु० २ अ० २४ : १००५; कल्पसूत्र : १०९;

२—आवश्यक चूणि . (पूर्व भाग) पत्र २४५—“भगवतो भो (जा) यी चेऽगस्स धूया ।”

३—आवश्यक चूणि (उत्तर भाग) पत्र १६४

त्रिर्षाष्ट शलाका पुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक १८४-१९३

निरयावलिका सूत्र : पृ० ३८-४०

४—आचाराग श्रु० २ अ० २४ . १००५, कल्पसूत्र : १०९

शृंगारित, अलंकार-रहित होते हुए भी विभूषित, लक्षण, व्यंजन और गुणसे युक्त तथा श्रीसे अत्यन्त-अत्यन्त शोभाश्रित था। बद्धमानके मस्तकसे लेकर पैरके तलवो तकके एक-एक अवयवका वर्णन आगममें उपलब्ध है, पर स्थानाभावसे हम उसे यहा नहीं दे रहे हैं। वे दीर्घ-काय—७ हाथ लम्बे—थे। उनके वर्णके बारेमें कहा गया है कि वह उत्तम तपे हुए सोनेकी तरह कान्तिवाला निर्मल-गीर था। उनके शरीरके विषयमें कहा गया है कि वह समचतुरस्र सस्यान और उत्कृष्ट सुदृढ संहननवाला था। उनकी वृत्तियोंके विषयमें जो उल्लेख है, उनसे पता चलता है कि वे बड़े ही शान्त और उदासीन थे। वे चतुर, प्रतिज्ञा-निर्वाहमें दृढ, सर्वगुण-सम्पन्न, भद्र और विनयी थे।

बद्धमानकी इच्छा नहीं थी कि वे विवाह करे, पर कहा गया है कि माताके विशेष आग्रहसे उन्होंने विवाह करना स्वीकार किया। विवाह कितने वर्षकी अवस्थामें हुआ, इसका उल्लेख नहीं मिलता, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि बालभावसे मुक्त हो जाने और विज्ञान द्वारा

१—भगवती सूत्र : श० २ उ० १ . १४

२—उववाई सूत्र : पृ० ४४ से ५४

३—उववाई सूत्र : पृ० ४१

आवश्यक निर्युक्ति : गा० ३८०;

४—उववाई सूत्र : पृ० ५०

आवश्यक निर्युक्ति : गा० ३७७,

५—उववाई सूत्र : पृ० ४१

६—आचारांग . श्रु० १ अ० ९ उ० १ : ४७२

७—कल्पसूत्र : ११०; त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र पर्व १०, सर्ग २

परिणत मतिवाले हो जानेपर ही उनका विवाह हुआ था। उनकी पत्नीका नाम कौडिन्य गोत्री क्षत्रिय कन्या यशोदा था^१। उनके एक कन्या हुई, जिसे प्रियदर्शना या अनवद्या कहा जाता था^२।

वर्द्धमानकी ज्येष्ठ बहन सुदर्शनाका विवाह क्षत्रियकुडग्राममें ही हुआ और उनके जमालि नामक एक पुत्र हुआ था^३। उनको पुत्री प्रियदर्शना का विवाह कौशिकगोत्री जमालिके साथ किया गया था^४। उनके एक बहिनी हुई, जिसके दो नाम थे—शेषवती और यशस्वती^५।

७ : वैराग्य और प्रवज्या :

वर्द्धमान सहज वैरागी पुरुष थे। उन्हें अन्यन्त सुन्दर और बलवान शरीर प्राप्त हुआ था। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शके उत्तमसे उत्तम भोग उन्हें सुलभ थे, पर ऐसा उल्लेख मिलता है कि उन सबके प्रति वे उदासीन और अनुत्सुक रहते^६। गृहस्थावस्थामे कामभोगको भोगते हुए भी उनकी चित्तवृत्ति बड़ी अनासक्त थी।

सिद्धार्थ क्षत्रिय और क्षत्रियाणी त्रिशला तीर्थंकर पार्श्वनाथकी परम्पराके श्रमणोके अनुयायी और उपासक थे। उनके जीवनान्तकी घटना मिलती है, जिससे पता चलता है कि उनका धर्मानुराग बड़ा

१—आचाराग . श्रुत० २ अ० २४ . १००५, कल्पसूत्र : १०९

२—आचाराग . श्रुत० २ अ० २४ . १००५

३—विशेषावश्यक सूत्र गा० २३०७ और उसकी टीका

४—उपर्युक्त, कल्पसूत्र . १०९,

५—आचाराग सूत्र श्रुत० २ अ० २४ १००५, कल्पसूत्र १०९

६—आचाराग सूत्र . श्रुत० २ अ० २४ . १००१

उत्कट था। उन्होंने अनेक वर्षों तक श्रमणोपासक धर्मका पालन किया था और अन्तमे अहिंसाकी साधनाके लिए अपने पापोंकी आलोचना, निन्दा, गद्दी करते हुए प्रतिक्रमण कर, प्रायश्चित्त ले, यावज्जीवनके लिए अन्न-जलका त्यागकर कुश सस्ताक—दर्भशय्या पर शरीरको कुश करते हुए शेष जीवन पूरा किया था। महावीरकी वैराग्यपूर्ण चित्तवृत्ति ऐसे सस्कारपूर्ण वातावरणमे काफी फलीफूली और पनपी होगी। भगवान्का अवतार देवानन्दके गर्भमे हुआ था। उसके सम्बन्धमे उल्लेख है कि वह जोवाजीवकी ज्ञाता और श्रमणोंकी उपासिका थी। ऋषभ-दत्तके विषयमे भी उल्लेख है कि वह चारो वेदोंमे निपुण था। वह इतिहास, पुराण तथा निघण्टु नामक कोशका प्रवर्तक, याद करनेवाला और भूलोंको पकड़नेवाला था। वह वेदके छ अंगोंका ज्ञाता और पण्डितन्त्रमे विशारद था। गणित, शिक्षा, आचार, व्याकरण, छन्द, व्युत्पत्ति, ज्योतिष तथा अन्य ब्राह्मण और परिव्राजक नीतिशास्त्र और दर्शनशास्त्रमे पारगट था। वह पुण्य-पापका जानकार और श्रमणोंका उपासक था। इन सब परसे भगवान्की वैराग्यपूर्ण धार्मिक चित्तवृत्तिकी भूमिकाका कुछ अंदाज लगाया जा सकता है।

उपर्युक्त रूपसे अपश्चिम मरणान्तिक सलेपना कर वर्द्धमानके माता-पिता समाधिपूर्वक देहावसानको प्राप्त हुए, उस समय वर्द्धमानकी अवस्था २८ वर्षकी थी^१। माता-पिताके देहावासनके बाद वे कोई दो ही वर्ष तक और गृहवासमे रहे^२। इन दो वर्षोंमे उन्होंने कच्चा

१—आचाराग सूत्र . श्र० २ अ० २४ . १००६

२—भगवती सूत्र श० ९ उ० ३३ १, २

३—महावीर-कथा : पृ० ११३

४—महावीर-कथा . पृ० ११३

जल नहीं पिया, रात्रि-भोजन नहीं किया, और ब्रह्मचर्यका पालन करते रहे^१। उन्होंने एकत्व भावना भाते कपायरूपी अग्निको शान्त कर डाला। वे हमेशा सम्यक्त्व भावसे भावित रहते^१। राज्यसत्ता प्राप्त करनेकी, अभिपक्ष होनेकी तो उन्होंने कभी मनसा तक न की और तीस वर्ष तक कुमार वासमें रहे^१। २९ वें वर्ष वे सोना-चादी, सेना-वाहन, धन-चाग्य, कनक-रत्न आदि द्रव्योको छोड़ने—उनका त्याग करने लगे। दीक्षाके पहले-पहले उन्होंने सारा धन बाट दिया—दानमें दे दिया और इस तरह निर्बिचन वन दीक्षाके लिए उद्यत हुए^१।

जब वर्द्धमान ३० वर्षके हुए, तो वे समाप्तप्रतिज्ञ हुए अर्थात् उन्होंने जो प्रतिज्ञा कर रखी थी, वह सम्पूर्ण हुई^१। इस प्रतिज्ञाके सम्बन्धमें मतभेद है। एक मत यह है कि उन्होंने माताके गर्भमें ही प्रतिज्ञा कर ली थी कि मातापिताके जीवन कालमें दीक्षा नहीं लूंगा। मातापिताके देहान्तके बाद वह प्रतिज्ञा समाप्त हुई^१। दूसरा मत यह

१—(१) आचारांग : श्रुत० १ अ० ९ उ० १ . ५७२

(२) सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ६ : २८

२—अचारांग सूत्र : श्रुत० १ अ० ९ उ० १ : ४७२

३—आवश्यक नियुक्ति : गा० २२१, २२२, २२३, २९९;

आचारांग : श्रु० २ अ० २४ . १००७

४—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १००७;

कल्पसूत्र. ११२, आवश्यक नियुक्ति गा० २१२

५—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १००७;

कल्पसूत्र. ११०;

६—कल्पसूत्र : ९४, त्रिपष्टि शलाका पुरुषचरित्र-पर्व १० सर्ग २,

कल्पसूत्र : १० १४३

है कि मातापिताके देहत्यागके अवसर पर उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धनको दो वर्ष तक दीक्षा न लेनेका वचन दिया था, वह पूरा हुआ। जो भी हो, ३० वर्ष गृहवासमें बीता, बर्द्धमानने प्रथम वयमें मार्गशीर्ष कृष्णा १० के दिन प्रव्रज्या ग्रहण कर लेनेका निश्चय किया।

दीक्षाके पूर्व दो वर्ष तक उन्होंने जो कठिन जीवन-साधना की, उससे उनकी आन्तरिक वैराग्य-भावनाका निदर्शन होता है। भगवान् वैरागी थे, उतने ही ज्ञानी भी थे। उन्हें जगद्-जगद् ज्ञानी, कुशल, मतिमान, माहन, आगुप्रज्ञ आदि कहा गया है। ऐसा उल्लेख मिलता है कि दीक्षाके पूर्व वे तीन ज्ञानके स्वामी थे। क्रियावाद, अत्रियावाद विनयवाद, अज्ञानवाद आदि सब वादोको अच्छी तरह जानकर वे समय-मार्गमें उपस्थित हुए थे। इस तरह उत्कट वैराग्य और उत्तम ज्ञान-मय स्थिर प्रज्ञाको लेकर भगवान् त्याग मार्गके लिए उद्यत हुए।

८ : अभिनिष्क्रमण

भगवान्की दीक्षा उनकी जन्मभूमि क्षत्रियकुडग्राम नगरके 'नायसड'

१—(१) आचाराग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १००७

(२) भगवती सूत्र : श्रु० १५ : २०

(३) कल्पसूत्र : ११०

(४) आवश्यक निर्युक्ति : गा० २२६

२—आचारांग श्रु० १ अ० ४ उ० २ : २३४

श्रु० १ अ० ५ उ० ६ : ३२२

श्रु० १ अ० ८ उ० २ : ४११

श्रु० १ अ० ८ उ० १ : ३९७

३—आचाराग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : ९९२

४—सूत्रकृताग : श्रु० १ अ० ६ : २७

—ज्ञातृखण्ड उद्यान या वनखण्डमें अशोक वृक्षकी छायामें हुई थी^१। वे अकेले ही प्रव्रजित हुए^१। भगवान् रात्रि-भोजन नहीं करते थे, ऐसा हम पहले कह आये हैं। दीक्षाके दिन उनके छट्ठभक्त उपवास था, जिसका पारणा उन्होंने दीक्षाके दूसरे दिन सुबह किया^१। इसका अर्थ यह हुआ कि मार्ग शीर्षं कृष्णा ८मीके दिन सूर्यास्तके बादसे उन्होंने आहार-पानी नहीं लिया अर्थात् ६० घण्टाका निर्जल उपवास किया। इस तरह हम देखते हैं कि भगवान् ने पवित्र प्रव्रज्याके पहलेसे ही अपने मनको शान्त सोपनाम प्रार्थनापेँ ऋगा दिया।

दीक्षाके दिन वर्द्धमानने केवल एक ही द्रव्य—वस्त्र—धारण किया^१। फिर महस्रवाहिनी चन्द्रप्रभा पालकीमे बँठ वृहत् जनसमूहके साथ उत्तर क्षत्रिय कुडपुर्ग सन्निवेशके बीचसे होकर ज्ञातवशी क्षत्रियके 'नायसड' उद्यानमें पहुँचे। वहाँ उन्होंने दाहिने हाथसे दाईं और बाएँ हाथसे बाईं ओरके ममस्त केशोको पचमूष्ठी लीचकर उपाड डाले। विजय मूर्हर्तका समय था, हस्तोत्तरा—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रका योग था।

१—आचाराग : श्रु० २ अ० २४ : १०१७

आवश्यक निर्युक्ति : गा० २२९, २३१

कल्पसूत्र ११५

२—आवश्यक निर्युक्ति गा० २२४, कल्पसूत्र - ११६

३—आचाराग सूत्र श्रु० २ अ० २४ १०१७ ; कल्पसूत्र - ११६

आवश्यक निर्युक्ति गा० २२८, ३१९

४—भगवती सूत्र - श० १५ २०

आचाराग श्रु० २ अ० २४ १०१७, कल्पसूत्र - ११६

आवश्यक निर्युक्ति गा० २२७

छाया पूर्वमे ढल चुकी थी। चौथी पीरूपीका ममय था। वर्द्धमानने केश लुचनकर सिद्ध भगवान्को नमस्कार किया और यावज्जीवनके लिए प्रतिज्ञा की “सर्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं”—आजने नव पाप मेरे लिए अकृत्य है—मैं आजसे कोई पाप नहीं करूंगा।” इस प्रकार वर्द्धमानने यावज्जीवनके लिए सामायिक चारित्र्य अङ्गीकार किया और पाच महाव्रत ग्रहण किये। उस समय चारों ओर स्तब्ध शान्ति छा गई। लोग चित्राकितसे निश्चल हो सारा दृश्य एकटक देखने लगे। महावीरने प्रव्रज्याके समय जो पाच महाव्रत ग्रहण किए वे इस प्रकार हैं:—

१—मैं प्रथम महाव्रतमें सर्व प्राणातिपातका त्याग करता हू। मैं यावज्जीवनके लिए सूक्ष्म या वादर, स्यावर या जगम—किसी भी प्राणीकी मन, वचन और कायासे स्वयं हिंसा नहीं करूंगा, दूसरेसे हिंसा नहीं कराऊंगा और न हिंसा करनेवालेका अनुमोदन करूंगा। मैं उस पापसे निवृत्त होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको उससे हटाता हूँ।

२—मैं दूसरे महाव्रतमें यावज्जीवनके लिए सर्व प्रकारके मृपा—झूठ बोलनेका—वाणी दोषका त्याग करता हूँ। क्रोधसे, लोभसे, भयसे या हास्यसे, मैं मन, वचन और कायासे झूठ नहीं बोलूंगा, न दूसरोंसे झूठ बुलाऊंगा, न झूठ बोलते हुए अन्य किसीका अनुमोदन करूंगा। मैं अतीतके उसपापसे निवृत्त होता हूँ। उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको उससे हटाता हूँ।

३—मैं तीसरे महाव्रतमें यावज्जीवनके लिए सर्व अदत्तका त्याग

१—आवश्यक निर्यक्ति : गा० २३६

२—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १०१७

करता हूँ। गाव, नगर या अरण्यमें अल्प या बहुत, छोटी या बड़ी, मचित्त या अचित्त कोई भी यस्तु बिना दी हुई नहीं लूगा, न दूसरे में लिराऊगा और न कोई दूसरा लेता होगा तो उसे अनुमति दूंगा। मैं अतीतके उस पापसे निवृत्त होता हूँ। उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको उससे हटाता हूँ।

४—मैं चौथे महाव्रतमें सर्व प्रकारके मंथुनका यावज्जीवनके लिए त्याग करता हूँ। मैं देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी मंथुन स्वयं सेवन नहीं करूंगा, दूसरेसे सेवन नहीं कराऊंगा और सेवन करनेवालेका अनुमोदन नहीं करूंगा। मैं उस पापसे निवृत्त होता हूँ। उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको उससे अलग हटाता हूँ।

५—मैं पाचवें महाव्रतमें सर्व प्रकारके परिग्रहका यावज्जीवनके लिए त्याग करता हूँ। मैं अल्प या बहुत, अणु व स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी परिग्रहको ग्रहण नहीं करूंगा। न ग्रहण कराऊंगा, न परिग्रह ग्रहण करनेवालेका अनुमोदन करूंगा। मैं उस पापसे निवृत्त होता हूँ। उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको - व्युत्सर्ग करता—उससे अलग हटाता हूँ।

८ : अभिग्रह :

प्रव्रज्याके बाद मुनिने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बन्धी वर्गको विमर्जित किया और अभिग्रह—निश्चय किया—“आजसे मैं बारह वर्ष पर्यन्त कायाका उत्सर्ग करता हुआ—उसकी चिन्ता न करता हुआ— देव, मनुष्य, पक्ष एव पक्षी-कृत जो भी उपसर्ग—सङ्कट—उपस्थित होंगे, उन्हें समभावपूर्वक सहन करूंगा, उनके उपस्थित होनेके समय क्षमा-भाव रखूंगा और सहनशीलता दिखलाऊँगा।”

१—आचाराग सूत्र . श्रु०, २ अ० २४ : १०२० ,

२ : साधक जीवन :



१२ वर्षका तपस्वी जीवन :

प्रब्रज्याके वादके वद्धमान मुनिके १२ वर्षके जीवन-कालको हम उनके जीवनका साधना-काल कहेंगे । इस जीवन-कालमे उन्होंने उत्कट आत्म-साधना की, दीर्घ तपस्या और मौन-चिन्तनमे अपनी सारी शक्ति एकाग्र चित्तसे लगा दी । “बोसट्टवत्त देहे” “मुत्तिमग्गेण अप्पाणं भावेमाणे विहरइ” । आत्म-साधनाके लिए मानो उन्होंने गरीरको व्युत्सर्ग कर दिया—न्यौछावर कर दिया ।

जैन-ग्रन्थोमें “उगं च तवोकम्मं विसेसओ वद्धमाणस्स” अन्य तीर्थङ्करोकी अपेक्षा वद्धमानका तपकर्म विशेष उग्र था—ऐसा उल्लेख मिलता है^१ । सुधर्मा स्वामीने एक बार जम्बू स्वामीसे कहा था—“जैसे सर्व समुद्रोंमें स्वयंभू श्रेष्ठ है, रसोंमें इक्षु-रस श्रेष्ठ है, वैसे ही तप उपधानमे मुनि वद्धमान जयवत—श्रेष्ठ है^२ ।” वद्धमान किस तरह उग्र तपस्या करते हुए जीवन-यापन करते थे, इसका वर्णन भगवती सूत्र शतक १५

१—आचाराग . श्रु० २ अ० २४—१०२२

२—आवश्यक निर्युक्ति : गा० २४०

३—सूत्रकृताग . श्रु० १ . ६ : २०

में कुछ मिलता है । दीक्षाके बाद प्रथम वर्षमें भगवान् १५।१५ दिनका उपवास करते हुए रहे । दूसरे वर्ष महीने-महीनेका उपवास करते रहे । उपवासमें भी विहार तो चालू ही रखते । वर्द्धमान दीक्षाके बारहवें वर्षमें निरन्तर छट्ठभक्त उपवास करते रहे, ऐसा उल्लेख भी मिलता है । उस समयकी एक बारकी तपस्याका वर्णन इस तरह है—“भगवान् सुसमार नगरमें आ एक अशोक वनखण्डमें एक अशोक वृक्षके नीचे शिलापर बैठ आठ भक्तका उपवास करने लगे । दोनों पैर इकट्ठे कर, हाथको नीचे फैला, मात्र एक पदार्थपर नजर रख, आखे फूरकाए बिना, शरीरको जरा आगेकी ओर झुका, सर्व इन्द्रियोको अधीन कर, उन्होने एक रात्रिकी बड़ी प्रतिमा स्वीकार की ।” इन सबसे स्पष्ट दीर्घकालीन उग्र तपस्या और कठोर आत्म-दमन वर्द्धमानके इस जीवन-कालकी अनन्य विशेषता रही ।

वर्द्धमानने इस दीर्घ-साधना-कालमें धर्म-प्रचार—उपदेश-कार्य—नही किया, न शिष्य मुण्डित किए और न उपासक बनाए, परन्तु अवहु-वादी—प्रायः मीन रह, जागरूकतापूर्वक आत्मशोधनमें—तीव्र ध्यान और आत्म-चिन्तनमें—समय लगाया । उनका यह जीवनकाल एकान्त आत्म-शोधनका काल था । सूत्रोंमें इसके काफी प्रमाण मिलते हैं । एक बार दीक्षित जीवनके आरम्भिक कालमें छ. वर्ष तक वर्द्धमानके

१—भगवती सूत्र : श० १५ : २१

२—भगवती सूत्र . श० ३ उ० २ : १७

३—भगवती सूत्र : श० ३ उ० २ : १७

४—केवल गोशालककी अन्तवासी होनेकी बातको प्रतिश्रुत किया—

माना था । भगवती : श० १५ : ४१

साधकी रूपमें रहनेवाले और वादमें उनका नाम छोड़ अलग ही आजी-
विक सम्प्रदायकी स्थापना करनेवाले गोंडालाने निर्गम्य मुनि आत्मकुमार
से बातचीत करते हुए वर्द्धमानके तीर्थङ्कर गान्धर्वी आश्रम-समाप्तों के
आलोचना की थी। गोंडालाने और आर्द्रेश्वरके जीवनका वह आलोचना
अभी तक सूत्रमें उपलब्ध है। उन आलोचना-प्रसंगमें साधना-समाप्तों
जीवन पर प्रामाणिक प्रकाश पड़ता है। यह प्रसंग इस प्रकार है—

“हे आर्द्र ! महावीरने पहले विद्या, व्रत मुनि। महावीर श्रमण
पहले एकाताचारी था। अब उनमें अनेक भिक्षुओंको एकट्ठा कर लिया
है और उन्हें भिन्न-भिन्न रूपसे विस्तारपूर्वक धर्म कहता है।

“इस तरह उसने अपनी आजीविकाका रास्ता निकाल लिया है।
वह समास्थानमें भिक्षुगणमें रहने अनेक लोगोंमें धर्म कहता है। उन
तरह उसके पूर्वपर आचार-विचारमें सन्धि नहीं।

“या तो एकान्त ही अच्छा था अथवा वह ही—इस प्रकार अनेक
साधु-परिवारके साथ रहना और उपदेश देना—ये दोनों बातें परस्पर
भिन्न-भिन्न हैं—परस्पर मिलती नहीं।”

“तुम्हारा श्रमण शून्य, घर अथवा आराम—उद्यानादि—में नहीं
ठहरता, क्योंकि वहा छोटे-बड़े बहुविध ताकिक या वादी लोगोंका
आवागमन होता रहता है और उसे भय है कि वह कहीं निरुत्तर न
हो जाय।”

इस बातलापमें भिक्षु—शिष्य—चनानेकी, सभा-परिपद्में धर्मोपदेश
देनेकी, शून्य घर आरामादिमें वास न करनेकी तीव्र आलोचना की गई
है। इससे सिद्ध होता है कि वर्द्धमान साधक-जीवनमें मौन रहते थे,

धर्मोपदेश नहीं करते थे । किसीको प्रव्रजित नहीं करते थे और आरा-
मादि शून्य घरोंमें रहते थे ।

वर्द्धमानकी इस बारह वर्षकी चर्याका बडा ही रसप्रद वर्णन
आचाराग सूत्र श्रु० १ अ० ९ में मिलता है । वर्द्धमानकी रोमाचकारी
कष्ट-सहिष्णुता, अडिग ब्रह्मचर्य-साधना, अहिंसा और त्यागके कठोर
नियमोका पालन, अनुकरणीय दृष्टि-योग, अनूकूल-प्रतिकूल—सब
परिस्थितियोंमें मुदित समभाव, निस्पृह शारीरिक अनासक्ति और
व्युत्सर्ग भाव, अपूर्व तितिक्षा और तपस्या, विस्मृतिपूर्ण आत्म-
लवलीनता और धर्मध्यान—इन सबका एक सजीव चित्र सामने खडा हो
जाता है । हम इस हृदयग्राही वर्णनके आधार पर साधक-जीवनका
कुछ दिग्दर्शन करावेगे ।

: अचेलक अणगार :

वर्द्धमानकी अचेलक दशाका वर्णन इस प्रकार है:—

वर्द्धमानने दीक्षा ली, उस समय उनके शरीर पर एक ही वस्त्र था^१ ।
उन्होंने कोई तेरह महीने तक उस वस्त्रको कंधो पर डाले रखा ।
दूसरे वर्ष आधी शरद ऋतु ब्रीत चुकी, तब उस वस्त्रको त्याग वे सम्पूर्ण
अचेलक—वस्त्र-रहित—अणगार हो गए (४६३, ४६५)^२ । वे बाहुओं
को—सीधा—नीचे फैलाकर विहार करते । शीतके कारण बाहुओंको
समेटते अथवा कन्धोको बाहुओंसे संकोच करते कभी किसीने नहीं देखा
(४८२) । शिशिर ऋतुमें जब पवन जोरोसे फुफकार मारता, जब अन्य
साधु किसी छाये हुए स्थानकी खोज करते, वस्त्र लपेटना चाहते और

१—कल्पसूत्र. ११६;

२—कल्पसूत्र ११७;

तापस लकड़िया जला शीत दूर करते—ऐसी दुःसह कड़कड़ाती सर्दीमें भी वर्द्धमान खुले स्थानमें नगें वदन रहते और किसी प्रकारके वचाव की इच्छा तक नहीं करते। कभी-कभी तो शीतकालमें खुलेमें ध्यान करते (४९६)। नगें वदन होनेके कारण सर्दी-गर्मीके ही नहीं, पर हंसमजक तथा अन्य कोमल कठोर स्पर्शके अनेक कष्ट उन्हें झेलने पड़े।

: निवासस्थान :

इस समयके निवासस्थानका वर्णन भी बड़ा रोचक है।

साहसी वर्द्धमान कभी निजंत झोपडोंमें, कभी धर्मशालाओंमें, कभी पानी पीनेकी पोहोमें वास करते, तो कभी लुहारकी शालामें। कभी मालियोके धरोमें, कभी शहरमें, कभी श्मशानमें, कभी सूने घरमें, तो कभी वृक्षके नीचे रहते और कभी घासकी गजियोके नीचे गुजर करते (४८५, ४८६)। ऐसे-ऐसे स्थानोंमें रहते हुए वर्द्धमानको नाना प्रकारके उपसर्ग हुए। सर्प वगैरह जीव-जंतु और गीध आदि पक्षी उन्हें काट खाते। दुराचारी मनुष्य उन्हें नाना यातना देते, गांवके रखवाले हथियारोंसे पीटते, विषयातुर स्त्रिया कामभोगके लिए सताती। इस तरह मनुष्य और तिर्यञ्चोके नाना दारुण उपसर्ग, कठोर-कर्कश अनेक शब्दोंके उपसर्ग, उनपर आये। जार पुरुष उन्हें निर्जन स्थानोंमें देख चिढ़ते और पीटते और कभी उनका तिरस्कार कर उन्हें चले जानेके लिए कहते। मारने-पीटने पर भगवान् समाधिमें तल्लीन रहते और चले जानेको कहने पर अन्यत्र चले जाते (४९०-९२, ९४, ९५)।

: साधना-कालका आहार :

वर्द्धमानके भोजन-नियम बड़े कठिन थे। नीरोग होते हुए भी वे मिताहारी (५०९), खान-पानमें बड़े संयमी और परिमित भोजी थे।

मानापमानमें समभाव रखते हुए घर-घर भिक्षाचर्या करते । कभी दीनभाव नहीं दिखाते थे (४७९) । रमोंमें उन्हें आसक्ति न थी और रसयुक्त पदार्थोंकी कभी आकांक्षा नहीं करते थे (४८०) । भिक्षामें सूखा, ठण्डा, बहुत दिनोंके पुराने उड़दका, पुराने घान या यवादि नीरस घान्यका जो भी आहार मिलता, उसे वे शान्त भावसे और सन्तोषपूर्वक ग्रहण करते । न मिलनेपर भी वंसी ही शान्त मूद्रा और सन्तोष रखते (५१६) । स्वादजय उनका खास लक्ष्य रहता ।

: निस्पृहता और शारीरिक दमन :

शरीरके प्रति वर्द्धमानकी निरीहता बड़ी रोमाञ्चकारी थी । रोग उत्पन्न होनेपर भी वे औषध-सेवनकी इच्छा नहीं करते (५०९) । जुलाव, वमन, तेल-मर्दन, स्नान और दन्त-प्रक्षालनकी वे जरूरत नहीं रखते (५१०) । आरामके लिए पगचप्पी नहीं कराते । आखोमें किरकिरी गिर जाती तो वह भी उन्हें विचलित नहीं करती । ऐसी परिस्थितिमें भी वे आख नहीं खुजलाते । शरीरमें खाज आती, तो उसे भी जीतते । इस तरह उन्होंने अपूर्व मन और देह-दमन साधा ।

: नींद जय :

वर्द्धमानने कभी पूरी नींद नहीं ली । उन्हें जब नींद अधिक सताती, तब वे बाहर निकल शीतमें मूर्च्छाभर चक्रमण कर निद्रा दूर करते । वे अपनेको हमेशा जागृत रखनेकी चेष्टा करते रहते (४८८-८९) ।

: अनासक्त योगी :

वसतिवासमें भी भगवान् न गीतोंमें आसक्त होते और न नृत्य और नाटकमें, न उन्हें दण्डयुद्धकी बातोंमें उत्सुकता होती और न मुष्टियुद्धकी बातोंमें (४७०) । स्त्रियो व स्त्री-पुरुषोंको परस्पर काम-कथामे तल्लो न देखकर भी वर्द्धमान मोहाधीन नहीं होते थे । वीतराग-

भावकी रक्षा करते हुए (४७१) वे इन्द्रियोके विषयोमें विरक्त रहने (५११) ।

मौन ध्यानी

उत्कुटुक, गोदोहिका, धीरासन वगैरह अनेक आसनो द्वारा वर्द्धमान निर्विकार ध्यान ध्याया करते (५२०) । कितनी ही बार ऐसा होता कि जब वे गृहस्थोकी वस्तीमें ठहरते, तो रूपवती स्थिया, उनके शरीर-सौन्दर्य पर मुग्ध हो, उन्हें विषय-सेवनके लिए आमन्त्रित करती । ऐसे अवसर पर भी वर्द्धमान आख उठाकर तक नहीं देखते और अन्तर्मुख हो ध्यान ध्याते (४६७) । गृहस्थोके साथ कोई ससर्ग नहीं रखते । ध्यानावस्थामे कुछ पूछने पर उत्तर नहीं देते (४६८) । वर्द्धमान अन्नहुवादी थे अर्थात् अल्पभाषी जीवन विताते थे (४९३) । सहे न जा सकें, ऐसे कट्टे व्यङ्ग्योके सामने भी शान्त चित्त और मौन रहते । कोई गुणभान करता, तो भी मौन, और कोई दण्डोसे पीटता या केश खींच कण्ठ देता, तो भी शान्त-मौन (४६९) । इस तरह वर्द्धमान निर्विकार, कषायरहित, मूर्छारहित, निर्मल ध्यान और आत्म-चिन्तनमे समय विताते ।

दृष्टियोग और इयाँ समिति

विहार करते—चलते समय—वर्द्धमान आगेकी पुरुष प्रमाण भूमि पर दृष्टि डालते हुए चलते (४६६) । अगल-वगल या पीछेकी ओर नहीं ताकते, केवल सामनेके मार्ग पर ही दृष्टि रख सावधानीपूर्वक चलते । रास्तेमें उनसे कोई बोलना चाहता, तो भी नहीं बोलते थे (४८१) ।

तपश्चर्या

शीतके दिनोमें वर्द्धमान छायामे बैठकर ध्यान करते । गर्मीके

दिनोमें उत्कृष्टक जैसे कठोर आसन लगाकर घूममें बैठकर तप सहन करते (५१२) ।

शरीर-निर्वाहके लिए सूखे भात, मथु और उडदका आहार करते । एक बार निरन्तर आठ महीनो तक वर्द्धमान इन्ही चीजो पर रहे (५१३) ।

वर्द्धमान पन्द्रह-पन्द्रह दिन, महीने-महीने, छ छ महीने तक जल नहीं पीते थे । उपवासमें भी विहार करते । अन्न भी ठण्डा और वह भी तीन-तीन, चार-चार, पाच-पाच दिनके अन्तरसे किया करते (५१४) ।

अहिंसा और तितिक्षा भाव

भगवान्ने पल-पल अहिंसा और अनुपम तितिक्षा भावकी आराधना की । ऐसी घटनाओका उल्लेख मिलता कि भिक्षाके लिए जाते समय रास्तेमें कबूतर आदि पक्षी धान चुगते दिखाई देते, तो वर्द्धमान दूर टलकर चले जाते, जिससे कि उन जीवोको विघ्न उपस्थित न हो । यदि किसी घरमें ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि, चाण्डाल, विल्ली या कुत्तोको कुछ पानेकी आशामें या याचना करते हुए देखते, तो उनकी आजीविकामें कही बाधा न पहुँचे, इस विचारसे वे दूर ही से निकल जाते । किसीके मनमें द्वेषभाव उत्पन्न होनेका वे मौका ही नहीं आने देते (५१८) ।

वर्द्धमान दीक्षित हुए, तब उनके शरीर पर नाना प्रकारके सुगन्धित द्रव्य लगाये गये थे । चार महीनेसे भी अधिक समय तक भ्रमरादि जन्तु उनके शरीर पर मडराते रहे और उनके शरीरके मांस और लहू को काटते और पीते रहे, पर वर्द्धमानने उन्हे दूर हटाने तककी इच्छा नहीं की, मारना तो दूर रहा ।

भगवान्ने दुर्गम्य लाढ़ देशकी वज्रभूमि और शुभ्रभूमि—दोनो—पर

विचरण किया। वहा उनपर अनेक विपदाएं आयी। वहाके लोग भगवान्को पीटा करते। उन्हे खानेको रुखा-सूखा आहार मिलता। उतरनेके लिए हल्के स्थान मिलते। उन्हे कुत्ते चारो ओरसे घेर लेते और कण्ट देते (४८९-५००)। ऐसे अवसरो पर बहुत ही थोड़े होते जो कुत्तोसे उनकी रक्षा करते। अधिकांश तो उलटा भगवान्को ही पीटते और ऊपरसे कुत्ते लगा देते (५०१)। ऐसे विकट विहारमें भी अन्य साधुओंकी तरह वर्द्धमानने दण्डादिका प्रयोग नहीं किया। दुष्ट लोगोंके दुर्वचनोको वर्द्धमान बड़े क्षमाभावसे सहन करते (५०२)।

कभी-कभी तो ऐसा होता कि भटकते रहने पर भी वर्द्धमान गाव के निकट नहीं पहुच पाते। ग्रामके नजदीक पहुचते त्योही अनार्य लोग उन्हे पीटते और कहते—“तू यहासे चला जा।” (५०४)।

कितनी ही बार इस देशके लोगोंने लकडियो, मृट्टियो, भालेकी अणियो, पत्थर तथा हड्डियोके खप्परोसे पीट-पीटकर उनके शरीरमें घाव कर दिये (५०५)।

जब वे ध्यानमें होते, तो दुष्ट लोग उनके मांसको नोच लेते, उनपर धूल बपति, उन्हे ऊंचा उठाकर नीचे गिरा देते, उन्हे आसन परसे नीचे ढकेल देते (५०६)।

वर्द्धमान साधना कालमें ऐसा ही कठोर जीवन जीते रहे।

वर्द्धमानसे महावीर

स्व-आत्म-अनुभवसे संसारकी असारताको समझ मन, वचन और कायाको ब्रह्ममें रखते हुए वर्द्धमानने १२ वर्षके दीर्घ साधनाकालमें इसी तरह आत्म साक्षीपूर्वक सयम्-धर्मकी रक्षा की।

उपकार-अपकार, सुख-दुःख, जीवन मृत्यु, आदर-अनादर, लाभ अलाभ सब परिस्थितियोंमें समस्थिति—समभावका अनुपम विकास किया^१ ।

वे ससार-समुद्रसे पार पानेकी ही हमेगा सोचा करते और कर्म रूपी शत्रुओके समुच्छेदमें निशिदिन तत्पर रहते । निशिदिन मुक्तिमार्ग द्वारा आत्माको भावित करते रहते^२ ।

देव, मनुष्य, पशु-पक्षी कृत जो भी उपसर्ग हुए, उगहे अदीन भावसे, अव्यथित मनसे, अम्लान चित्तसे, मन-वचन-कायाको वशमे रखते हुए सहन किया और अनुपम तितिक्षा और समभाव दिखलाया^३ ।

इसी अनुपम चिन्तन, अनुपम ध्यान, अनुपम तप और अनुपम तितिक्षाके कारण ही वर्द्धमानका नाम स्थान-स्थान पर वीर—‘महावीर मिलता है । दुर्जय रागद्वेषादि आन्तर शत्रुओको निराकरण करने में विक्रात शूर—महान् वीर होनेसे ही वे महावीर कहलाए । कहा भी है—

“भयभैरवमें अचल तथा परिपह और उपसर्गोंको क्षमापूर्वक—समभाव पूर्वक—सहन करनेवाले होनेके कारण ही वर्द्धमानका नाम महावीर पडा । अत्यन्त स्थिर धी, सुख-दुःखमें हर्ष-शोक रहित तथा तपस्यामें अत्यन्त पराक्रमशील होनेके कारण वे महावीर कहलाए^४ ।

१—कल्पसूत्र : ११९; आचाराग सूत्र : श्रु० १ अ० ९ उ० १ :

४६९, ५१९

२—आचाराग : श्रु० १ अ० ९ उ० १ : ४७५;

श्रु० २ अ० २४ : १०२२

३—आचाराग : श्रु० २ अ० २४ : १०२३,

४—आचाराग : श्रु० २ अ० २४ . १००२; कल्पसूत्र : १०८;

वर्द्धमान शरीरको त्याग कर रहते । उन्होंने घोर योद्धाकी तरह कष्टोके सामने कभी पीठ नहीं दिखाई^१ । जिस तरह बलवान हाथी युद्धक्षेत्रके अग्रभागमें जाकर विजय प्राप्त करता है, उगी तरह दारुण विपदाओमें अडिग आत्मसाधन कर वर्द्धमानने वास्तवमें ही बड़ा पुरुषार्थ दिखलाया^२ और सच ही महावीर कहलाए ।

साधनाकालके अनुभव और अन्तिम सिद्धि

ऊपर एक जगह बतलाया जा चुका है कि वर्द्धमानके माता-पिता पार्श्वनाथ भगवान्के श्रमणोके अनुयायी थे । इसमें जन्ममें ही भगवान्को इस प्रसिद्ध श्रमण-परम्पराके धार्मिक आचार-विचारोका विरासत मिलनी स्वाभाविक थी, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनका जीवन इस परम्पराके किसी सतपुरुषके प्रत्यक्ष ससंगसे प्रभावित, प्रस्फुटित और विकसित हुआ था । कम-से-कम सूत्रोमें ऐसा कोई वरान नहीं मिलता । इससे यह प्रकट है कि वर्द्धमान स्वयसबुद्ध थे । स्व-आत्म-अनुभवसे ही उन्होंने ससारके स्वरूपको जाना था^३ । उन्हें अनक स्थानो पर सहसबुद्ध कहा गया है^४, इसका रहस्य यही है ।

जन्म दुःख है, आधि दुःख है, व्याधि दुःख है, जरा दुःख है, मृत्यु दुःख है—इस परम अनुभवसे ही वर्द्धमानको गृह-त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करनेकी प्रेरणा मिली । ससार दुःखसे जल रहा है । जहा दुःख ही दुःख है, वहा परम शांति कैसे मिले—इस एक प्रश्नके हलके लिए

१—आचाराग . श्रु० १ अ० ९ उ० ३ . ५०७

२—आचाराग . श्रु० १ अ० ९ उ० ३ . ५०३

३—आचाराग . श्रु० १ अ० ९ : ५२२

४—भगवती सूत्र . श्रु० १ उ० १ : २,

आवश्यक निर्युक्ति : गा० ५१२

ही उन्होंने महान् त्याग किया । अपने दीर्घ साधनाकालमें वर्द्धमानने, दु ख क्यो होते है, इसके कारणोकी खोज की, दु ख दूर करनेके उपायोका चिन्तन किया । दु.ख-क्षयके व्यापक सर्वाङ्गसम्पूर्ण नियमोको गभीर चिन्तनसे स्थिर किया^१ ।

ससार क्या, ससारके तत्त्व क्या, ससार-वन्धनसे छुटकारा कैसे मिले—इस विषयमें जो सरल, बुद्धिगम्य और गम्भीर तत्त्वज्ञान वर्द्धमान ने दिया, वह साधनाकालके दीर्घ मौन, तत्त्वचिन्तन और आत्मशोध का ही परिणाम था । अब्रह्मचर्य आत्मसिद्धिके लिए कितना घातक है, इसकी सम्यक् सवोधि इसी कालमें हुई । गम्भीर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ब्रह्मचर्यके व्यापक नियमोका स्थिरीकरण इसी कालके अनुभवोके आधार पर हुआ^२ । अहिंसाके सिद्धान्तको सम्पूर्ण रूपसे व्यवहारधर्म बनानेके लिए वर्द्धमानने चलने-फिरने, बोलने-बैठने, खाने-पीने, वस्तुको लेने-रखने तथा मलमूत्रादि विसर्जन करनेके मन्वन्धमें जो नियम वादमें अपने सधमें प्रचलित किए, वे इसी समयके गहरे चिन्तनके फल थे । उन्होने सर्व जीवोकी समानताके सिद्धान्तका प्रत्यक्ष अनुभव इसी कालमें किया^३ ।

इस तरह यह साधनाकाल वर्द्धमानके जीवनका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण समय था ।

गभीर चिन्तन और धर्म-ध्यानके कारण उनके हृदयकी ज्ञान-ऊर्मिया विकसित हाती जाती थी और अनेक प्रकारकी आत्मसिद्धिया उन्हे

१—आचाराग श्रु० १ अ० ९ उ० १ ४७५, ४७६

२—आचाराग . श्रु० १ अ० ९ ४६७, ४७७

३—आचाराग श्रु० १ अ० ९ ४७३, ४७४

उपलब्ध हुई। दूसरोके मनोभावको जान लेनेकी अद्भुत शक्ति जिसे पारिभाषिक शब्दोमे 'मनःपर्यवज्ञान' कहा जाता है, वह तो वर्द्धमान को दीक्षा लेते ही प्राप्त हो गई थी^१। निमित्तज्ञानकी अद्भुत शक्ति भी इस कालमें उनमें देखी जाती है^२। तेजोलेश्या और शीतललेश्या जैसी प्रबल लब्धिया भी तपःबलसे उन्हें प्राप्त हुई^३।

वर्द्धमानने अपनी इन शक्तियोका पूर्ण आत्मदशा प्राप्त करनेके बाद कभी दुरुपयोग नहीं किया और न किसीको करने दिया। हा, साधनाकालमें इन शक्तियोका दुरुपयोग भी हुआ। जागृत वर्द्धमान भविष्यत्के लिए सजग हो गये।

इस साधनाकालका सबसे बड़ा फल तो था केवल ज्ञान और केवल दर्शनकी प्राप्ति। ये सर्वोपरि ज्ञान और दर्शन उन्हें दीक्षा-जीवनके १३ वे वर्षके आरम्भमें प्राप्त हुए। केवल ज्ञान-दर्शन प्राप्त करनेकी घटनाका वर्णन इस प्रकार है।

: केवल ज्ञान केवल दर्शन :

तपस्वी वर्द्धमानको अनुपम ज्ञान, अनुपम दर्शन, अनुपम चरित्र, अनुपम आर्जव, अनुपम लाघव, अनुपम क्षान्ति, अनुपम मुक्ति, अनुपम गुप्ति, अनुपम तुष्टि, अनुपम सत्य, संयम और तपसे अपनी आत्माको भावित करते हुए १२ वर्षका दीर्घकाल बीत गया^४।

१—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १०१९

२—भगवती सूत्र : श० १५ : ४३, ४६; ५६-५९

३—भगवती सूत्र : श० १५ : ४८-५३

४—कल्पसूत्र : १२०;

आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १०२२;

१३वे वर्षमें वर्द्धमान जभियग्राम नगरके बाहर ऋजुवालिका नदीके उत्तर किनारे, श्यामाक गाथापतिकी कर्षणभूमिमें व्यावृत नामक चैत्यके अदूर-समीप उसके ईशान कोणकी ओर शालवृक्षके नीचे गोदोहिका—उत्कृष्टक आसनमें स्थित होकर सूर्यके तापमें आताप ले रहे थे। उस दिन वर्द्धमानके दो दिनका निर्जल उपवास था। ग्रीष्म ऋतुका वैशाख महीना था, शुक्ल दशमीका दिन था। छाया पूर्वकी ओर ढल चुकी थी और पश्चान्ह—अन्तिम पीरूपीका समय था। उस निस्तब्ध शान्त वातावरणमें आश्चर्यकारी एकाग्रताके साथ भगवान् शुक्ल ध्यानमें लवलीन थे। ऐसे समय विजय नामक मूहूर्त्तमें उत्तराफाल्गुनी योगमें प्रबल पुरुषार्थी भगवान्ने घनघाति कर्मोका क्षय कर डाला और उन्हें केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त हुए^१।

यह चरम, उत्कृष्ट, अनुत्तर ज्ञानदर्शन इतना अनन्त, व्यापक, सम्पूर्ण, निरावरण और अव्याहत होता है कि इसकी प्राप्तिके बाद मनुष्य, देव, मनुष्य तथा असुर-प्रधान इस लोककी सर्व पर्याय जानने देखने लगता है। वर्द्धमान अब ऐसे ही ज्ञानदर्शनके धारक हुए—वे सर्वलोकके सर्वजीवोके सर्वभाव जानने देखने लगे^२।

इस तरह केवली, अर्हत्, जिन, सर्वज्ञ और सर्वभावदर्शी बननेके बाद वर्द्धमान तीर्थङ्कर महावीर अथवा श्रमण भगवान् महावीर कहलाए।

१—आचाराग श्रु० २ अ० २४ १०२४,

आवश्यक नियुक्ति गा० २५२, २५३, २५४, २५५,

कल्पसूत्र १२०,

२—आचाराग श्रु० २ अ० २४ १०२५

कल्पसूत्र १२१

३ : तीर्थकर-जीवन :

1. 2. 3.

.

गणधरवाद

तीर्थका अर्थ होता है जिसके द्वारा तिरा जा सके। तीर्थङ्करका अर्थ होता है तीर्थ करनेवाला। श्रमण भगवान् वर्द्धमानने प्रवचन दिया—ससार-समद्र तीरनेका मार्ग स्थापित किया—इसलिये वे तीर्थङ्कर कहलाए^१। भगवान्का तीर्थङ्कर जीवन, केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्तिके बाद ही, शुरू होता है^२। अनन्त ज्ञानदर्शन प्राप्तिके बाद भगवान् ग्राम-ग्राम पैदल विहार कर धर्मोपदेश देने लगे। भगवान्ने पहले देवोको और फिर मनुष्योको उपदेश दिया^३। देवोको दिया गया उपदेश निष्फल गया^४। तीर्थङ्करका उपदेश इस तरह निष्फल जाय, यह एक आश्चर्य माना गया है^५।

१—भगवती सूत्र : (जिनागम प्रकाशक सभा) प्र० ख० अमयदेवसूरि टीका पृ० २०

तरन्ति तेन ससारसागरमिति तीर्थं प्रवचनम्,

तदत्र्यतिरेकाच्चहं सघतीर्थम्, तत्करणशीलत्वात् तीर्थकरः ।

२—आचाराग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १०२७

३—उपर्युक्त

४—स्थानाग सूत्र अ० १० उ० ३ सू० ७७७,

५—उपर्युक्त

भगवान् जंभियग्राम नगरसे मध्यम पावापुरी पधारे । वहां इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुघर्मा, मंडित, मीर्यपुत्र, अकपित, अचल-भ्राता, मेतार्थ, प्रभास—ये ग्यारह वेदविद् घुरघर विद्वान् भी उपस्थित थे । मध्यम पावापुरीमें उस समय सोमिल नामक एक घनाढ्य ब्राह्मणने विशाल यज्ञ चालू कर रखा था और उपर्युक्त वेदविद् याज्ञिक ब्राह्मण उसी यज्ञके निमित्त अपने सैकड़ों शिष्योंके साथ वहा आये हुए थे । भगवान्के प्रवचनको सुननेके लिए अनेक लोगोको जाते देख इन ब्राह्मणोके मनमें पाण्डित्यका अभिमान जागृत हो गया और ईर्ष्याविश तथा कौतूहलवश वे भी एकके बाद एक म्हावीरके पास पहुचे ।

इन विद्वानोके मनमें जीव है या नहीं, कर्म है या नहीं, शरीरसे भिन्न जीवात्मा है या नहीं, जगत् क्या माया नहीं, भूत है क्या, क्या समान योनिमें ही जन्मान्तर नहीं होता, बन्ध और मोक्ष है या नहीं, देव है या नहीं, नैरयिक है या नहीं, पुण्य-पाप है या नहीं, परलोक-पुनर्जन्म है या नहीं, निर्वाण-मोक्षस्थान है या नहीं—आदि भिन्न-भिन्न चर्चायें—प्रश्न थे^१ । भगवान्ने एक-एक प्रश्नका अलग-अलग उत्तर दिया^२ । इन उत्तरो परसे भगवान्के वादकी संलग्न रूप-रेखा निम्न प्रकार बनती है—

१—यह ससार शून्य नहीं वास्तविक है । जीव-अजीव इन दोनो तत्त्वोसे बना हुआ संसार केवल माया नहीं हो सकता । यह प्रत्यक्ष

१—आवश्यक निर्युक्ति (यशो० ग्रं०)—१७, २५, ३१, ३५, ३९,

४३, ४७, ५१, ५५, ५९, ६३

२—आवश्यक निर्युक्ति (यशो० ग्रं०) १८-२४; २६-३०, ३२-३४,

३६-३८; ४०-४२, ४४-४६, ४८-५०; ५२-५४; ५६-५८;

६०-६२, ६४-६५;

दिखनेवाला स्थूल-सूक्ष्म भूतात्मक जगत् वास्तविक है। पदार्थोंमें सतत् परिवर्तन—उत्पाद-व्यय—होते रहते हैं। उनकी अपेक्षा ससार अशा-ब्धत है, पर द्रव्य—मूलभूत तत्त्वों—की दृष्टिसे वह शाश्वत है। जल, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये छ शाश्वत द्रव्य है और यह जगत् इन्हीं छ द्रव्योंका समुदाय है। जगत्के परिवर्तन इन्हीं छ द्रव्योंमें होते हुए उत्पाद-व्ययको लेकर है।

२—(१) आत्मा है। ज्ञान, चैतन्यसे जो प्रत्यक्ष जानी जा सकती है, वह आत्मा है। जानने-देखनेका जो साधन है, वही जड़से भिन्न आत्मा है। यदि आत्मा न हो, तो धर्म, दान आदि क्रियाका आधार ही क्या रहे? (२) आत्मा शरीरसे भिन्न है। जड़ देह तथा इन्द्रियोसे भिन्न यदि आत्मा न हो, तो इन्द्रियोका नाश होनेपर भी इन्द्रियोसे प्राप्त ज्ञानकी स्मृति कैसे रह सकती है? जो स्वयं इन्द्रिय नहीं है, पर जो इन्द्रियोकी चेतन-शक्ति है, जो स्वयं देह नहीं, पर जा देहकी अन्तर-शक्ति है, वह ही आत्मा है और शरीरसे भिन्न पदार्थ है। आत्मा चेतन है। शरीर आदि पुद्गल—जड़ है। इस तरह दोनों अपने लक्षणोंसे भिन्न हैं और दोनों कभी एक नहीं हो सकते। आत्मा नित्य है, क्योंकि वह हमेशा अपने चैतन्यरूपमें स्थिर रहती है।

३—(१) कर्म है। चेतन आत्मासे भिन्न जड़ कर्म है जो, आत्माके परिणामों—शुभ-अशुभ भावोंके कारण, कर्मायुक्त आत्माके प्रदेशोंके साथ जुड़ जाते हैं और परिणामोंके अनुसार भिन्न-भिन्न जीवोंको भिन्न-भिन्न फल देते हैं। जीवोंमें सुख-दुःखकी विचित्रता इन कर्मोंके कारण ही है। (२) कर्म आत्माके नहीं लगते, पर आत्मा कर्मोंको लगाती है। अतः आत्मा अपने कर्मोंकी कर्ता है। कर्मोंका फल भी आत्माको ही भोगना पड़ता है। कर्मोंका कर्ता एक और फल-

भोक्ता दूसरा—ऐसा नहीं होता, अत आत्मा निज कर्मोंका फल भोगती है। वह पुण्य-पापकी कर्त्ता और भोक्ता है। (३) आत्मा शाश्वत है, पर अपने कर्मोंके अनुसार पुन-पुन जन्म-जन्मान्तर करती रहती है। बार-बार भिन्न-भिन्न शरीर धारण ही पुनर्जन्म है। मनुष्य हमेशा मनुष्य-रूप ही धारण करेगा और पशु हमेशा पशु रूप ही—ऐसा नियम नहीं हो सकता। जिस जन्ममें जीव जैसा कर्म करेगा, भविष्यत्में उसीके अनुसार उसे फल मिलेगा। मनुष्य जन्मान्तरमें पशु-रूप शरीर धारण कर सकता है और पशु मनुष्य-रूप। देव, मनुष्य, नर्क और तिर्यञ्च (पशु-पक्षी, वृक्षादिकी योनि)—ये चार गतियां हैं। जीव अपने कृत कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें भ्रमण करता रहता है।

४—गति-भ्रमण ही ससार है और यह ससार-बन्धन कर्म-बन्धनसे होता है। जब तक कर्म-बन्धन रहता है, ससार-भ्रमण नहीं मिटता।

५—जैसे कर्म-बन्धनके कारण आश्रय है, वैसे ही कर्म-निरोधके हेतु सार है। जब कर्म-निरोध होता है, तब ससार-भ्रमण भी मिट जाता है।

६—आत्मा और कर्मका सम्बन्ध तदात्मिक नहीं है। आत्माके कर्मोंका बन्धन होता है, पर इससे आत्मा कर्ममय नहीं हो जाती। उसका अलग अस्तित्व कभी विलीन नहीं होता। वह चेतनसे जड़ नहीं हो जाती, पर हमेशा चेतन-रूप ही रहती है। इसलिये जड़ पुद्गलसे आत्माकी अलग सिद्धि—उसका छुटकारा हो सकता है। आत्माकी स्वभाव-सिद्धि ही उसकी मूर्ति है। और चूकि स्वभाव-सिद्धि सम्भव है, अत मोक्ष भी सम्भव है। मोक्षालय—मोक्षस्थान-है, जहा शुद्ध चैतन्यमय आत्माएँ हैं। शुद्ध उपायसे—कर्मोंकी निर्जरा करते-करते कर्मोंकी आत्म-प्रदेशोसे झाड़ते-भाड़ते आत्मा सम्पूर्ण शुद्ध

ही जाती है—मोक्ष प्राप्त कर लेती है ।

भगवान्के असीम ज्ञानके सम्मुख ब्राह्मण पण्डितोंका पाण्डित्य-मद स्वयं ही बिखर गया । सबके अद्भुत दृष्टि-उन्मेष हुआ और सबका मस्तिष्क भगवान्के चरणोंमें झुक गया । सूत्रकृतांगसूत्रमें भगवान्के वादकी रूप-रेखा उपस्थित करनेवाली कितनी ही गाथाएँ उपलब्ध हैं । मालूम देता है जैसे वे ब्राह्मण-पण्डितोंके रहेसहे अभिनिवेशको दूर कर लन्हे स्थिर करनेके लिये कही गईं हों । भगवान्ने कहा—

“मत विश्वास करो कि चार गति-रूप ससार नहीं हैं, पर विश्वास करो कि चार गति-रूप ससार हैं ।

मत विश्वास करो कि जीव अजीव नहीं हैं, पर विश्वास करो कि जीव अजीव हैं ।

मत विश्वास करो कि धर्म अधर्म नहीं हैं, पर विश्वास करो कि धर्म अधर्म हैं ।

मत विश्वास करो कि क्रोध मान नहीं हैं, पर विश्वास करो कि क्रोध मान हैं ।

मत विश्वास करो कि माया लोभ नहीं हैं, पर विश्वास करो कि माया लोभ हैं ।

मत विश्वास करो कि राग द्वेष नहीं हैं, पर विश्वास करो कि राग द्वेष हैं ।

मत विश्वास करो कि साधु असाधु नहीं हैं, पर विश्वास करो कि साधु असाधु हैं ।

मत विश्वास करो कि पुण्य पाप नहीं हैं, पर विश्वास करो कि पुण्य पाप हैं ।

मत विश्वास करो कि अश्रव संवर नहीं है, पर विश्वास करो कि आश्रव संवर है ।

मत विश्वास करो कि क्रिया अक्रिया नहीं है, पर विश्वास करो कि क्रिया अक्रिया है ।

मत विश्वास करो कि वेदना निर्जरा नहीं है, पर विश्वास करो कि वेदना निर्जरा है ।

मत विश्वास करो कि बन्ध मोक्ष नहीं है, पर विश्वास करो कि बन्ध मोक्ष है ।

मत विश्वास करो कि सिद्धि असिद्धि नहीं है, पर विश्वास करो कि सिद्धि असिद्धि है ।

मत विश्वास करो कि सिद्धि स्थान नहीं है, पर विश्वास करो कि सिद्धि स्थान है ।

भगवान्‌के इन अन्भवमय वचनको सुनकर ब्राह्मण पण्डित मन्-मुग्ध-से हो गये । उनके हृदयमें भगवान्‌के तत्त्वज्ञानके प्रति अनन्य श्रद्धा उत्पन्न हुई । उनके हृदयकी सारी जिज्ञासाएँ शांत हुईं और वे मूक भावसे नतमस्तक हो हाथ जोड़ भगवान्‌की ओर निर्निमेष दृष्टिसे ताकने लगे ।

प्रथम धर्मोपदेश

इसके बाद भगवान्‌ने गीतमादि पण्डितों और परिषदको धर्मोपदेश दिया । इस धर्मोपदेशमें छ जीवनिकाय, पाच महाव्रत और भावनाशोका विस्तृत वर्णन किया, ऐसा सूत्रमें उल्लेख है^१ । जीवनिकाय

१—आचाराग सूत्र श्रु २ अ० २४ १०२७, २८;

२—आचाराग सूत्र श्रु २ अ० २४ १०२८;

आवश्यक निर्युक्त २७१

वाला अंश आचारांग और दशवैकालिक सूत्रोमें अभी तक सगृहीत है^१ । पाच महाव्रतवाला अश आचारांग दशवैकालिक सूत्रमें उपलब्ध है^२ । पाठक इस उपदेशको उपर्युक्त आगमोमें देखे । देवोको जो उपदेश दिया गया और जो निष्फल गया, सम्भवतः वही फिर मनुष्योको दिया गया । इससे कहा जा सकता है कि भगवान्का प्रथम धर्मोपदेश यही था । .

: संघ-स्थापना :

वादविवाद और यह धर्मोपदेश सुननेके बाद इन्द्रभूति आदि ग्यारह ही पण्डितोकी भावनामें आमूल परिवर्तन हो गया । वे खड़े हो गये और भगवान्को तीन बार प्रदक्षिणा कर वदन-नमस्कार कर बोले—“हमें निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा हुई है, उसमें विश्वास हुआ है, रुचि हुई है । हम आपके प्रवचनके अनुसार जीवन वितानेके लिये तैयार हैं । आप कहते हैं वह सत्य है, असदिग्ध है ।” भगवान् बोले—“जैसी इच्छा हो, वैसा करो, प्रतिबन्ध न करो ।” पण्डितोंने अपने घरवालोकी आज्ञा ली । अपने केश मूडवा डाले और भगवान्के पाससे पांच महाव्रत ग्रहण कर अपने-अपने शिष्योके साथ प्रव्रज्या ली । भगवान्ने बतलाया—“इस प्रकार चलना, इस प्रकार रहना, इस प्रकार बैठना, इस प्रकार सोना, इस प्रकार खाना, इस प्रकार बोलना, और इस प्रकार प्राणो, भूत, जीव और सत्वके प्रति आत्म-सयमपूर्वक वर्तन करना ।”

१—आचारांग सूत्र श्रु० १ अ० १ उ० १-७, दशवैकालिक सूत्र अ० ४

२—आचारांग सूत्र श्रु० २, अ० २४ १०२९—१०८०

दशवैकालिक अ० ४

इस परिषद्में अनेक स्त्री-पुरुष मौजूद थे। चम्पानगरीके राजा वधिवाहनकी पुत्री ब्रह्मचारिणी आर्या वसुमति (चन्दनवाला) ने भी इस अवसर पर प्रव्रज्या ग्रहण की तथा और भी अनेक स्त्रिया प्रव्रजित हुईं।

भगवान्ने साधुओंको अलग-अलग समूहोंमें बाट उनके ९ गण बनाये। इन ९ गणोंकी देख-रेख इन्द्रभूति आदि उपर्युक्त ११ ब्राह्मण मुनियों पर आई। अतएव वे गणधर कहलाए।

भिक्षुणियोंका भार आर्या चन्दना पर छोड़ा।

इस समय अन्य अनेक पुरुष और स्त्रिया भी उपासक-उपासिकाए बनीं।

इस तरह मध्यम पावामें श्रमण, श्रमणी, उपासक और उपासिका रूप चतुर्विध सघकी नीव पड़ी।

: अनुशासन और व्यवस्था :

भगवान् बड़े कड़े अनुशासक थे। उनकी व्यवस्था-शक्ति बड़ी अद्भुत थी। भगवान्ने सघकी नीव बड़े सुन्दर तत्त्वों पर डाली थी। (१) आत्म-जय, (२) अहिंसा, (३) व्रत, (४) चिन्तन, (५) शील, (६) मैत्री (७) समभाव और (८) प्रमोद इन आठ तत्त्वोंके आधार पर ही सारी व्यवस्था चलती थी।

(१) आत्मजय : भगवान्की दृष्टि सम्पूर्णतः आध्यात्मिक थी। उन्होंने जगह-जगह कहा है "आत्मा ही वास्तवमें दुर्दम्य है, आत्माको ही जीतना चाहिए।" "आत्माकी जय यही परम जय है। आत्माके

१—कल्पसूत्र : स्थिरावली : १;

आवश्यक नियुक्ति गा० २६८-९

२—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० १ : १५

साथ ही युद्ध कर । आत्माके द्वारा आत्माको जीत^१ ।” “एक आत्माको जीत लेनेसे सब जीते जाते है^२ ।” भौतिक सुखोंमें डूबी हुई दुनियाके सामने ‘तप और सयम’^३ से आत्माको जीतनेका नारा उपस्थित करना —यही भगवान्के संत्रकी खास दृष्टि थी । ‘अपनेको जीतनेवालो’ का एक संघ स्थापित कर उन्होंने भौतिकवादको एक सगठित चुनौती देनेका बल दिया था । जो भी आध्यात्मिक साधना द्वारा आत्म-विजय करने का इच्छुक होता, वह सघका अङ्गी हो जाता । संघ आध्यात्मिक साधनाको बल प्रदान करता था तथा किसी प्रकारकी भौतिक उन्नतिकी आकांक्षी नहीं था । इस सघके अनुयायीकी साधना इहलोकके सुखके लिए नहीं हो सकती थी, परलोकके काम-भोगके लिए नहीं हो सकती थी, कीर्ति-श्लाघाके लिए नहीं हो सकती थी, पर केवल आत्मिक शत्रुओं पर विजय पानेकी दृष्टिसे हो सकती थी^४ ।

(२) अहिंसा : जिस तरह सघकी दृष्टि शब्द आध्यात्मिक थी, उसी तरह उसकी नीति सम्पूर्णतः अहिंसक थी । पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और चलते-फिरते—त्रस-जीव—इन छ प्रकारके जीवोंके प्रति सयमपूर्ण व्यवहार—यही अहिंसाकी परिभाषा थी^५ । जो मन, वचन, काया और करने, कराने, अनृमोदन करने रूप सर्व जीव-हिंसामें पापका विश्वास रखता, वही अहिंसक माना

१—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ६ : ३४, ३५

२—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ९ : ३६

३—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १ : १६

४—दशवंकालिक सूत्र अ० ९ उ० ४ : ३

सूत्रकृताग श्रु० २ अ० १ ५०

५—दशवंकालिक सूत्र अ० ६ . ९

जो महाव्रती बनते, उन्हें परिवार और घरका सम्बन्ध तोड़ अनागारी होना पड़ता^१ और आजीवनके लिए अहिंसाका महाव्रत अङ्गीकार करना पड़ता। उनकी प्रतिज्ञा होती—“हे भदन्त ! प्रथम महाव्रतमें सर्व प्राणातिपातसे विरमण करना होता है। हे भदन्त ! मैं सर्व प्राण-अतिपातका प्रत्याख्यान करता हूँ। सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर—जो भी प्राणी है, मैं उनकी मन, वचन, कायासे हिंसा नहीं करूंगा, न कराऊंगा, और न हिंसा करनेवालेका अनुमोदन करूंगा^२। त्रिविध-त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे—प्राणातिपात करनेका मूझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है। हे भदन्त ! मैंने अतीतमें प्राणातिपात किया, उससे हटता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपनी आत्माको उस पापसे छुड़ाता हूँ। हे भदन्त ! सर्व प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रतमें मैं अपनेको अवस्थित करता हूँ^३।”

इस अहिंसा महाव्रतकी रक्षाके लिए ठीक इसी रूपमें मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह तथा रात्रि-भोजन विरमण-रूप अन्य पांच महाव्रतको यावज्जीवनके लिए अङ्गीकार कर उनका सूक्ष्म रूपसे पालन करना होता था^४। उन्हें सर्व पापोंसे अपनी आत्माको सम्पूर्ण मुक्त रखना होता। उन्हें अपना जीवन बड़ा ही सादा और

१—उववाडि सूत्र : सू० ३४;

दसर्वकालिक सूत्र . अ० ४ : १८

२—दसर्वकालिक सूत्र . अ० ४ . १

३—दसर्वकालिक सूत्र . अ० ४ : १

४—दसर्वकालिक सूत्र . अ० ४ . २-६

ऋजु रखना होता था । वे आजोवन स्नान नहीं करते थे^१ । वे हजामत नहीं करवा सकते थे । उन्हें अपने केश हाथोंसे लोचने पड़ते^२ । उबटन, तेल, विलेपन, गन्ध, माल्य और विभूषा उनके लिए वर्ज्य थे^३ । वे आरसीका उपयोग नहीं कर सकते थे^४ । वे किसी प्रकारकी मचारीका उपयोग नहीं कर सकते थे—उन्हें पैदल यात्रा करनी हार्ती थी । वे पंरोमे जूते नहीं पहन सकते, सिर पर छत्र नहीं रख सकते^५, पखने पवन नहीं ले सकते थे । खटिया, पलग, आरामकूर्सी पर वे सो-व्रैठ नहीं सकते थे^६ । आखोंमें अजन डालना, दांतोंमें मिस्सी लगाना या वस्त्रों को सुगन्ध देना मना था^७ । ऐसा स्वावलम्बी सादा जीवन उनके लिए अनिवार्य-जरूरी था । उन्हें लघु—हल्का हींकर रहना होता ।

वे किसी प्रकारकी सम्पत्ति नहीं रख सकते थे^८; मठ, मन्दिर, घाट नहीं बनवा सकते थे^९ । गृहस्थोंके खाली मकान मांगकर रहना

१—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : २; अ० ६ : ८, ६२, ६३

२—सूत्रकृतांग : श्रु० २ अ० २ : ७२, ७३

३—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : २, ३, ५, ९; अ० ६ : ८, ६४;
सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ९ : १३

४—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : ३

५—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : ४; सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ९ : १८

६—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : ५; अ० ६ : ८, ५४, ५५;
सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ९ : २१

७—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : ९

८—उत्तराव्ययन सूत्र : अ० ३५ : १३, १९; अ० १०, : २९-३०

९—उत्तराव्ययन सूत्र : अ० ३५ : ८, ९

होता^१ । वे किसी प्रकारका कारवार, वाणिज्य-व्यापार नहीं कर सकते थे^२ । वे भौतिक विद्याओसे आजीविका नहीं कर सकते थे^३ ।

उन्हें भिक्षा-द्वारा आजीविका करनी होती; दत्तपान भोजन प्राप्त कर शरीर-निर्वाह करना होता^४ । गृहस्थोके घर स्वभाविक तौर पर पारिवारिक व्यवहारके लिए जो भोजन बनता, उसकी किसीको कष्ट दिये बिना गौवृत्ति व मधुकरी वृत्तिसे भिक्षा करनी पडती^५ । साधु अपने लिए कुछ नहीं बनवा सकते थे । उनके लिए भोजन नहीं बन सकता था । साधुको उद्देश्य कर बनाया हुआ या खरीदा हुआ आहार लेना मना था और अनाचार माना जाता था^६ । वे निमन्त्रण स्वीकार नहीं कर सकते थे, न गृहपात्रमे भोजन कर सकते या जल ही पी सकते थे^७ । निर्बीज और कल्प्य चीजे ही भिक्षामें ले सकते थे ।

१—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ ६

२—उत्तराध्ययन सूत्र . अ० ३५ : १४, १५

३—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० १५ : ७; अ० १७ : १८, अ० ८ : १३

सूत्रकृताग : श्रु० १ अ० २ उ० २ : २८,

श्रु० १ अ० ९ . १६

४—उत्तराध्ययन सूत्र . अ० ६ . १६

उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ : १५

दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ . १

५—सूत्रकृताग श्रु० २ अ० १ . ५५, ५६,

उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ १६

दसवैकालिक सूत्र . अ० ५ उ० १ : २, अ० १ १-४

६—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३५ १०, ११, १२,

दसवैकालिक सूत्र : अ० ६ . ४९, अ० ८ २३; अ० ३ २

७—दसवैकालिक सूत्र . अ० ६ ४९, अ० ३ २, अ० ३ ३,

सूत्रकृताग सूत्र : श्रु० १ अ० ९ : २०,

सजीव चीजे वर्ज्य थीं। उन्हें भिक्षा उतनीही लेनी होती, जितनी समय-निर्वाहार्थ शरीर धारण करनेके लिए जरूरी होती। वे दूसरे दिनके लिए सचय नहीं कर सकते थे, दीन-वृत्तिसे भिक्षा नहीं माग सकते थे, भाटकी तरह प्रशंसा कर भिक्षा नहीं ले सकते थे। न मिलने पर वे विपाद नहीं कर सकते थे और न न-देनेवालो पर कोप ही कर सकते थे। सामुदायिक दृष्टिसे—ऊच, नीच, मध्यम—सब कुलोसे निर्विशेष भावसे भिक्षा लानी होती। वे स्वादिष्ट भोजनवाले घरोंमें दौड नहीं लगा सकते थे। जो भिक्षा लाते, वह सबमें वांटकर खानी होती। जो नहीं वांटता, वह पापी श्रमण कहलाता। वे जूठन नहीं छोड सकते थे। भिक्षा करते समय अहिंसा

१—दसवैकालिक सूत्र . अ० ३ : ७-८

दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ . २७, अ० ८ . ६;

अ० ५ उ० २ : १४-२६, अ० ६ . ४८

२—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ १७ अ०, ८ : ११;

सूत्रकृताग : श्रु० १ अ० ८ : २५; श्रु० १ अ० ७ : २९

३—दसवैकालिक सूत्र : अ० ६ : १८-१९; अ० ८ : २४

४—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० २ . २८-३१, अ० ८ : २३;

सूत्रकृताग श्रु० १ अ० ७ : २५, २६

५—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ १४; ५ उ० २ : २७,

अ० १ : ५; अ० ८ . २३;

सूत्रकृताग श्रु० १ अ० ७ . २३, २४,

६—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ . १४

उत्तराध्ययन सूत्र . अ० १७ . ११

७—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० २ . १०

के नियमोपर उन्हें दृष्टि रखनी होती थी^१। वे कभी भी शराव आदि मादक पदार्थ ग्रहण नहीं कर सकते थे। मद्य-मास वर्जित था^२।

उन्हें चलनेमें बड़ी सावधानी रखनी होती, चलते समय चार हाथ प्रमाण भूमिको देखते हुए उपयोगपूर्वक चलना होता^३।

वे निरवद्य, मधुर, सयत, परिमितसत्य भाषा ही बोल सकते^४। अपनी हाजतको पूरी करनेके लिए वे पाखानो-पेशावधरोका उपयोग नहीं कर सकते थे, और वस्तीसे दूर एकान्त स्थलमें उन्हें अपनी हाजते पूरी करनी होती। उन्हें श्लेष्म-खँखार आदि दूर करनेमें विशेष नियमोका ध्यान रखना पड़ता था^५। अपनी चीजोको उन्हें झाड़-पोछकर रखना होता^६। पारिभाषिक शब्दोंमें कहे, तो उन्हें ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिका सम्यक् प्रकार पालन करना होता था^७। उन्हें अपना जीवन निर्मल और निष्पाप रखना होता था।

१—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ : ३-५, ८, १८, २०, २१,

२४, २५, २९-३७, ३९-४२, ४७-५४, ५७-७८,

अ० ५ उ० २ : ७, १०-१२, अ० ८ : २२,

सूत्रकृताग . श्रु० १ . अ० ९ . १९

२—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० २ . ३८-४०,

सूत्रकृताग . श्रु० . २ अ० २ : ७२

३—उत्तराध्ययन सूत्र . अ० २४ : ७, ८

४—दसवैकालिक सूत्र अ० ७ . ३, उत्तराध्ययन : अ० २४ : ९-१०

५—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २४ : १५-१८

६—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २४ : १३-१४

७—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २४

जो अपनेमें महाव्रतोको ग्रहण करनेका सामर्थ्य नहीं पाते, वे आदर्शमें विश्वास रखते हुए स्थूल व्रतोका पालन करते । उन्हें वारह व्रतोका पालन करना होता । उनकी प्रतिज्ञाओंमें स्थूल हिंसा-त्याग, स्थूल शठ-त्याग, स्थूल चोरी-त्याग, स्वदार-सतोप,—परदार-त्याग, स्थूल परिग्रह-त्याग, दिक्मर्यादा, उपभोग-परिभोग परिमाण, अप-ध्यानादि अनर्थदण्ड-त्याग, सामायिक—प्रार्थना, षोडशोपवास—ब्रह्मचर्य-पूर्वक उपवास और अतिथिसविभाग—इन १२ व्रतोका समावेश होता था^१ । व्रतोकी अपेक्षासे श्रमणोपासकका जीवन धार्मिक माना जाता और अन्नतकी अपेक्षासे अधार्मिक । इसी कारण श्रमणोपासकके जीवन को मिश्रपक्षी—धर्माधर्मी, वालपण्डित कहा गया है । इन व्रतोके स्थूल होनेसे व्रतकी मर्यादाके बाहर कितनी ही छूटें रह जाती थी । ये छूटे जीवनका अधर्म पक्ष मानी जाती—आदर्श-पालनकी आत्मशक्तिके अभावमें रखी हुई मानी जाती । जो इन छूटोका जितना कम करता, वह आदर्शके उतना ही मजदीक-समझा जाता था^२ ।

जो सम्पूर्ण व्रती थे, वे श्रमण, श्रमणी, और जो स्थूल व्रती थे, वे उपासक-उपासिका व श्रावक-श्राविका कहलाते । श्रमण-श्रमणी धर्म उपदेश देते, उपासक श्रवणकर स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर बढ़नेका प्रयास करते । श्रमण आदर्श-स्तम्भ थे । श्रावक आदर्शस्तम्भके प्रकाशमें चलते । श्रमण-श्रमणी उपासक-उपासिकाओंसे किसी प्रकारकी अनु-

१—औपपातिक सूत्र . सू० ३४ ;

उपासकदशा सूत्र : अ० १ : १२

२—सूत्रकृतांग श्र० २ अ० २ : ६०, ७७, ७८

श्र० २ अ० ४ : ३-१०

(५) शील : परस्परमें शील और सदाचारका ही नाता था । शील और सदाचारमें कमी आने पर साधु-साध्वी गणसे अलग कर दिये जाते थे । शिष्योको भी अधिकार दिया गया था कि असदाचारी, दुःशील आचार्योंको परित्यक्त कर सकें । संघकी नींव सदाचार, उपासना और गुण-पूजा पर अवस्थित थी । “भिक्षुक हो या गृहस्थ, जो सुव्रती होता है, वही दिव्यगति प्राप्त करता है” यह भगवानको शाश्वत शिक्षा थी । “दुःशील साधु नरकसे नहीं बच सकता और गृहवासमें ब्रसता हुआ भी सुव्रती शिक्षा-सम्पन्न हो तो देवलोक प्राप्त करता है” । “गृहस्थ सयममें श्रेष्ठ हो सकता है, पर सुशील साधु गृहस्थ सयमीसे हमेशा उत्तम होता है” । उपर्युक्त शिक्षामे भगवान्ने शीलकी महिमा बतलाई है और गृहस्थ-साधु सबको दुःशील छोड़ उत्तम से उत्तम सयमकी ओर आकृष्ट किया है । सयम और तपकी उपासना ही संघकी उत्तम साधना रही ।

(६) मैत्री : परस्पर व्यवहारमें मृदुता और मैत्रीभावको बहुत ही उच्च स्थान दिया गया था । साधु, श्रावक, साध्वी, श्राविका—सबको मैत्री-भावनाका उपदेश रात-दिन मिलता था । “सबको आत्माके समान मानो ।” “सब भूतोंके प्रति मैत्रीभाव रखो ।” परस्पर मनोमालिन्यको इन्ही भावोंकी उपासना द्वारा दूर रखा जाता है । आगममें ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं, जबकि मैत्रीभावनाके प्रसार

१—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २७ : १०, १६

२—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ५ २२

३—उत्तराध्ययन सूत्र . अ० ५ २२, २४

४—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ५ . २०

द्वारा उत्तमार्थसाधा गया। अतिमुक्तक नामक एक बालवयस्क कुमार साधु थे। एक बार उन्होंने वर्षाके जलको पालसे वांध, उसमें अपने पात्रको तिरा दिया। स्यविर साधुओंने पूछा—“भदन्त ! आपका कुमार श्रमण अतिमुक्तक कितने भव करनेके वाद सिद्ध होगा ?” भगवान् बोले—“वह इस भवको पूरा करके ही सिद्ध होगा। तुम लोग उसकी अवहेलना, निन्दा, तिरस्कार और अपमान मत करो, पर अम्लानभावसे उसकी सहायता करो, सम्भाल करो और सेवा करो।” इस तरह मृदुभाव—मंत्रोभावको जगा भगवान् सघमे बड़ा प्रेम और सीहार्द रखाते। ऐसी ही एक दूसरी घटना मिलती है। एक बार शख नामक एक श्रमणोपासकने अपने मित्रोके साथ सहूल करनेका तय किया। निश्चयानुसार मित्रोने भोजन बना डाला। पर वादमे शखने यह सोच कि इस तरह खान-पान, भोज शौक करना श्रेयस्कंद नहीं ब्रह्मचर्य रख, उपवास करते हुए पीपध ठान दिया। दूसरे दिन सुबह श्रमणोपासकोने उसे उलाहना दिया। भगवान् बोले—“आर्यो ! तुमलोग शखकी हीला, निन्दा, अपमान मत करो; कारण वह धर्ममे प्रीतिवाला और दृढ है। उसने प्रमाद और निद्राको त्याग धर्म जागरिका की है।” इसके वाद भगवान्ने वतलाया कि क्रोध करनेवालेकी कंसी दुर्गति होती है। श्रमणोपासकोने शखसे क्षमा मागी। हृदय-शुद्धि करानेका एक तीसरा प्रसंग इस प्रकार है—

श्रेणिकके पुत्र मेघकुमारने दीक्षा ली। रातमे उसकी शय्या अन्तमें होनेसे श्रमणोके आने-जाने और उनके पैरोकी धूल उसके शरीर पर

१—भगवती सूत्र : श० ५ उ० ४ : ११

२—भगवती सूत्र : श० १२ उ० १

गिरनेके कारण उसे नीचे न आई। खेद-खिन्न हो प्रातः होते ही उसने घर चले जानेकी ठान ली। सुबह भगवान्ने मेघकुमारको प्रतिबोधित करते हुए कहा—“हे मेघ ! पिछले भवमे तू हाथी था। वनमे दावानल सुलग गया, जगलके पशु एक जगह एकत्रित हो गये। तू भी उनमें था। तेरे शरीरमे खुजलाहट होने लगी। तूने शरीर खुजलानेके लिए एक पंर उचा उठाया। भीड़के दवावसे एक खरगोश उस पंरके स्थानमे आ घुसा। पंर रखनेका स्थान न रहा। कहीं खरगोश न मारा जाय इस भयसे तूने अपना पंर अधर रखा। इस तरह २॥ दिन तक तू तीन पंर पर ही खड़ा रहा। दावानल वृक्षा। खरगोश हटा। तूने पंर फँला जमीन पर रखनेकी चष्टा की। तीन पंरके बल खड़ा रहनेसे तेरा शरीर अकड़ गया और वही जमीन पर तेरी मृत्यु हुई। हे मेघ ! तूने पशु योनियोमें इतनी सहनशीलता—इतना समभाव दिखलाया, अब तो तुझमे अधिक बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम और विवेक हैं। भोग-विलास छोड़ तूने मेरे पास दीक्षा ली है। श्रमणोके आवागमनसे पडती धूलके कारण तू इतना व्याकुल हो गया ?” मेघ मारका मन शान्त हुआ। उसकी आखोमें हर्षाश्रु छा गये। वह बोला—“भदन्त ! आजसे मेरा यह शरीर श्रमणोकी सेवामें समर्पित है।” भगवान्ने उसे फिरसे प्रव्रज्या दी और वह किस तरह मयममें सावधान रहे यह बतलाया। भगवान् प्रेमभाव और परस्पर सद्भावना को किस तरह स्थापित करते, यह उसका ज्वलत उदाहरण है। मनमे जहा थोडासा भी खटास देखते उसे दूर करते और मंत्रीभावकी ऊर्मिया भर देते। एक अन्य घटना तो और भी हृदय-स्पर्शी है। एक बारका

प्रसंग है कि महाशतक नामक एक प्रतिमाधारी उपासक सलेपणा व्रत धारण कर पीपघशालामें धर्मध्यान कर रहा था। उसकी पत्नी रेवती इतनी क्रूर थी कि उसने अपने वारह सौतोको भीतके घाट उतार दिया था। वह गौ मांस और मदिरा तकका खान-पान करती। एक दिन मदनोन्मत्त हो, वह पीपघशालामें महाशतकके पास आई। वस्त्र गिरा दिए और विषयांध हो कहने लगी, “यदि तुमने मेरे साथ भोग नहीं भोगा तो स्वर्ग-मोक्षके सुख लेकर क्या होगा ?” महाशतककी क्रोध चढ आया। वह बोला—“अप्रार्थकी प्रार्थना करनेवाली ! काली चतुर्दशीकी जन्मी ! लज्जाहीन ! तू मात दिनके अन्दर रोगाक्रान्त हो मृत्यु प्राप्त कर नरकमें उत्पन्न होगी।” रेवती भयभीत हो गई। “न मालूम मुझे कैसी भीत मरना होगा।” भगवान्ने गीतमसे कहा—“जाओ गीतम ! गाथापतिसे कहो ‘श्रमणोपासकको खास कर अपश्चिम मरणान्तिक सलेपणा करनेवालेको सत्य होने पर भी अनिष्टकारी, अप्रिय, और अमनोज्ञ वचन कहना नहीं कल्पता। उसने रेवतीको संतापकारी वचन कहे हैं उसकी वह आलोचना करे’।” गौ मास खानेवाली, मदिरा पीनेवाली स्त्रीके प्रति भी उदार भावनाका स्रोत वहा भगवान्ने आलोचना करवाई। परस्पर व्यवहारमें जिसकी त्रुटि होती उसीको क्षमा-याचनार्थ कहते। साधु और श्रावक इनमें कोई भेद नहीं रखते थे। अपराधी साधु भी गृहस्थ उपासकसे क्षमा मागनेका पात्र होता। एक बार प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गीतम तकको भगवान्ने आनन्द श्रावकने क्षमा-याचना करनेके लिए भेजा था।

१—उपासकदसाओ : अ० ८

२—उपासकदसाओ : अ० १

(७) समभाव —ग्राध्यात्मिक क्षेत्रमें सबकी समानताके सिद्धान्तको सघ-सञ्चालनमें बड़ा उच्च स्थान दिया गया था । धनी निर्धनका अन्तर नहीं था । आर्य अनार्यका अन्तर नहीं माना जाता था । वर्णभेद, जाति भेद, गौत्र भेद, रूप भेद, शरीर भेदको स्थान नहीं था । सब प्रवर्जित हो सकते थे^१ । कुल मद, वर्ण मदको जघन्य और त्याज्य माना गया था । 'जातिकी कोई विशेषता नहीं होती, सयम और तपकी ही विशेषता होती है'—इस सिद्धान्तका व्यापक प्रचार था । 'जाति आदिका मद करनेवाले पुरुषकी जाति या कुल उसकी रक्षा नहीं कर सकते । अच्छी तरह सेवन किए हुए ज्ञान और चारित्रिके सिवाय कोई भी पदार्थ जीवकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं । 'जो गौरवी और श्लोककामी होता है वह निष्किञ्चन और रुक्षभोजी होने पर भी अज्ञानी है । वह पुन-पुन. ससार भ्रमण करेगा ।' 'धीर पुरुष मद स्थानोको अलग करे । जो धर्मी इनका सेवन नहीं करते वे सब गौत्रसे छुटे हुए महर्षि उच्च अगौत्र गति मोक्षको पाते है ।' 'मुनि गौत्र या दूसरी बातोका मद न करें ।' 'परनिन्दा पापकारिणी होती है यह जाने । 'यदि एक धनायक—स्वय प्रभु—चक्रवर्ती आदि हो और दूसरा दासका दास हो तो भी सयम मार्गमें आनेके बाद परस्पर व्यवहारमें लज्जा नहीं करनी चाहिए । सदा समभावसे व्यवहार करना चाहिए^२ ।

१—सूत्रकृताग सूत्र : श्रु० २ अ० १ . ३५

उत्तराध्ययन सूत्र . अ० १२ : १

२—सूत्रकृताग श्रु० १ अ० १३ : १०, १५,

उत्तराध्ययन सूत्र १२ : ३७

स्त्री पुरुष दोनोंको धर्म पालनका समान हक था। बुद्धके संघमें भी श्रमणियां थीं पर बुद्धने अपने शिष्य आनन्दके बहुत हट करनेके बाद ही स्त्रियोंके लिए प्रव्रज्याका मार्ग खोला था। वे बराबर कहते रहे—“मत रुचं कि स्त्रिया भी तथागतके दिखाए धर्म—विनयमें ऐसे वेधर हो प्रव्रज्या पावें।” स्त्रियोंके लिए आठ गुरु धर्म—सकीर्ण गर्तें थीं। जो स्त्रियां इन्हे स्वीकार करती वे ही प्रव्रज्या पा सकती। अन्त तक उनकी यह धारणा बनी रही कि स्त्रियोंको प्रव्रजित करनेसे संघकी आयुमें क्षीणता आ गई। “यदि तथागत प्रवेदित धर्म—विनयमें स्त्रियां प्रव्रज्या न पाती तो यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता, सद्धर्म सहस्र वर्ष तक ठहरता पर अब वह पांच सौ वर्ष ही ठहरेगा।” भगवान् बद्धमानने अपने संघमें श्रमण-श्रमणियोंका समान अधिकार रखा और स्त्रियोंकी पवित्र रहनेकी शक्तिमें कभी शंकाको स्थान नहीं दिया। साधु-साध्विया दोनोंके लिए सूक्ष्म ब्रह्मचर्यके नियम दिए। संघमें श्रमणियोंकी बहुत बड़ी सख्या होने पर भी भ्रष्टाचार जरा भी नहीं फल पाया। अत्यन्त कुशलता और दृढ अनुशासनशीलतासे ही यह सम्भव था।

(८) प्रमोदः—मैत्री भावनाके प्रचार द्वारा जिस तरह सहृदयता को कायम रखा जाता था उसी तरह प्रमोद भावनाके विकास द्वारा संघमें नवीन जीवन शक्तिको सदा संचारित रखा जाता था। जिस साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकामें गुण देखते, भगवान् उसकी प्रशंसा सबके सामने कर गुणमें आनन्द भावना—प्रमोद भावनाको जागृत करते। ऐसे प्रसंग मिलते हैं जब कि गृहस्थ उपासकको आदर्श बतला

अन्तर नहीं समझते थे । पूर्वोक्त श्रमणोंमें अनेक बहुश्रुत और श्रुतज्ञानी थे^१ । एकवार गणधर गौतम स्वयं पार्श्वपात्य केशीकुमारके पास गये थे और ज्येष्ठ तीर्थंकरके साधुओंके पास उनका जाना ही उन्हें ठीक प्रतीत हुआ था^२ । यह भी बहुमानका ही परिचायक था । इससे मालूम होता है कि भगवान्, पार्श्वनाथको अपना ज्येष्ठ तीर्थंकर मानते थे ।

केशी और गौतमके परम्पर सम्मेलनके बाद तो दोनों सघोंके शामिल होनेका मार्ग ही खुल गया। इस सम्मेलनका विस्तृत वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र अ० २३ में मिलता है, जिसका सार इस प्रकार है —

“लोकमें प्रदीप समान जिन तीर्थंकर पार्श्वनाथके विद्या और आचरणमें पारङ्गत केशाकुमार नामक एक महायशस्वी श्रमण थे । वे एक वार ग्रामानुग्राम विहार करते शिष्य सघके साथ श्रावस्ती नगरीमें आ पहुँचे और उस नगरके तिडुक नामक उद्यानमें प्रासुक शय्या-सस्तारक ग्रहण कर ठहरे । उसी असेमें लोकविश्रुत धर्मतीर्थंकर वर्द्धमानके महायशस्वी और विद्या तथा आचारमें पारङ्गत शिष्य गौतम भी शिष्य समुदायके साथ उसी नगरमें आ पहुँचे और कोष्ठक उद्यानमें ठहरे (१-८) ।

“उस समय उन दोनोंके शिष्य सघमें यह चिन्ता हुई ‘वर्द्धमान द्वारा उपदिष्ट पाच शिक्षावाला यह धर्म कैसा और महामुनि पार्श्व द्वारा उपदिष्ट यह चार यामवाला धर्म कैसा ? और अचेलक—वस्त्र

१—भगवती सू० अ० २ उ० ५ १३

उत्तराध्ययन अ० २३ ३

२—उत्तराध्ययन सू० अ० १३ १५

रहित रहनेकी वर्द्धमानकी आचार विधि कैसी और आतर तथा उत्तरीय वस्त्र पहननेकी पार्श्वकी आचार विधि कैसी ? एक ही कार्यके लिए उद्यत इन दोनोमें इस अन्तरका क्या कारण ?' (८-१३) ।

“अपने-अपने शिष्योके विस्मयको जानकर केशी और गीतम दोनो ने परस्पर मिलनेका विचार किया (१४) ।

“पार्श्वनाथके ज्येष्ठ कुलको देखकर विनयमार्गके जानकार गीतम, शिष्य सघसे परावृत हो, तिडुका उद्यानमे आये । गीतम स्वामीको आते देख केशीकुमार श्रमणने उनका उचित सत्कार और सम्मान किया और उनके बैठनेके लिए शीघ्र ही पलाल और कुशादि विछा दिये । इस अवसर पर अनेक अन्यतीर्थी और गृहस्थ कौतूहलवश एकत्र हो गये । (१५-१९)

‘केशीकुमार बोले : ‘हे महाभाग ! मैं कुछ पूछना चाहता हू’ । गीतम बोले . ‘भदत आपकी जैसी इच्छा’ । इस तरह अनुमति माग केशीने पाच याम चार यामके अन्तरका कारण पूछा और बोले : ‘क्या इस तरह दो प्रकारके धर्मसे आपको भ्रम नहीं होता ?’ (२१-२४)

“गीतम बोले : ‘प्रज्ञा द्वारा ही धर्मतत्त्वका ज्ञान किया जा सकता है । आरम्भके श्रमण ऋजुजड अर्थात् सरल पर जड थे । उनके लिए धर्म समझना मुश्किल पर पालन करना सरल था । बादके श्रमण वक्रजड थे । उनके लिए धर्म समझना सरल था, पर पालन करना कठिन । मध्यवाले श्रमण ऋजु प्रज्ञावाले थे । उनके लिए धर्मका समझना और पालन करना दोनो सरल थे । इसलिए पहले दो को पाच महाव्रत स्पष्ट रूपसे बतलाने पड़े और ऋजुप्रज्ञावालोको ब्रह्मचर्य अलग न बतलाते हुए चार याम कहे । दो प्रकारके धर्मका कारण यही है’ । (२५-२७)

‘केशी बोले : ‘भैरा दूसरा संशय यह है कि वर्द्धमानका धर्म अचेलक कैसे और महामुनि पार्श्वका आंतर तथा उत्तरीय वस्त्रवाला कैसे ?’ (२९-३०)

‘गौतम बोले. ‘अपने विशिष्ट ज्ञान द्वारा समझकर दोनो तीर्थङ्करो ने धर्म साधनके लिए जुदे-जुदे विधान दिए है । निश्चय नयसे तो ज्ञान, दर्शन, चरित्र ही मोक्षके साधन है । बाह्यवेश तो परिचयके लिए है तथा साधुको अपने लिंगकी सतत् याद दिलानेके लिए है, ताकि वह अपने धर्ममे दृढ रहे ।’ (३१-३३)

‘यह सुनकर केशी बोले : ‘हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा सुन्दर है । मेरे सशय छिन्न हुए ।’ (२८, ३४)

इसके बाद श्रमण महावीरके आध्यात्मिक विचारोको पार्श्वके आध्यात्मिक विचारोके साथ मिलाकर देखनेकी दृष्टिसे केशीकुमारने कितने ही गूढ प्रश्न किये । गौतमने उनका जो जवाब दिया उससे दोनो सघोकी आध्यात्मिक विचारसरणिमे केशी श्रमणको कोई अन्तर नहीं दिखलाई दिया और उनके सारे सशय छिन्न हुए । (३५-८५)

इस तरह सशय छिन्न होने पर घोर पराक्रमी केशीने महायशस्वी गौतमको भस्तकसे नमस्कार कर चरम तीर्थङ्करके सुखावह पाच महा-व्रतवाले धर्मको स्वीकार किया (८६, ८७)

उपर्युक्त प्रसंगसे स्पष्ट है कि केशीका सघ महावीरके सघके अन्तर्भुक्त हो गया । उल्लेख है कि केशी और गौतमके सघको परस्पर सघटित देखकर परिषद् तोषित हुई । केशीके इस विशाल सघके

अतिरिक्त और भी अनेक पार्श्वपात्य साधु थे, यह हम पहले लिख आये हैं। वे भी जैसे-जैसे सम्पर्क हुआ महावीरके श्रमण संघके साथ मिलते गये। गागेय अणगार और भगवान्‌के बीच वाणिज्यग्राममें अनेक प्रश्नोत्तर हुए। भगवान्‌के उत्तरसे उन्हें सर्वज्ञ जान गागेय उनकं श्रमण बने^१। निग्रन्थ उदक पेढालपुत्रको गीतमत्ते समझा, सघमें मिलाया^२। कालस्यवेपिपुत्रको भगवान्‌के स्थविरोने सघमें मिलाया^३। जो सघमें मिलते वे चार महाव्रतकी जगह पांच महाव्रत और प्रतिदिन प्रतिक्रमण करनेके नियम ग्रहण करते^४।

इस प्रकार दोनो सघोंके मिल जानेसे महावीरका सघ और भी बलवान् और सुदृढ हो गया। इस परस्पर एकीकरणसे महावीरके सघमें प्राचीन पूर्वोका ज्ञान रखनेवाले श्रमण भी कुछ आये होंगे। इस तरह ज्ञान बल और अनुभव बलकी दृष्टिसे भी संघको बड़ी शक्ति मिली होगी। प्राचीनताके मोहवश नवीनताकी उपेक्षाका जो भाव प्रायः रहता है, वह दूर हो गया और इससे प्रचार क्षेत्र और भी उन्मुक्त हो गया। साधु और गृहस्थ उपासकोकी सख्यामें वृद्धि होना तो स्वाभाविक था। परम्पर एकीकरणमें अनेकान्त दृष्टिका जो प्रयोग हुआ उससे एक बहुत बड़ा आदर्श भी भविष्यके लिए बन गया।

१—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३२ : १, ३४

२—सूयगडाग सूत्र : श्रु० २ अ० ७ : ३९-४०

३—भगवती सूत्र : श० १ उ० ९ : १५;

४—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३२ : १, ३४

सूयगडाग श्रु० २ अ० ७ : ३९-४०

भगवती सूत्र श० १ उ० ९ : १५

संघका विस्तार

ऐसी सुन्दर और दृढ व्यवस्थाके कारण सघकी दिनोदिन वृद्धि होने लगी। समय पा भगवान् वर्द्धमानके श्रमण श्रमणियोंकी सख्या अर्द्ध लाख हो गई जिसमें श्रमणोंकी सख्या १४००० और श्रमणियोंकी ३६००० रही। भगवान्के गृहस्थ श्रावकोंकी सख्या १,५९,००० और उपासिकाओंकी सख्या ३, १८००० हो गई^१। इतने बड़े सघका सचालन कोई साधारण बात न थी। भगवान् अनुपम शास्ता और नियामक थे इसी कारण इतने बड़े सघका इतनी सुव्यवस्थाके साथ सचालन करनेमें समर्थ हुए। भगवान्को, महागोप, महासार्थवाह, महाधर्मकथी, महानियामक आदि कहा गया है—इसका कारण यही है कि सघ सचालन और सगठनकी उनमें अद्वितीय क्षमता थी। जैन धर्म आज भी जीवित है उसका श्रेय चतुर्विध सघकी व्यवस्थाको ही है। दृढ व्यवस्थाके कारण ही जैनधर्म अनेक ज्ञान्वातोंको पारकर जीवित रह सका।

प्रथम संघ-विच्छेदक जमालि

सघ विच्छेद कर महावीरसे अलग होनेवालोंमें जमालि प्रसिद्ध है। भगवान्के निह्वोमें उसका नाम सर्वप्रथम आता है^२। जमालिके

१—‘चउद्दसहि समणसाहस्सीहि छत्तीसाए अज्जियासाहस्सीह सद्धि’—

औपपातिक सूत्र

कल्पसूत्र १३४-३७,

आवश्यक निर्युक्ति गा० २५९; २६३

२—स्थानाग सूत्र : स्था० ७;

औपपातिक सूत्र .

विशेषावश्यक गा० २३०६-७,

विषयमें भगवती सूत्र श० ९ उ० ३३ में जो विस्तृत वर्णन मिलता है, उसका सारांश इस प्रकार है.—

जमालि क्षत्रियकुडग्रामका क्षत्रिय कुमार था। वह महावीरकी बड़ी बहिन सुदर्शनाका पुत्र और महावीरका भागिनेय था। महावीरकी पुत्रीका विवाह भी उसीके साथ हुआ था^१। उसने ५०० पुरुषोंके साथ दीक्षा ली थी। एक बार उसने ५०० शिष्योंके साथ बाहरके देशोंमें विहार करनेकी अनुमति मागी। भगवान्ने उसकी बातको आदर नहीं दिया, न स्वीकार किया और मौन ही रहे। बार-बार अनुरोध करने पर भी जब भगवान् मौन ही रहे तब जमालि अपने आप पाच सौ साधुओंके साथ बाहरके देशोंकी ओर चल पडा।

एक बार जमालि साधुओंके साथ श्रावस्तीके कोष्ठक चैत्यमें आकर ठहरा। वहाँ 'उसके शरीरमें बड़ी व्याधि उत्पन्न हुई। पित्त ज्वरके कारण शरीरमें दाह उत्पन्न हो गया। उसने साधुओंको विस्तर विछानेके लिए कहा। जमालि वेदनासे व्याकुल था। वह धैर्य खो बैठा और तुरन्त हा साधुओंको पूछने लगा—'क्या विस्तर विछा दिया?' शिष्योंने कहा 'विछा दिया'। जमालि लेटने गया तो देखता है कि विस्तर विछाया जा रहा है। विस्तर पूरा विछे बिना जमालि सो न सका। जमालि सोचने लगा 'भगवान् महावीर तो क्रियमाण कृत वतलाते है। पर यह तो स्पष्ट है कि विस्तर विछाया जा रहा है, उसको विछाया गया नहीं कहा जा सकता।' जमालिने अन्य श्रमण निर्ग्रन्थोंको बुला महावीरके सिद्धान्तकी भूल बतलायी। कइयोंने यह बात मानी। कइयोंने नहीं। इस तरह कई जमालिको छोड महावीर

के पास चले आये । निरोग होने पर जमालि चम्पा नगरी गया । भगवान् महावीर भी उस समय वही विचर रहे थे । भगवान् के पास जा जमालि कहने लगा—‘आपके अनेक शिष्य अभी तक छद्मस्थ ही है परन्तु मैं तो उत्पन्न ज्ञान और दर्शनको धारण करनेवाला अर्हत्, जिन और केवली हूँ ।’ इस पर गौतमने प्रश्न कर उसे निरुत्तर किया । भगवान् बोले—‘हे जमालि ! तू तो गौतमके प्रश्नोका उत्तर ही न दे सका । मेरे अनेक छद्मस्थ शिष्य मेरी तरह ही गौतमके प्रश्नोका उत्तर देनेमें समर्थ है फिर भी वे तेरी तरह ऐसा नहीं कहते कि हम सर्वज्ञ और जिन है ।’

इसके बाद जमालि फिर दूसरी बार हमेशाके लिए निकल पड़ा । अन्तिम बार अलग होते समय जमालिके साथ कितने साधु रहे—इसका उल्लेख नहीं मिलता पर यह अनुमान लगाना गलत न होगा कि उस समय उसके साथ सैकड़ों ही साधु रहे होंगे । उसका वाद ‘बहुव्रत’ नामसे प्रसिद्ध हुआ । इससे अनुमान होता है कि महावीरके सिद्धान्तके ‘खण्डनके साथ-साथ उसने एक मतवाद भी दिया ।

महावीरके ‘क्रियमाण कृत’ सिद्धान्तका अर्थ था जो कार्य शुरू कर दिया वह हो गया । जिस तरह किसीने कपड़ा बुनना शुरू किया तो वह बन गया । उनका कहना था कि अन्तिम क्रिया पहली क्रियाके विना नहीं हो सकती । पहली क्रियामें कपड़ा बना तभी अन्तिम क्रियामें कपड़ा बना । पहले समयमें यदि कपड़ा नहीं बना तो अन्तिम समयमें भी नहीं बन सकता । काम शुरू होते ही पूरा होता है । एक मनुष्य खोरी करनेके लिए निकलता है । दूसरेके घरमें घुस जाता है

पर जागरण हो जानेके कारण चोरी नहीं कर पाता । भगवान् महावीरके सिद्धान्तोके अनुसार जिसने चोरीकी भावना कर ली उसने चोरी भी कर ली । जो चोरीके लिए निकल पडा वह चोर हो चुका फिर भले ही वह जागरण हो जानेसे चोरी न कर पाया हो । जमालिका मत था बहुरतवाद, जिसका अर्थ होता है बहु—प्राय पूरा होने पर पूरा होनेकी रत—सज्ञा हो जिसकी । उसका मत था कि कार्य सम्पूर्ण होने पर ही सम्पूर्ण कहा जा सकता है । अन्तिम क्रिया सिद्ध होने पर ही पहली सार्थक या सफल होती है । चोरी कर चुकने पर ही किसी को चोर कहा जा सकता है ।

भगवती सूत्रके उपर्युक्त स्थलमें ही उल्लेख है कि महावीरसे अलग होनेके बाद जमालि असत्यभाव प्रकट करता, मिथ्यात्वके अभिनिवेश द्वारा अपनेको तथा दूसरोको भ्रान्त करता एव मिथ्या ज्ञानवाला होकर अनेक वर्षों तक साधु वेशमें रहा ।

इससे स्पष्ट है कि जमालि अनेक वर्षों तक महावीरका प्रतिस्पर्धी रहा तथा अपनेको 'सर्वज्ञ' और 'जिन' कहता रहा । उसने महावीर और उनके निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके विषयमें अनेक भ्रान्तिया फैलायी ।

इतिहासज्ञोका कहना है कि जमालिकी दीक्षा केवलज्ञान प्राप्ति के बादके प्रथम चातुर्मासके शेष होनेके बाद हुई थी । अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्तिके प्राय. एक वर्ष बाद हुई थी । ५०० शिष्योको ले प्रथम बार अलग विहार करनेकी घटना भगवान् महावीरके केवलज्ञानी होनेके बारहवें वर्षमें, श्रावस्तीमें 'बहुरत' वादकी प्ररूपणा १४ वे वर्षमें और चम्पानगरीमें हमेशाके लिये अलग हो जानेकी घटना केवलज्ञानके

१५ वे वर्षमें घटी होगी^१। जमालिका देहान्त तो महावीरके जीवन कालमें ही हो गया था ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है^२।

जमालिके साथ उसकी पत्नी (महावीरकी पुत्री) प्रियदर्शना भी १००० साध्वियोंको ले महावीरसे अलग विहार करने लगी थी परन्तु ढक नामक महावीरके एक कुम्हार उपासकने उसे पुन प्रतिबोधित किया और वह जमालिका अनुसरण करना छोड़ समस्त साध्वियोंके परिवारके साथ भगवान्के पास आ प्रायश्चित्त ले शुद्ध हुई^३। ऐसा उल्लेख है कि इस घटनाके बाद जमालिके साथ रहे हुए भगवान्के अन्य साधु भी उसका साथ छोड़ भगवान्के साथ मिल गये^४। यह घटना जमालि चम्पापुरीमें अन्तिम बार छूटा उसके पहले घटी या बादमें इसका ठीक-ठीक अन्दाज लगाना अभी तो कठिन ही हो रहा है।

प्रतिस्पर्धी गोशालक

गोशालक आजीविक सम्प्रदायका नेता था। भिक्षा और आहारके विषयमें अन्य नियमोंकी अपेक्षा कड़े नियम पालन करनेके कारण ही उसके अनुयायियोंका नाम आजीविक पडा मालूम देता है। लोग उपहास्यमें कहते होंगे—ये तो केवल आहार विषयक कड़े नियमोंका पालन करते हैं। इसलिए महज आजीविक है। गोशालकको गर्व होगा कि सच्चे ढंगसे कोई आजीविका—भिक्षा करते हैं तो उसके साधु ही। वे ही सम्यक् आजीविक हैं। अत उपहास्यमें दिये गये इस

१—महागीर कथा पु० २६८-२६९, २७३ फुट नोट ३,

विशेषावश्यक गा० २३०६, महावीर कथा पु० २७८ फुट नोट

२—भगवती सूत्र श० ९ उ० ३३ . ९१

३—विशेषावश्यक . गा० २३०७

४—उपराक्त

आजीविक नामकरणको अपने सम्प्रदायकी विशेषताको ठीक-ठीक व्यक्त करनेवाला समझ गोशालकने उसे अपना लिया होगा और खुद भी अपनेको व अपने अनुयायियोंको आजीविक कहने लगा होगा ।

बौद्ध ग्रन्थ^१ और जैन आगम^२ दोनोंमें ही आजीविकोके भिक्षा नियमोका उल्लेख मिलता है जिससे पता चलता है कि आजीविक साधुओके भिक्षा-नियम निर्ग्रन्थ साधुओके नियमोसे मिलते-जुलते और उतने ही कठोर थे । कई नियम तो विशेष उग्र और कठिन थे । इममे आजीविक नाम पडने या रखनेका अनुमान ठीक ही मालूम देता है ।

आजीविक साधु नग्न रहते थे^३ । बौद्ध उल्लेखके अनुसार गोशालक तपको पसन्द नहीं करता था^४ । जैन साहित्यके अनुसार आजीविक तपस्वी होते थे^५ । आजीविक श्रावक त्रसप्राणियोंकी हिंसासे विवर्जित व्यापार द्वारा आजीविका करते थे^६ ।

गोशालक उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम नहीं मानता था और सर्व भाव नियत मानता था^७ । उसका कहना था—
“इस लोकमें दो प्रकारके पुरुष होते हैं । एक क्रियाका आख्यान

१—मज्झिम निकाय (महासच्चक सुत्त) पृ १४४ तथा टि० १

२—उववाई (जीवन ग्रन्थमाला) सूत्र ४१ पृ० ८७

ठाणाग सूत्र (४-२-३१०)

३—मज्झिम निकाय (महासच्चक सुत्त) पृ० १४४

४—सयुक्त निकाय—२०३-१० ;

५—ठाणाग सूत्र ४-२-३१०

६—भगवती सूत्र श० ८ उ० ५ : ५

७—उपासक दसा सूत्र अ० ६ और अ० ७ : १७-२०

करते हैं और दूसरे आख्यान करते हैं कि क्रिया नहीं। ये दोनों ही पुरुष तुल्य हैं। दोनों एक अर्थवाले और वस्तुओंके समान कारण बतलानेवाले हैं। वे दोनों बाल—मूर्ख हैं। वे कहते हैं— 'मैं जो दुःख भोग रहा हूँ, शोक पा रहा हूँ, अश्रुपात कर रहा हूँ, पीटा जाता हूँ, परिताप पा रहा हूँ, पीड़ा पा रहा हूँ वह सब मेरे कर्मका फल है। दूसरे भी जो दुःखादि पाते हैं वे सब उनके कर्मका फल हैं।' वे दुःख सुखको कृत समझते हैं। पर बुद्धिमान पुरुष तो यह समझता है कि मेरे ये दुःखादि मेरे कर्मके फल नहीं हैं न दूसरेके दुःखादि उसके कर्मके फल हैं। उन सबका कारण नियति है। छत्रो दिशाभोमें जो त्रस स्थावर प्राणी हैं वे नियतिके प्रभावसे ही शरीर सम्बन्ध प्राप्त करते हैं, नियतिके कारण ही शरीरसे पृथक् होते हैं और नियतिके कारण ही कुबड़े, काने आदि नाना अवस्थाको प्राप्त करते हैं। "दुःख स्वयं कृत नहीं है। दूसरेका किया हुआ कष्ट हो सकता है? सिद्धिसे उत्पन्न वा सिद्धिके बिना उत्पन्न सुख दुःख प्राणी अलग अलग भोगते हैं। सुख दुःख स्वयं या दूसरे द्वारा किया हुआ नहीं है वह नियतिकृत है।"

बौद्ध आगमोंमें गोशालकका सिद्धान्त निम्न रूपमें बतलाया गया है। "सत्त्वोंके क्लेशका हेतु नहीं है, प्रत्यय नहीं। बिना हेतुके बिना प्रत्ययके ही सत्त्व क्लेश पाते हैं। सत्त्वोंकी बुद्धिका कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नहीं। बिना हेतुके बिना प्रत्ययके सत्त्व बुद्ध होते हैं। स्वयं कुछ नहीं कर सकते हैं, दूसरे भी कुछ नहीं कर सकते हैं, (कोई) पुरुष भी कुछ नहीं कर सकता है, बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुषका कोई पराक्रम नहीं है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी

जीव निर्बल, निर्वीर्य, नियति—भाग्य और सयोगके फेरसे छ. जातिधोमे उत्पन्न हो, सुख और दुःख भोगते हैं।.....यह नहीं है—'इस शील या व्रत या तप, ब्रह्मचर्यसे मैं अपरिपक्व कर्मको परिपक्व करूंगा। परिपक्व कर्मको भोगकर अन्त करूंगा। सुख दुःख द्रोण (=नाप) से तुले हुए हैं, संसारमें घटना-बढ़ना उत्कर्ष अपकर्ष नहीं होता। जैसेकि सूतकी गोली फेकने पर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर=आवागमनमें पडकर, दुःखका अन्त करेगे।'

गोशालक बद्ध, न-बद्ध न-मुक्त और मुक्त—ऐसी तीन अवस्थाएँ मानता था। वह अपनेको मुक्त—कर्म-लेपसे परे मानता था। वह कहता था कि मुक्त पुरुष स्त्रीसे सहवास करे तो भी उसे भय नहीं^१।

इससे प्रतीत होता है कि आजीविक सम्प्रदायमें ब्रह्मचर्यके नियम शिथिल रहे होंगे और स्त्री-सम्पर्कको उतना त्याज्य नहीं समझा जाता होगा जितना कि महावीर और बुद्धके सधमें।

गोशालकने महावीरसे दो वर्ष पहले घर्म प्रचार शुरू किया था और १६ वर्ष तक आजीविक आचार विचारका प्रचार करता रहा। घर्माचार्यके रूपमें वह इतना प्रसिद्ध हो गया था कि जोग उसे तीर्थङ्कर कहने लगे थे। शङ्का निवारणके लिए मगधराज अजातशत्रु कुणिकका जिन विख्यात आचार्योके यहाँ जानेका उल्लेख है, उनमें महावीर और बुद्धके साथ गोशालकका भी नामोल्लेख है। बौद्ध साहित्यमें गोशालकको सधी गणी गणाचार्य, सुविख्यात, यशस्वी, साधुसमत,

१—मज्झिमनिकाय सन्दक सुत्त पृ० ३०१;

दीघनिकाय (सामञ्जसफल सुत्त) पृ० २०

२—महावीर कथा : पृ० १७७

चिरदीक्षित, और तीर्थंकरके विशेषण मिले हैं। उसके लिये 'बृहत् लोगोका श्रद्धास्पद'" यह विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है। इनसबसे अनुमान होता है कि उसके अनुयायियोंकी संख्या काफी बृहद् रही होगी।

भगवान् महावीरके श्रावक कुडकीलिकने नियतिवादका खडन किया था, जिससे भगवान्ने परिषद्में उसकी प्रशंसा की थी। खुद महावीरने भी गोशालकके नियतिवादका खडन किया था। बाजीविक उपासक सद्दालपुत्रको उन्होंने अपना उपासक बनाया था^१।

भगवान् महावीरके साथ गोशालकका एक समय अगत सम्बन्ध था। उनके साधक जीवनमें गोशालकके प्रसंगसे अनेक घटनाएँ घटी थी^२ और तीर्थंकर जीवनमें तो एक बड़ी ही कष्टकारी घटना घटी। इस घटनाका उल्लेख भगवती सूत्रमें मिलता है^३। इस का वर्णन संक्षेपमें हम कहा करते हैं —

एक वार महावीर श्रावस्ती नगरीमें पधारे। वहा कोष्ठक चैत्यमें ठहरे। गोशालक इसी नगरीमें बाजीविका उपासिका हलाहलाके हाटमें रहता था। गीतम भिक्षाके लिए निकले। उन्होंने सुना गोशालक अपनेको जिन, अर्हत्, केवली, सर्वज्ञ कहता है। वापिस आने पर

१—मज्झिमनिकाय . (चूल सारोपम सुत्त) पृ० १२४;

दीघनिकाय : (सामञ्जसफल सुत्त) पृ० १७-१८,

दीघनिकाय . (महापरिनिब्बान सुत्त) पृ० १४५;

सुत्तनिपात . (समिय सुत्त) पृ० १०८

२—उपासक दसा सूत्र अ० ६ : ४-७; अ० ७

३—भगवती सूत्र . श० १५ . ४३-४६; ५६—५८, ४८-५३

४—भगवती सूत्र . श० १५ : ८७-१०५; १४१

गीतमने गोशालकके इस कथनकी सत्यताके विषयमें भगवान्से प्रश्न किया । भगवान्ने उमके विषयमें निम्नलिखित वाते वतलाई :

“दीक्षाके बाद मैं नालदाके बाहर ततुवायशालामें दूसरा वर्षावाम विता रहा था । गोशालक उसी वर्षावासमें वहा आया और जहा में ठहरा हुआ था वही पासमें ठहरा । वर्षावासके बाद जब विहार कर में कोल्लाक सन्निवेशकी बाहर भूमिमें पहुँचा उस समय शाटिका (अन्दर के वस्त्र), पाटिका (ऊपरके वस्त्र), कडी, जूते और चित्रपट ब्राह्मणोको दे, दाढी मूछ मुडवा गोशालक मेरे पाम आया और हर्षित मनसे प्रदक्षिणा कर बोला — ‘आप मेरे धर्माचार्य हैं और मैं आपका शिष्य ।’ मैंने उसकी यह वात स्वीकार की । इसके बाद छ. वर्ष तक हम साथ रहे । एक वार वेश्यायन नामक एक तपस्वीने ‘जूओके मिजमान’ कहनेसे क्रुद्ध हो गोशालकको भस्म करनेके लिए तेजालेश्या छोडी । गीत तेजालेश्या छोड मैंने गोशालककी रक्षा की । उसी समय गोशालक के पूछने पर मैंने उसे तेजालेश्या प्राप्त करनेकी विधि वतलाई । इसके बाद मुझसे अलग हो छ महीने तक मेरी वतलाई विधिसे तपस्या कर उसने तेजालेविधि प्राप्त की । इसके बाद उसने अष्टाग निमित्तका कुछ ज्ञान भी प्राप्त कर लिया । वह लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जीवन-मृत्युके विषयमें सच्चे उत्तर दे सकता है । पर हे गीतम ! गोशालक जो यह कहता है कि जिन हू, अर्हत् हू, केवली हू सर्वज्ञ हू वह असत्य है ।”

अब यह वात रास्ते-रास्ते फँल गई कि गोशालक अपनेको जिन नहीं होते हुए जिन आदि कहना है । गोशालक यह सुनकर आग-बदला हो गया ।

भगवान्के आनन्द नामक तपस्वी भिक्षु भिक्षाके लिए आवस्ती

पधारे । गोशालक उनमें बोला—“हे आनन्द ! तुम्हारे धर्माचार्य और धर्मापदेशकने उदार अवस्था प्राप्त की है और देव मनुष्य आदिमें उसकी कीर्ति हुई है पर यदि वह मुझसे इस तरह छेड़-छाट करता रहा तो अपने तपके तेजमें मैं उसे भस्म कर डालूंगा । जाकर अपने धर्माचार्यसे यह सब कह ।”

आनन्दने भटपट जाकर नारी वात भगवान्से कही । भगवान् बोले—“अपने तपके तेजसे वह चाहे जिसकी शंभ्र भस्मराशि करनेमें समर्थ है पर उसके तेजसे अनन्तानन्त गुण विशिष्ट तपोवल क्षमाके कारण अरिहत्तका होता है । उनको वह दग्ध करनेमें समर्थ नहीं । केवल दुःख उत्पन्न करनेमें समर्थ है । आनन्द ! जा, गीतमादिसे कह—‘मखलिपुत्र गोशालकने श्रमण निर्यन्थोंके प्रति विशेष रूपसे मित्यात्व—म्लेच्छभाव, अनार्यभाव धारण किया है । अत आर्यों ! तुम लोग गोशालकसे किसी तरहका वाद-विवाद न करना’ ।”

आनन्द गीतमादिको यह बात कह ही रहा था कि कुभारिनके हाटसे निकल अपने सधके साथ गोशालक शीघ्र गतिसे चलता कोष्ठक चैत्यमें पहुँचा और बोला—“हे आयुष्मन् काश्यप ! ‘मखलिपुत्र गोशालक मेरा धर्म सम्बन्धी शिष्य है’—यह जो कहते हो वह ठीक है पर तुम्हारा शिष्य तो मरण या देवरूपमें उत्पन्न हुआ है । मैं तो कौडिन्य गोत्रीय उदायी हू । मैंने गीतमपुत्र अर्जुनके शरीरका त्यागकर मखलि गोशालकके शरीरको समर्थ, द्रुव, परिपह और उपसर्ग सहनमें वलिष्ठ समझ उसमें प्रवेश किया है ।”

भगवान्ने कहा “यह तो अपनेको तिनकेकी आडसे छिपाने जैसा है । ऐसा करना तुम्हें योग्य नहीं । परन्तु तुम्हारा ऐसा ही स्वभाव है, दूसरा नहीं ।”

अब गोशालक और भी क्रुद्ध हो तमतमा उठा। भगवान्‌के शिष्य सर्वाभूति और सुनक्षत्रने इस तरह अनार्य भाव न दिखलानेके लिए समझाया पर उल्टा गोशालकने तेजोलेश्या छोड़ दोनोको भस्मकर डाला।

महावीरने भी गोशालकको शान्त करनेकी चेष्टा की पर गोशालक ने अत्यन्त क्रुध हो तँजस समृद्धघात कर, ७-८ कदम पीछे जा शरीरसे, तेजोलेश्या छोड़ी; पर जिस तरह वायुका बवडर दीवाल या स्तूपका कुछ नहीं कर सकता उसी तरह वह तेजोलेश्या भगवान्‌का वध करनेमें असमर्थ रही। वह गमनागमन करने लगी, प्रदक्षिणा देने लगी और ऊचे आकाशमें उछल बहासे स्खलित हो मखलिपुत्र गोशालकके शरीरको जलाती उसके शरीरमें ही प्रवेश कर गई। गोशालक भगवान्‌ से बोला—‘मेरी तपोजन्य तेजोलेश्यासे पराभव प्राप्त कर तू छः मास के अन्तमें पित्तज्वरसे छद्मस्थ अवस्थामें मरण प्राप्त करेगा’। भगवान्‌ बोले—‘मैं तो सोलह वर्ष और जिन तीर्थङ्करके रूपमें विचरण करूंगा। पर तू अपने ही तेजसे पराभव प्राप्त कर सात दिनके अन्तमें पित्तज्वरसे तीडित हो छद्मावस्थामें ही मरण प्राप्त करेगा’।

जिस तरह तृण, काष्ठ, पत्ते आदिका ढिग अग्निसे सुलग जानेंपर नष्ट तेज होता है उसी तरह तेजोलेश्या निकाल गोशालक नष्टतेज हो गया। श्रमणोंने अब उसके साथ चर्चा शुरूकी। गोशालक किसी भी श्रमणको हानि नहीं पहुँचा सका। इससे अनेक आजीविक स्यविर गोशालकको छोड़ श्रमण भगवान्‌ महावीरके सधमें आ मिले।

अब गोशालकके शरीरमें तीव्र दाह उत्पन्न हुआ, उसे अपना अन्त दिखाई देने लगा। सात रात्रि पूरी हुई। अब गोशालकका मिथ्यात्व दूर हुआ। उसने अपने स्यविरोसे कहा—‘मैं ‘जिन’ नहीं हूँ झूठ ही-‘जिन’ कहलाता रहा। भगवान्‌ महावीर ही सच्चे ‘जिन’ हैं। मैं तो

श्रमणघाती और आचार्यद्वेषी हू।" सात दिनोंके बाद गोशालक मृत्यु प्राप्त हुआ।

इसके बाद श्रमण भगवान् महावीर श्रावस्ती नगरीसे मेट्टियग्राम नामक नगरके बाहर साणकोष्ठक नामक चैत्यमें आकर ठहरे। वहाँ महावीरको महापीडाकारक पित्तज्वरका दाह हुआ। लोहूकी टट्टिया होने लगी। भगवान्के शिष्य सिंह नामक अणगार कुछ दूरपर तप कर रहे थे। वे यह सुनकर रुदन करने लगे। भगवान्ने निर्ग्रन्थोको भेज उन्हें बुलाया और आश्वासन देते हुए बोले—“मैं तो अभी सोलह वर्ष और जीऊंगा। इस गावमें रेवती गृहपत्नीने दो कपोत शरीर (एक प्रकारके फलका मुरब्बा) मेरे लिये तैयार किये हैं। उसके यहाँ जा और कह 'वे मेरे कामके नहीं' परन्तु उसने जो दूसरोके लिए मार्जार कृत कुकुर्ड भास (एक प्रकारके फलका मुरब्बा) तैयार किया है वह ले आ।" यह सुन सिंह अणगार रेवतीके यहाँ गये और भिक्षा माग लाये। महावीरने सर्प जिस तरह बिलमें प्रवेश करता है, उसी तरह, आसक्ति रहित, उस पाकको शरीररूपी कोठेमें डाल लिया। इससे उनका पीडाकारी रोग शान्त हुआ और सब प्रसन्न हुए।

महावीरके निरोग हो जानेके बाद उनकी ख्याति और भी फैली। लोगोंने उन्हें सचवा 'जिन', 'केवली' जाना और उनके प्रति और भी अधिक श्रद्धाभाव रखने लगे।

परिनिर्वाण

•

•

•

भगवान्का जीवनकाल

भगवान्का कुल आयुष्य ७२ वर्षका बतलाया गया है^१। भगवती सूत्र श० १५ में भगवान् महावीर और गोशालकके परस्पर सम्बन्धका जो विस्तृत जिक्र है और जिसका सार ऊपर दिया जा चुका है उससे भी भगवान्की आयुष्य अवधि ७२ वर्षकी ही निकलती है^२। उसमें उल्लेख है कि महावीरने दीक्षा ली तब वे ३० वर्षके थे (श० १५ : २०)। दूसरे वर्षावासके अन्तमें कोल्लाग संनिवेशकी बाहर भूमिमें गोशालक उनका शिष्य बना था (श० १५ : २१, ३५, ३७, ३९, ४०, ४१)। भगवान्की दीक्षा भिगसर वदी १० के दिन हुई थी (आचा० श्रु० २ अ० २४ : १०१७)। दीक्षा दिनसे दूसरे वर्षावास तक २ वर्ष होते हैं। इस तरह गोशालकको शिष्य स्वीकार करनेके पहले दो वर्ष बीते। शिष्य होनेके बाद गोशालक छः वर्ष तक भगवान्के साथ रहा (श० १५ : ४२)। सब जीव मर कर उसी शरीरमें उत्पन्न होते हैं—इस परिवर्तके बाद और तेजोलेख्याकी विधि जानकर सिद्धार्थ ग्राममें

१—आवश्यक निर्युक्ति गा० ३०५

२—Uvasagdasao (Translation By Dr. Hoernle)

गोशालक भगवान्से बलग हुआ था (श० १५ : ६१-६२) । श्रावस्ती में महावीर और गोशालक मिले उस समय गोशालक २४ बें वर्षकी दीक्षा पर्यायवाला था (श० १५ : ४) । इस २४ वर्षकी दीक्षा पर्यायमें ६ वर्ष महावीरके साथ बीते (श० १५ : ४२) । इस तरह १८ वर्ष बाद श्रावस्तीमें दोनोकी वापिस भेंट हुई । गोशालककी मृत्युके बाद महावीर १६ वर्ष तक जीवित रहे (श० १५ : १०८, १४८) । उपर्युक्त वर्णनसे महावीरकी जीवन-अवधि ७२ वर्षकी निकलती है, यथा,—

दीक्षाके समय अवस्था	३० वर्ष
गोशालकको शिष्य स्वीकार करनेके पहले बीते	२ "
गोशालक-शिष्य रूपमें साक्ष रहा	६ "
गोशालकसे श्रावस्तीमें भेंट हुई उसके बीचका समय	१८ "
गोशालकके बाद जीवित रहे	१६ "

कुल आयु ७२ वर्ष

‘इस ७२ वर्षकी आयुमें ३० वर्ष कुमारवस्थामें बीते’ । १२ वर्ष केवलज्ञानके पहले छद्मस्थावस्थामें^१ और अवशेष ३० वर्ष तीर्थंकर जीवतमें ।

१—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १००७;

आवश्यक निर्युक्ति गा० २८९

भगवती सूत्र : श० १५ : २०

२—आचारांग श्रु० २ अ० २४ : १०२०, १०२४;

आचारांग श्रु० १ अ० ९ उ० २ : ४८७;

आवश्यक निर्युक्ति : गा० २४०

श्रावस्तीमें १८ वर्षके बाद दोनो मिले थे । उस समय गोशालकको 'जिन' घोषित हुए १६ वर्ष हो चुके थे (श० १५ : ९३) । इस तरह महावीरसे अलग होनेके २ वर्षके बाद गोशालकने अपनेको 'जिन' घोषित किया । गोशालकने महावीरसे अलग हो छः महीनेकी तपस्या कर तेजोलेख्या सिद्ध की । कुछ काल निमित्त ज्ञान प्राप्त करनेमें विताया । दो वर्षका समय इसी तरह निकला होगा । महावीर गोशालकके अलग होनेके ४ वर्ष [१२ में से ८ (६+२) वर्ष घटा देनेसे] बाद 'जिन' घोषित हुए । इस तरह महावीरके केवलज्ञान प्राप्त करनेके दो वर्ष पहले ही गोशालकने अपनेको 'जिन' घोषित किया ।

निर्वाण भूमि और निर्वाण

भगवान्का अन्तिम चातुर्मास मध्यम पावामें हुआ । यह चातुर्मास हस्तिपाल राजाकी रज्जुक सभामें हुआ था । इसी वर्षवासमें कार्तिक कृष्णा अमावस्याकी रातकी अन्तिम घड़ियोमें स्वाति नक्षत्रके समय भगवान्का निर्वाण हुआ । इस देहको छोड़ और जन्म, जरा, मरणके बधनको छेद वे सिद्ध, बृद्ध और मुक्त हुए । अन्तिम दिन भगवान् पिछली रात तक उपदेश धारा बहाते रहे । अन्तिम घड़ी ज्यो-ज्यो नजदीक आ रही थी, भगवान्की उपदेश धारा द्रुतवति होती जा रही थी । भगवान्ने अपने उपदेशमें पुण्य और पापके फल विषयक ५५।५५ अध्ययन और अपृष्ठ विषयोके ३६ अध्ययन कहे ।

भगवान्को उस दिन छट्ठभक्तका उपवास था । वे पर्यकासनमें स्थिर हो गये । धीरे-धीरे मन, वचन, कायाके स्थूल, सूक्ष्म और भीको रोकने लगे और इस तरह शखके समान उज्ज्वल शकल ध्यानकी प्ररम

श्रेणीको पहुच सारे कर्म विदीर्ण कर डाले । भगवान्ने इस तरह अपुनरागति—मुक्ति—प्राप्ति की^१ ।

भगवान् मुक्त हुए उस समय चौथे आरेके शेष होनेमें ३ वर्ष ८॥ महीने बाकी थे^२ ।

गौतमको केवलज्ञान

गणधर गौतमका भगवान्के प्रति बडा मोह था और यह मोह ही केवलज्ञान उत्पन्न न होने देता था । गौतमके बाद प्रव्रजित अनेक साधुओंको केवलज्ञान हो चुका था । गौतम इस कारण अघीर हो उठते थे । एक बार उन्हें खिन्न देखकर भगवान्ने कहा था—“हे गौतम ! तेरा मेरे साथ चिर स्नेह है, चिरकालसे तू मेरा प्रशसक रहा है, चिरकालसे तेरा मेरे साथ परिचय है, हे गौतम ! चिरकालसे तू मेरी सेवा करता चला आ रहा है, तूने चिरकालसे मेरा अनुसरण किया है, तू चिरकालसे मेरे साथ अनुकूल बर्त्ताव करता चला आ रहा है । हे गौतम ! इसके पहले देव-भवमें मेरा तेरे साथ सम्बन्ध रहा और अभी मनुष्य-भवमें भी सम्बन्ध है । अधिक क्या मृत्युके बाद शरीरका नाश होनेपर यहासे च्यव हम लोग दोनो तुल्य, एक प्रयोजनवाले, विशेषता और भेद रहित सिद्ध होंगे । अनुत्तरीपपातिक देव इस बातको जानते हैं^३ ।”

भगवान्ने यह आह्वासन दिया था पर गौतमको केवल ज्ञान होना तो अभी बाकी ही था और भगवान्का देहावसान हो चुका था ।

१—कल्पसूत्र : १४७ ;

२—उपर्युक्त

३—भगवती सूत्र : श० १४ : उ० ७

भगवान्ने अपने निर्वाणके पहले गौतमको समीपके गावमें प्रतिबंध देनेके लिए भेज दिया था। पर वे अपने आशवासनकी बात मूले नहीं थे। अपने अन्तिम प्रवचनमें उन्होंने अपने अन्तेवासी शिष्यके लिए एक दिव्य सन्देश छोड़ा, जो उत्तराध्ययन सूत्रके १० वे अध्ययनके रूपमें आज भी प्राप्त है।

गांवमें अपना काम पूरा कर गौतम वापिस आ रहे थे। भगवान्के निर्वाणकी खबर उन्हें मार्गमें ही मिली। उनके दुःखका पारावार नहीं रहा। अन्तिम घड़ीमें उन्हें भगवान्से दूर रहना पडा और वह भी भगवान्की इच्छासे। वे विह्वल हो अश्रुपात करने लगें। ऐसे ही विपादपूर्ण क्षणमें उन्होंने भगवान्का अपने लिए दिया हुआ उपर्युक्त अन्तिम सदेश सुना। इस सदेशका सार इस प्रकार है—“हे गौतम ! समय मात्रके लिए भी प्रमाद न करना। अपनी आत्मासे स्नेहका— मोहका—व्यच्छेद कर। सर्वस्नेह—रागभावसे अलग हो जा। बमन किए हुएको पीनेकी इच्छा न करना। तू विशुद्ध मार्गपर चल रहा है। तू महान् समुद्रको तिर चुका। अब तीर पर आकर बयो स्थिर है ? पार पानके लिए शीघ्रता कर। हे गौतम ! तू क्षेम और कल्याण युक्त उत्तम सिद्ध लोगको प्राप्त करेगा। प्रबुद्ध और परिनिवृत (शान्त) होकर सयम मार्गमें विचरण कर।”

गौतमके लिए यह अन्तिम सदेश बहुमूल्यसे बहुमूल्य विरासत थी। उन्हें इस सदेशमें दिव्य पथ-निर्देश मिला। सुकथित अर्थ और पदोंसे विभूषित भगवान्के इस सुभाषितको सुन गौतम सजग हुए। उन्होंने सोचा “महावीरने मेरे प्रति जरा भी मोह नहीं किया। वीतराग

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १० : १, २८, २९, ३२, ३४, ३५, ३६

भगवान् ने क्या मुझे पथ नहीं दिखला दिया ? वे तो सिद्ध गतिको प्राप्त हो गए अब मैं क्यों मोह करूं ?” ऐसा सोचते ही उनकी आत्मा धर्मध्यानमें लीन हो गई। उन्होंने राग द्वेषको छेद डाला। स्नेहके—मोहके—तत्तु टूट पड़े और उन्हें अनन्त ज्ञान दर्शन प्राप्त हुए^१। भगवान् की वाणी सफल हुई और अब उनके आश्वासन पूरा होनेमें कोई सदेहका कारण नहीं रहा।

अपने जीवनके अन्तिम उपदेशमें तथागत बुद्धने अपने शिष्य आनन्दसे कहा था—“आनन्द ! शायद तुमको ऐसा हो—‘अतीत-शास्ता (चलेगये गुरु) का (प्रवचन) है, (अब) हमारा शास्ता नहीं रहा।’ आनन्द ! इसे ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किये हैं, प्रज्ञप्त (विहित) किये हैं, मेरे बाद वही तुम्हारे शास्ता (गुरु) है^२। ‘भगवान् महावीरने भी प्रायः ऐसी ही बात अपने अन्तिम प्रवचनमें गौतमको सम्बोधन कर कही थी। ‘हे गौतम मेरे निर्वाणके बाद लोग कहेंगे—‘निश्चय ही अब कोई जिन नहीं देखा जाता’। पर हे गौतम ! मेरा उपदिष्ट और विविध दृष्टियोंसे प्रतिपादित मार्ग पथ-प्रदर्शकके रूपमें रहेगा^३।” “ग्राम या नगर जहा भी

१—कल्पसूत्र · १२७; उत्तराध्ययन सूत्र अ० १० : ३७

२—दीर्घ-निकाय (महापरिनिव्वाण सुत्त) पृ० १४६

३—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १० : ३१। इस गाथाको डॉ० हर्मन जैकोबीने प्रक्षिप्त बतलाया है (S B E. Vol LV part II page 45 F. N. I), उन्हीका अनुसरण करते हुए गोपालदास जीवामाई पटेलने भी उसे प्रक्षिप्त कह दिया है (महावीरस्वामी जो अन्तिम उपदेश—पृ० ५१ फुट नोट १) पर वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। इस पदके भावार्थको विचार करनेसे वह प्रक्षिप्त मालूम नहीं देगा पर उसमें भगवान् महावीरका एक अनुपम उपदेश दिखाई देगा।

जाना, संयत रह, शान्तिमार्गकी वृद्धि करना—अहिंसामार्गका प्रचार करना।”

इस घटनाके बाद गौतम १२ वर्ष तक जीए और राजगृह नगरमें एक मासका अनशन कर शरीर त्याग अक्षय मोक्षपदको पा महावीरके तुल्य सिद्ध हुए।

श्रद्धाञ्जलियां

जिस रात्रिमें भगवान् काल प्राप्त हुए उस रात्रिमें कार्शके नव मल्लिकी और कौशल देशके नव लेच्छकि १८ गण राजाओंने पीपघो-
पवास किए। भावउद्योत जा चुका था। उसकी स्मृतिमें द्रव्य उद्योत
—दीप प्रकाश किया।

महावीरके बाद सघका भार गणघर सुघर्मा पर आया। ग्यारह गणघरोमें गौतम और सुघर्मा ही भगवान्के बाद जीवित रहे।

सुघर्मा स्वामीने भगवान्के गुण वणनमें बड़ी ही सुन्दर कारिकाएँ लिखी है, जो सूत्रकृतागमें संगृहीत है। हम भी अन्तमें भगवान्का गुणवन्दन कर ले।

‘योद्धाम्रोमे जैसे वासुदेव श्रेष्ठ है, पुष्पोमें जैसे अरविद श्रेष्ठ है, सत्रियोमें जैसे दन्तवक्र श्रेष्ठ है उसी तरह वर्द्धमान ऋषियोमें श्रेष्ठ थे (अ० ६: २२)।

‘दानोमें जैसे अभयदान श्रेष्ठ है, सत्यमें जैसे निरवद्य वचन श्रेष्ठ है, तपमें उत्तम ब्रह्मचर्य तप है, उसी तरह नायपुत्र लोगोमें उत्तम श्रमण थे (६: २३)।

१—उत्तराध्ययन सूत्र : १० : ३६;

२—कल्पसूत्र : गणघर स्थविरावली : ४

३—कल्पसूत्र : १२८;

४—कल्पसूत्र : गणघर स्थविरावली : ४

“वे पृथ्वीके समान क्षमाशील थे, रात-दिन कर्मोंको धुनते थे, अगृहीतभावसे रहित थे, वे जरा भी सचय नहीं करते थे और बड़े आशु-प्रज्ञ थे। महाघोर ससार समुद्रका उन्होंने पार पाया। वे वीर अनन्त ज्ञान चक्षुवाले थे और अभयदानी थे (अ० ६: २१)।

“क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार आध्यात्म दोषोंका वे अर्हत् महर्षि हमेशा वमन करते रहे। वे न स्वयं कभी पाप करते थे, न कराते और न करते हुए का कभी अनुमोदन करते थे (अ० ६: २६)।

“जैसे हाथियोंमें ऐरावत, वनचरोमें सिंह, जलमें गंगाका जल और पक्षीमें वेणुदेव गरुड प्रधान कहा गया है उसी तरह नायपुत्र निर्वाणवादियोंमें प्रमुख थे (अ० ६ . २१)।

“वृक्षोंमें जैसे सालमलि श्रेष्ठ होता है, वनोंमें जैसे नन्दनवन श्रेष्ठ है, उसी तरह दीर्घं ब्रज महावीर ज्ञान और शीलमें प्रधान थे (अ० ६ . १८)।

“जैसे उदधिमें स्वयंभू श्रेष्ठ है, नागोंमें घरणीन्द्र श्रेष्ठ है, रसोंमें इक्षुरस जयवत है उसी तरह तप उपधानमें महामुनि जयवत—श्रेष्ठ थे। (६ २०)।

भगवान् अणुत्तर धर्म कहते और अणुत्तर ध्यान—ध्यानोमें श्रेष्ठ ध्यान ध्याते। वे अत्यन्त शुक्ल, चन्द्र और शंखके समान एकान्त स्वच्छ और निर्मल ध्यानके ध्याता थे (अ० ६ . १६)।

“अपने श्रेष्ठ शुक्ल ध्यानसे अवज्ञेय कर्मोंको क्षय कर परम महर्षि अणुत्तर ज्ञान, शील और दशंनसे अनन्त सिद्धिको प्राप्त हुए (अ० ६ १७)।

“इस महान् अर्हत् द्वारा सुभाषित अर्थ और पदसे शुद्ध धर्मको सुन और उसमें श्रद्धा ला अनेक मनुष्य आयुष्यरहित सिद्ध अथवा देव होंगे (अ० ६ २९)।”

तीर्थकर वर्द्धमान

भाग २

प्रवचन



१ : शिक्षापद

1
2
3

4

5

6

7

8



: १ :

शिक्षापद

१ : समयं गोयम ! मा पमायए

१—दुमपत्तए पंडुचए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १०।१

जैसे वृक्षके पत्ते पीले पड़ते हुए समय आने पर पृथ्वी पर झड़ जाते हैं उसी तरह मनुष्य जीवन भी (आयु खोप होने पर समाप्त हो जाता है)। हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

२—कुसग्गे जह ओसविन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १०।२

जैसे कुशकी नोक पर लटका हुआ ओस बिंदु कुछ ही समयके लिए टिकता है, वैसे ही मनुष्य-जीवन भी। हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

१—मूलमें 'गोयम'—'गौतम' शब्द है परन्तु यह उपदेग सबके प्रति समान रूपसे लागू होनेसे अनूवादमे उसके स्थान पर 'जीव' शब्द का व्यवहार किया है।

२—कालका सबसे छोटा अक्ष है।

३—इह इत्तरियम्मि भाउए, जीवियए बहुपच्चवायए ।

विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १० । ३

आयु ऐसा ही नाशवान् और स्वल्प है और जीवनमें विघ्न बहुत है । पूर्व सचित कर्म-रूपी रजको शीघ्र दूर कर । हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर ।

४—दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं ।

गाढा य विवाग कम्मणो, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १० । ४

निश्चय ही मनूष्य भव बहुत दुर्लभ है और सभी प्राणियोंको वह बहुत दीर्घकालके बाद मिलता है । कर्मके फल बड़े गाढ—तीव्र होते हैं । हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर ।

५—परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पण्डुरया ह्वन्ति ते ।

से सोयबले' य हायई, समयं गोयमं मा पमायए ॥

उ० १० । २१-२५

दिन दिन तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, तेरे केश पककर श्वेत होते जा रहे हैं और तेरी इन्द्रियो (कान, आँख, नाक, जीभ और शरीर) का बल घटता जा रहा है । हे जीव ! तू समय भरके लिए भी प्रमाद न कर ।

१—'सोयबल'—श्रोतेन्द्रिय बल । इसके आगेकी २२ से लेकर २५ वीं गाथाके क्रमशः चक्षु, नाक, जिह्वा और शरीर बलके द्योतक शब्दों का प्रयोग है । सक्षेपके लिए २१ वीं गाथाके अनुवादमें उपलक्षण रूपसे सर्व इन्द्रियोंके नाम दे दिए हैं ।

६—परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पण्डुरया ह्वन्ति ते ।

से सव्ववले य हायई, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १० । २६

जैसे-जैसे दिन बीत रहे हैं, तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है । तेरे केश पक रहे हैं और सर्व्वल क्षीण होता जा रहा है । हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर ।

७—अरई गण्डं विसूइया, आयंका विविहा फुसन्ति ते ।

विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १० । २७

असूचि फोड़े-फुन्सी और विसूचिका आदि नाना प्रकारके आतक तेरे शरीरको स्पर्श कर रहे हैं और उसे बलहीन कर उसको ध्वंस कर रहे हैं । हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर ।

८—बोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं ।

से सव्व सिणेहवज्जिए, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १० । २८

जैसे कमल शरद ऋतुके निर्मल जल^१ से भी निर्लिप्त रहता है वैसे ही तू अपनी सारी आसक्तियोंको छोड़, सारे स्नेह बंधन छिटका दे । हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर ।

९—अवसोहिय कण्टगापहं, ओइण्णोऽसि पहं महालयं ।

गच्छसि मगं विसोहिया, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १० । ३२

१—कमल कादेमें उत्पन्न होकर भी उससे निर्लिप्त रहता है । कादेसे ही नहीं शीत कालके विशेष निर्मल जलसे भी वह लिप्त नहीं होता । इस विशेषताका सहारा लेकर भूमिशको अल्पसे अल्प आसक्तिके त्यागका उपदेश दिया गया है ।

२ : दुर्लभ संयोग

१—चत्तारि परमंगाणि, द्रुह्महाणीह जन्तुणो ।
माणूसत्तां सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥

उ० ३।१

ससारमे प्राणियोको चार^१परम अंग—उत्तम संयोग—अत्यन्त दुर्लभ
हे : (१) मनुष्य-भव—(२) धर्म-श्रुति—धर्मका सुनना (३) धर्ममें
श्रद्धा और (४) समयमें—धर्ममें—वीर्य—पराक्रम ।

२—समावन्ना णं संसारे, नाणागोत्तासु जाइसु ।
कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढो विस्संभया पया ॥

उ० ३।२

यह विश्व नाना प्रजा—प्राणियोसे भरा हुआ है । इस ससारमें
ये प्राणी नाना प्रकारके कर्मोंसे अलग-अलग जाति और गोत्रोंमें
उत्पन्न है ।

३—एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कार्यं, आहाकम्मेहि गच्छई ॥

उ० ३।३

१—उत्तराध्ययन सूत्रके १० वें अध्ययनकी १६ तथा १७ वीं वाक्योंमें
'आर्यत्व' और 'अहीनपचेन्द्रियता'—'पाचों इन्द्रियोकी सम्पूर्णता'
इन दोनोंको भी दुर्लभ बताया गया है और इनको 'मनुष्य भव' के
वाद और 'धर्मश्रुति' के पहले स्थान दिया है ।

अपने कर्मोंके अनुसार जीव कभी देवलोकमें और कभी नरकमें जाते हैं और कभी मनुज होते हैं ।

४—एगया खत्तिओ होऽ, तओ चण्डाल बुक्खो ।
तओ कीटपयंगो य, तओ कुन्धु पिवीलिया ॥

उ० ३।४

जीव कभी क्षात्रिय होता है, कभी चण्डाल और कभी बुक्कम ।
कभी कीट-पतंग और कभी कुन्धु-चींटी होकर जन्म लेता है ।

५—कम्मसंगेहि सम्भूढा, दुक्खिया बहुवेयणा ।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥

उ० ३।६

कर्ममगने मूढ हुए प्राणी अत्यन्त वेदना पाते हुए और दुःखी
होते हुए धर्मान्पी—मनुष्यतर गोनियोम भ्रमण करत है ।

६—कम्माणं तु पहाणाए, धाणुपुब्बी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥

उ० ३।७

एस प्रकार करते करते, कर्मोंके फलमः क्षयसे शुद्धिको प्राप्त हुआ
जीव कदाचित्—बहुत लम्बे कालके बाद—मनुष्य भवको पाता है ।

७—माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खंतिमहिंसयं ॥

उ० ३।८

मनुष्य-भव पाकर भी उस धर्मको सुननेका संयोग—अवसर पाना

१—मनुष्य भवकी दुर्लभताको बताते हुए यहा जो भाव प्रकट किये
गए हैं वैसे ही भाव उ० अ० १०। ४-१५ में भी प्राप्त होते हैं ।

दुर्लभ है—जिस धर्मको सुनकर मनुष्य तप, संयम और अहिंसाको स्वीकार करता है। (क्योंकि कुगुरुसेनी बहुत देखे जाते हैं।^१)

८—आहञ्च सवणं लद्धुं, सद्भा परम दुल्लहा।

सोच्चा नेआउयं मग्गं, वहवे परिभस्सई ॥

उ० ३।६

कदाचित् धर्मका सुनना सुलभ भी हो तो उसमें श्रद्धा होना परम दुर्लभ है क्योंकि न्याय मार्गको सुनकर—जानकर—भी अनेक जीव उससे गिर जाते हैं। (धर्म सुनने पर भी मिय्यात्वके सेवी बहुत देखे जाते हैं।^१)

९—सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरयं पुण दुल्लहं।

वहवे रोयमाणावि, नो य णं पड्विज्जए ॥

उ० ३।१०

कदाचित् धर्मको सुनकर उसमें श्रद्धा भी हो जाय तो धर्ममें पुरुषार्थ करना तो और भी दुर्लभ होता है। धर्ममें सचि होने पर भी बहुतसे धर्मका पालन नहीं करते। (धर्ममें श्रद्धा होनेपर भी कामभोगों में मूर्च्छित अनेक देखे जाते हैं।^१)

१०—माणसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्धे।

तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं

उ० ३।११

मनुष्य-जन्म पाकर जो धर्मको सुनता और श्रद्धा करता हुआ उसके अनुसार पुरुषार्थ—आचरण—करता है वह तपस्वी नए कर्मोंको रोकता हुआ सचित्त कर्म-रूपी रजको धून डालता है।

१—उ० १०।१८,

२—उ० १०।१९; २—उ० १०।२०

३ : आत्म-जय : परम-जय

१—जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जेण जिए ।

एणं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥

स० ६।३४

दुर्जय सग्राममें सहस्र-सहस्र शत्रुओंको जीतनेकी अपेक्षा एक अपनी आत्माको जीतना ही सर्वोत्कृष्ट जय है । जो अपनी आत्माको जीत लेता है, वही सच्चा सग्राम-विजयी है ।

२—अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ ।

अप्पाणमेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥

स० ६।३५

अपनी आत्माके साथ ही युद्ध करो । बाह्य शत्रुओंके साथ युद्ध करनेसे क्या मतलब ? जो अपने द्वारा अपनी आत्माको जीतता है, वही सुखी होता है ।

३—अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खल्लु दुद्धो ।

अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥

स० १।१५

अपने आपको जीतो । अपने-आपको जीतना ही वास्तवमें दुर्जय है । अपनी आत्माको दमन करनेवाला इह लोकमें तथा पर लोकमें सुखी होता है ।

४—पाण्ये णाड्वाएज्जा, अदिन्तं पियणादए ।

सादियं ण मुसं ब्रूया, एस धम्मं वुसीमथो ॥

सू० १, ८।१६

प्राणियोंके प्राणोंको न हरे, विना दी हुई कोई भी चीज न ले,
कपटपूर्ण शूठ न बोले—आत्म-जयी पुरुषोंका यही धर्म है ।

५—न चरेज्ज वेससामन्ते, वंभचरेवसाणुए ।

वंभयारिस्सदन्तस्स, होज्जा तत्थ विसोत्तिआ ॥

द० ५।१ : ६

ब्रह्मचारीको ब्रह्मचर्यको हानि पहुँचावाने वेश्याओंके पाडेमें नहीं विच-
रना चाहिये । जितेन्द्रिय ब्रह्मचारीका मन वहा खिन्नताको प्राप्तहोता है ।

६—जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।

दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥

उ० ८ : १७

जैसे लाभ होता है, तृष्णा बढ़ता जाती है; लाभ लोभको बढ़ाता
है । दो मासे सुवर्णसे होनेवाला कार्य, करोड़ोंसे भी पूरा न हुआ ।

७—पुढवी साली जवा चैव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।

पडिपुण्णं नालमेगस्स, इह विज्जा तवं चरे ॥

उ० ६ : ४६

चावल और जी आदि धान्य तथा सोने-चादी और पशुओंसे भरी
हुई यह समस्त पृथ्वी भी लोभीकी तृष्णाको शान्त करनेमें असमर्थ
है—यह समझ कर सन्तोष-रूपी तप करो ।

८—कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं ।

वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥

द० ८ : ३७

४ : रहस्य भेद :

१—एगोजिए जिया पंच, पञ्चजिए जिया दस ।

दसहाव जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥

उ० २३ : ३६

एकको जीत चुकनेसे मैंने पाचको जीत लिया, पाचको जीत लेनेसे मैंने दसको जीत लिया; और दसको जीतकर मैंने सभी शत्रुओको जीत लिया हूँ ।

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य ।

ते जिणीत्तु जहानायं, विहरामि अहं सुणी ॥

उ० २३ : ३८

आत्मा एक दुर्जय शत्रु हूँ । क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय मिलकर पाच और श्रोत, चक्षु, घ्राण, रस और स्पर्श ये पाच इन्द्रिया मिल कर दस शत्रु हूँ । इन्हे ठीक रूपसे जीत कर, हे महामुने ! मैं विहरता हूँ ।

२—ते पासै सव्वसो छित्ता, निहंतूण उवायओ ।

मुक्कपासो लहुवभूओ, विहरामि अहं सुणी ॥

उ० २३ : ४१

हे मुने ! ससारी प्राणियोके वन्धे हुए पाशोका सर्व प्रकार और उपायोने छेदन और हनन कर मे मुक्तपाश और लघुभूत होकर विहरता हूँ ।

रागहोसादओ तिब्वा, नेहपासा भयंकरा ।

ते छिन्दित्ता जहानायं, विहरामि जहक्कमं ॥

उ० २३ : ४३

हे मुने ! राग-द्वेषादि और स्नेह—यें तीव्र और भयकर पास है ।
उन्हे ठीकरूपसे छेदकर मैं यथाक्रम विहरता हू ।

३—तं लयं सब्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं ।

विहरामि जहानायं, मुक्कोमि विसभक्खणं ॥

उ० २३ : ४६

मैंने हृदयके अन्दर उत्पन्न विपलताको सर्व प्रकारसे छेदन कर
अच्छी तरह मूल सहित उखाड़ कर फेंक दिया है । इस तरह मैं विप
फलसे मुक्त हो गया हूँ ।

भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीम फलोदया ।

तमुच्छित्तु जहानायं, विहरामि महामुणी ॥

उ० २३ : ४८

भवतृष्णाको लता कहा गया है, जो बड़ी भयकर और भयकर
फलोको देनेवाली है । उसे यथाविधि उच्छेदकर हे महामुने ! मैं सुख
पूर्वक विहरता हू ।

४—महामेहप्पसूयाओ, गिज्झ वारि जलुत्तमं ।

सिंचामि सययं ते उ, सित्ता नो डहंति मे ॥

उ० २३ : ५१

महामेघसे प्रसूत उत्तम जलको लेकर मैं उनको सत्त् सिंचन
करता रहना हू । इस तरह सिंचनकी हुई वे अग्निया मुझे नहीं
जलाती ।

कसाया अग्निगणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं ।
सुयधाराभिह्या सन्ता, भिन्ना हु न डहन्ति मे ॥

उ० २३ : ५३

क्रोध, मान, माया, और लोभ—ये चार कषायरूपी अग्निया है । श्रुत, महामेघ हैं, शील और तप श्रुतधाराका शीतल जल है । श्रुतरूप मेघकी जलधारासे निरन्तर सींचे जानेके कारण छिन्न-भिन्न हुई ये अग्निया मृद्वे नहीं जलाती ।

५—पहावन्तं निगिण्हामि, सुयरस्सी समाहियं ।
न मे गच्छइ उम्मगां, मगां च पडिवज्जइ ॥

उ० २३ : ५६

भागते हुए दुष्ट अश्वको मैं ज्ञानरूपी लगामके द्वारा अच्छी तरह पकड़ता हूँ । इससे मेरा अश्व उन्मार्गमें नहीं जाता और ठीक मार्गको ग्रहण करता हुआ चलता है ।

मणो साहस्सिओ भीमो, दुडुसो परिधावई ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कन्थर्गं ॥

उ० २३ : ५८

मन ही यह साहसिक, रौद्र और दुष्ट अश्व है जो चारो ओर दौड़ता है । मैं उस कन्थकको धर्म शिक्षा द्वारा अच्छी तरह काबूमें करता हूँ ।

६—अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्जे महालओ ।
महाउदगवेगस्स, गई तत्थ न विज्जई ॥

उ० २३ : ६६

समुद्रके बीच एक विस्तृत महान् द्वीप है, जहा महान् उदकके वेग की गति नहीं है ।

जरामरणवेगेणं, बुद्धमाणाण पाणिणं ।

धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥

उ० २३ : ६८

जरा मरणरूपी महा उदकके वेगसे डूबते हुए प्राणियोंके लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण हैं ।

७—जाउ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।

जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥

उ० २३ : ७१

जो नौका छेदोवाली होती है वह पार ले जानेवाली नहीं होती । जो नौका छंदोसे रहित होती है वही पार पहुचानेवाली होती है ।

८—शरीरमाहु नावत्ति, जीवो बुच्चइ नाविओ ।

संसारो अण्णवो बुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो ॥

उ० २३ : ७३

शरीरको नौका कहा गया है । जीवको नाविक कहा गया है । संसारको ममूद्र कहा गया है । जीवरूपी नाविकके द्वारा शरीररूपी नौकाको खेकर मर्हपि जन्म-मरणरूपी इस महा अर्णवसे तर जाते हैं ।

९—अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगगम्मि दुरारुहं ।

जत्थ नत्थि जरामच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥

उ० २३ : ८१

लोकान्न पर एक ऐसा दुरारोह ध्रुव स्थान है, जहा जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदनाए नहीं हैं ।

निव्वाणंति अवाहन्ति, सिद्धी लोगगमेव य ।
खेमं सिवं अणावाहं, जं चरन्ति महेसिणो ॥

उ० २३ : ८३

यह स्थान निर्वाण, अव्यावाध, लोकाग्र, सिद्धि आदि नामसे प्रख्यात है । इस खेम, शिव, और अनावाध स्थानको महर्षि पाते हैं ।

तं ठाणं सासयंवासं, लोगगंमि दुरारुहं ।

जं संपत्ता न सोयन्ति, भवोहन्तकरामुणी ॥

उ० २३ : ८४

हे मुने ! यह स्थान आत्माका शाश्वत वास है । यह लोकके अग्रभागमे है । जन्म जरा आदिसे दुरारोह है । इसे प्राप्त कर लेने पर किसी तरह का दुःख नहीं रह जाता और भव-परम्पराका अन्त हो जाता है ।

५ : अठारह पाप

१—सीहं जहा खुडूमिगा चरन्ता, दूरे चरन्ति परिसंकमाणा ।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं, दूरेण पावं परिवज्जेज्जा ॥

सू० १, १० : २०

मृगादि अटवीमें विवरनेवाले जीव जैसे सिंहसे सदा भयभीत रहते हुए दूरमें—एकान्तमें—चरते हैं इसी तरह मेघावी पुरुष धर्मको विचार कर पापको दूरसे ही छोड़े ।

२—पाणाइवायमल्लियं चोरिक्कं मेहुणं दवियमुच्छं ।

कोहं माणं मायं लोभं पिज्जं तद्दादोसं ॥

कलहं अठ्ठमक्खणं पेमुन्तं रइ अरइ समावत्तं ।

परपरिवायं मायमोसं मिच्छत्तसत्तलं च ॥

आवश्यक सूत्र

(१) प्राणातिपात (हिंसा), (२) झूठ, (३) चोरी, (४) मैथुन,
(५) द्रव्य-मूच्छर्षा (परिग्रह), (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया,
(९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) दोषारोपण,
(१४) चुगली, (१५) असयममे रति (सुख), सयममें अरति
(असुख), (१६) परपरिवाद—निन्दा, (१७) माया-मृषा—कपटपूर्ण
मिथ्या और (१८) मिथ्यादर्शनरूपी शल्य—ये अठारह पाप हैं ।

३—कहं णं भंते ! जीवा गुरुयत्तं वा
लहुयत्तं वा हव्वमागच्छंति ?

हे भगवान् ! जीव गुरुत्व—भारीपन और लघुत्व—हल्केपन को
शीघ्र कैसे प्राप्त करता हूँ ?

गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे
एगं महं सुक्कं तुंघं णिच्छेइं निरुवहयं
दब्भेहिं कुसेहिं वेदेइ, वेडित्ता मट्टिया
लेवेणं लिंपति, उण्हे दलयइ, दल्लत्ता
सुक्कं समाणं दोच्चं पि दब्भेहि य
कुसेहि य वेदेति, वेडित्ता मट्टिया
लेवेणं लिंपति, लिंपित्ता उण्हे सुक्कं
समाणं तच्चं पि दब्भेहि य कुसेहि य
वेदेति, वेडित्ता मट्टिया लेवेणं लिंपति ।
एवं खलु एएणुंवाएणं अन्तरा वेडेमाणे
अन्तरा लिंपेमाणे अन्तरा सुक्कवेमाणे जाव
अट्टहिं मट्टियालेवेहिं आलिंपति अत्था
हमतारमपोरिसियंसि उदगंसि पक्खिवेज्जा
से णूणं गोयमा ! से तुंवे तेसि अट्टण्हं
मट्टियालेवेणं गुरुययाए भारिययाए
गुरुयभारिययाए उप्पिं सल्लिमति
वइत्ता अहे धरणियलपइट्ठाणे भवति ।

हे गौतम ! यदि कोई मनुष्य एक बड़े, सूखे, छिद्र सहित, सम्पूर्ण
तूथेको दर्भ और कूससे कस कर उस पर मिट्टीका लेप करे और फिर
घूममें सुखा कर दुबारा लेप करे और इस तरह आठ बार मिट्टीका लेप

कर उभे अयाह, दुस्तर, गहरे जलमें डाले तो वह तूना डूबेगा या नहीं ? निश्चय ही हे गौतम ! मिट्टीके आठ लेपोसे भारी बना वह तूना ऊपरके जलको पार कर पृथ्वीतल पर बैठ जायगा ।

एवामेव गोयमा ! जीवा वि पाणातिवाएणं
जाव मिच्छादंसणसत्त्वेणं अणुपुञ्ज्वेणं
अट्टकम्म पगडीओ समज्जिणंति । तासि
गुरुययाए भारिययाए गरुयभारिययाए
कालमासे कालं किञ्चा धरणि यलमतिवत्तिता
अहे नरगतलपइट्टाणा भवन्ति । एवं खलु
गोयमा ! जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छन्ति ।

इसी तरह हे गौतम ! जीव—हिता, झूठ, चोरी, मंथुन, परिग्रह आदि १८ पापरूपी दाभसे आत्माको वेष्टित कर, आठ कमं प्रकृतियों का लेप अपने ऊपर चढ़ाता है. जिमसे गुरु—भारी हांकर, कालके समय काल प्राप्त कर, धरणी तलको पार कर नीचे नर्क तल पर स्थित होता है । इन तरह हे गौतम ! जीव शीघ्र गुरुत्व—भारीपन—को प्राप्त होता है ।

अहण्णं गोतमा ! से तुंवे तंसि पढमिल्लुगंसि
मट्टियालेवंसि तिन्नेंसि कुद्धियंसि परिसडियंसि
ईसिं धरणियलाओ उप्पत्तिता णं चिद्धति ।
ततोऽणंतं च णं दोच्चं पि मट्टियालेवे जाव
उप्पत्तिता णं चिद्धति । एवं खलु एएणं
उवाएणं तेसु अट्टसु मट्टिया लेवेसु तिन्नेसु
जाव विमुक्कबंधणे अहे धरणियलमइवइत्ता
वपिं सलिलतलपइट्टाणे भवति । एवामेव

गोयमा ! जीवा पाणातिपातवेरमणेणं जाव
 मिच्छादंसणसल्लवेरमणेण अणु पुव्वेणं
 अट्टकम्मपगङ्गीओ खवेत्ता गगणतलमुप्पइत्ता
 उप्पि लोयगपत्तिट्ठाणा भवंति । एवं खलु
 गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति ।

ज्ञाता धर्मकथा—अ० ६

हे गौतम ! जलमें डूबे हुए तूबेका सबसे ऊपरका पहला तह जब गलकर अलग हा जाता है, तो तूवा धरणीतलसे ऊपर उठता है। तदनन्तर इस तरह एक एक कर सारे आठो मिट्टीके तह गल जाते हैं तो बधनसे मुक्त होते ही तूम्बा पुन. धरणीतलको सम्पूर्णरूपसे छोड़ पानी पर तैरने लगता है। इसी तरह हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, अब्रह्मचर्य भादि अठारह पापोंके त्यागसे जीव अनुपूर्वसे आठ कर्म प्रकृतियोंके दलको क्षय कर गगनतलकी ओर उठता हुआ लोकाग्र पर प्रतिष्ठित होता है। इस तरह हे गौतम ! जीव शीघ्र लघुत्वभावको—हृत्केपनको प्राप्त करता है।

५—जहा कुम्मे सअङ्गाईं, सए देहे समाहरे ।

एवं पावाइँ मेहावी, अङ्गप्पेण समाहरे ॥

सु० १, ८:१६

जैसे कच्छुआ अपने अगोपागको शरीरमें समेट कर खतरेसे अपनी रक्षा करता है, इसी तरह मेघावी पुरुष आध्यात्मिक चिन्तन द्वारा आत्माको अन्तर्मुख कर पाप कर्मोंसे अपनी आत्माको बचावे।

६ : कामी पुरुषसे

१—जइसि रूवेण वेसमणो, लल्लिएण नलकूवरो ।
तहावि ते न इच्छामि, जइसि सम्मं पुरंदरो ॥

उत्त० २२ : ४१

भले ही तू रूपमे वैश्रवण सदृश हो, और भोग लीलामे नलकूवर
या साक्षात् इन्द्र हो—तो भी मैं तेरी इच्छा नहीं करती ।

२—पक्खंदे जल्लियं जोइं, धूमकैठं दुरासयं ।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ॥
धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा ।
वंतं इच्छसि आवेठं, सेयं ते मरणं भवे ॥

उत्त० २२ : ४२, ४३

अगन्वन कूलमे उत्पन्न हुए सर्प जाज्वल्यमान—धूमकेतु अग्निमे
जलकर मरना पसन्द करते हैं परन्तु वमन किये हुये विषको वापिस
पीनेकी इच्छा नहीं करते । हे कामी ! तू वमनकी दृई वस्तुको पीकर
जीवित रहनेकी इच्छा करता है ! इससे तो तुम्हारा मर जाना
अच्छा । धिक्कार है तुम्हारे यशको !

३—जइ तं काहिसी भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ ।

वायाविद्धो व्व हड्डो, अट्टिअप्पा भविस्ससि ॥

उत्त० २२ : ४५

अगर स्त्रियोंको देख देखकर तू इस तरह प्रेम राग किया करेगा तो हवासे हिलते हुए हड वृक्षकी तरह चित्त समाधिको खो बैठेगा ।

४—गोवालो भंडवालो वा, जहा तद्द्वगिस्सरो ।

एवं अणिस्सरो तं पि, सामण्यस्स भविस्ससि ॥

उत्त० २२ : ४६

जैसे श्वाल गायाको चरान पर भी उनका मालिक नहीं हो जाता और न भण्डारी धनकी सम्भाल करनेसे धनका मालिक, वैसे ही केवल वेपकी रक्षा मात्रसे तू साधुत्वका अधिकारी नहीं हो सकेगा । (अतः अपनी आत्माको सभाल और सयममे स्थिर हो)

५—कहं नु कुञ्जा सामण्यं, जो कामै न निवारए ।

पए पए विसीर्यंतो, संकप्पस्स वसं गओ ॥

द० अ० २ : १

जो मनुष्य सकल्प—विषयोंके वश हो, पग-पग पर विषादयुक्त—शिथिल हो जगता है और कामरागका निवारण नहीं करता, वह श्रमणत्वका पालन कैसे कर सकता है ?

६—वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।

अच्छंदा जे न भुंजन्ति, न से चाइ त्ति बुच्चइ ॥

जे य कन्ते पिए भोए, लद्धे वि पिट्टिकुब्बइ ।

साहीण चयई भोए, से हु चाइ त्ति बुच्चइ ॥

द० अ० २ : २ ३

जो वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री और पलग आदि भोग पदार्थोंका परवशतासे—उनके अभावमें—सेवन नहीं करता, वह त्यागी नहीं कहलाता । सच्चा त्यागी तो वह है जो मनोहर और कात-भोगोंके सुलभ होने पर भी उन्हें पीठ दिखाता है—उनका सेवन नहीं करता ।

७—समाह् पेहाइ परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई वहिद्धा ।
न सा महं नो वि अहंपि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥

द० अ० २ : ४

यदि समभाव पूर्वक विचरते हुए भी कदाश यह मन बाहर निकल जाय तो यह विचार कर कि वह मेरी नहीं है और न मैं उसका हूँ, मुमुक्षु विषय-रागको दूर करे ।

८—आयावयाही चय सोअमल्लं, कामे कमाही कमियं खु टुक्खं ।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ॥

द० अ० २ : ५

आत्माको तपाओ, सुकुमालता का त्याग करो । कामनाको दूर करो । निश्चय ही दुःख दूर होगा । समयके प्रति द्वेषभावको छिन्न करो । विषयोके प्रति राग-भावका उच्छेद करो । ऐसा करनेसे ससारमें सुखी बनोगे ।

७ : परम्परा

१—जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खू तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥

उत्त० ३२ : ६

जैसे बलाका अण्डेसे उत्पन्न होता है और अण्डा बलाकासे, उसी प्रकार मोहका उत्पत्ति स्थान तृष्णा है और तृष्णाका उत्पत्ति स्थान मोह बताया गया है ।

२—रागो य दोसो वि य कम्मवीर्यं, कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयन्ति ॥

उत्त० ३२ : ७

राग और द्वेष—ये दो कर्मोंके बीज—अकुर हैं । कर्म मोहसे उत्पन्न होता है । कर्म, जन्म और मरणका मूल है और जन्म मरणको दुःखकी परम्परा कहा गया है ।

३—दुक्खं हयं जस्सं न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाईं ॥

उत्त० ३२ : ८

उसने दुःखका नाश कर दिया, जिसके मोह नहीं होता । उसका मोह नष्ट हो गया, जिसके तृष्णा नहीं होती । उसकी तृष्णा नष्ट हो गई, जिसके लोभ नहीं होता । उसका लोभ नष्ट हो गया, जो अकिञ्चन है ।

४—नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए ।

रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥

उत्त० ३२ : २

सर्व ज्ञानके प्रकाशसे, अज्ञान और मोहके विवर्जनसे तथा राग और द्वेषके क्षयसे जीव एकान्त सुख रूप मोक्षको प्राप्त करता है ।

५—तस्सेस भग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा वालज्जणस्स दूरा ।

सज्जायएगंतनिसेवणा य, सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य ॥

उत्त० ३२ : ३

गुरु और बृद्ध सतोंकी सेवा, अज्ञानी जीवोंके सगका द्वारसे ही वर्जन, एकाग्र चित्तसे स्वाध्याय और सूत्रार्थका भली प्रकार चिंतन तथा धृति— यह ही एकान्तिक सुखरूप मोक्षको प्राप्त करनेका मार्ग है ।

८ : ज्ञान और क्रिया

१—जावन्तऽविज्ञा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥

उत्त० ६ : १

जो भी विद्याहीन—तत्त्वको नहीं जाननेवाले पुरुष है, वे सब दुखोके पात्र है । इस अनन्त संसारमें मूढ मनुष्य बार-बार दुख पाते हैं ।

२—इहमेगे उ मन्नन्ति, अप्पञ्चखाय पावगं ।
आयरियं विदित्ता णं सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥

उत्त० ६ : ६

इस संसारमें कई ऐसा मानते हैं कि पाप द्वारोको बन्द किए बिना—पापोका त्याग किए बिना—ही केवल आचारको जान लेनेसे जीव सर्व दुखोसे मुक्त हो जाता है—छूट जाता है ।

३—भणंता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो ।
बाथाविरियमेरोण, समासासेन्ति अप्पयं ॥

उत्त० ६ : १०

ज्ञानसे ही मोक्ष बतलानेवाले पर किसी प्रकारकी क्रियाका अनुष्ठान न करनेवाले ऐसे बन्धमोक्षके व्यवस्थावादी लोग केवल वचनो की वीरता मात्रसे अपनी आत्माको आश्वासन देते हैं ।

४—न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ।
 विसण्णा पावकम्मेहिं, चाला पंडियमाणिणो ॥

उत्त० ६ : ११

• नाना प्रकारकी भाषाएँ—विविध भाषा-ज्ञान जीवको दुर्गतिमें नहीं बचा सकता । जो पाप कर्मोंमें निमग्न है और अपनेको पण्डित मानते हैं ऐसे मुखें मनुष्योंको भला विद्याओंका सीखना कहासे रक्षक होंगा ?

५—समिक्ख पण्डिए तम्हा, पासजाइपहे वहू ।
 अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्ति भूएसु कप्पए ॥

उत्त० ६ : २

इसलिए पण्डित पुरुष नाना जातिपथके पाशको—एकेन्द्रिय आदि जीव-योनियोंके पाशको विचार कर आत्मा द्वारा सत्यकी गवेषणा करे और सर्वभूतों—प्राणियोंके प्रति मंत्री भाव रखे ।

६—अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायाए ।
 न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥

उत्त० ६ : ७

अपनी ही तरह सर्व प्राणियोंको सर्वतः अपनी-अपनी आत्मा प्रिय है—यह देखकर भय और वैरसे निवृत्त होता हुआ मृगुकु प्राणियोंके प्राणकी घात न करे ।

७—जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रुवे य सव्वसो ।
 मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसम्भवा ॥

उत्त० ६ : १२

जो कोई मनुष्य मन, वचन या कायासे सर्व प्रकारसे शरीर, वर्ण और रूपमें आसक्त होते हैं—वे सब अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं ।

८—बहिया उद्धमादाय, नांवकंखे कयाइ वि ।

पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥

उत्त० ६ : १४

आत्मिक सुख—जो इन्द्रिय सुखसे परे और ऊचा है—उसकी इच्छा कर विषयकी कभी भी इच्छा न करे । इस देहका पालन-पोषण आत्म शुद्धिके लिए—पूर्व कर्मोंके क्षयके लिए ही करे ।

९ : सच्चा संग्राम

सद्धं नगरं किञ्चा, तवसंवरमगलं ।

खन्ति निडणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥

धणुं परक्कमं किञ्चा, जीवं च ईरियं सया ।

धिइं च केयणं किञ्चा, सच्चेण परिमन्थए ॥

तव नारायं जुत्तेण, भित्तूणं कम्मकंचुर्यं ।

मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥

उ० ६ : २०-२२

श्रद्धारूपी नगर कर, तप-सवर रूप अगंला वना, क्षमारूपी मजबूत कोट वना, मन, वचन और कायारूपी द्रुर्ज, खाई और शतघ्न—इन गुप्तियोंसे उसे सुरक्षित और अजय कर, पराक्रम रूपी धनुष्य ले, उस पर इयां सर्माति रूपी प्रत्यञ्चा चढा, उसे धृति रूपी मूठसे पकड, सत्यरूपी चाप द्वारा उसे खीच, तपरूपी वाणसे कर्मरूपी कचुक—कवचको भेदन करनेवाला मुनि संग्रामका हमेशाके लिए अन्त ला ससारसे मुक्त हो जाता है ।

१० : यज्ञ

१—छद्मजीवकाए असमारभन्ता, मोसं अदत्तं च असेवमाणा ।
परिग्गहं इत्थिओ माण मायं, एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता ॥

उत्त० १२ । ४१

(विशुद्ध यज्ञकी कामना करने वाले) छ प्रकारके जीवकायका समा-
रम्भ—हिंसा न करते हुए, झूठ और चोरीका सेवन न करते हुए, परिग्रह,
स्त्रिया और मानमायाका परित्याग करते हुए दमेन्द्रिय होकर रहे ।

२—सुसंबुडा पंचहिं संवरेहिं, इह जीविथं अणवकंखमाणा ।
वोसट्टकाया सुइच्चत्तदेहा, महाजयं जयइ जन्नसिद्धं ॥

उत्त० १२ । ४२

जो पाच सवरोसे सुसंवृत है, जो एहिक जीवनकी आकाक्षा नहीं
करते, जो कायाकी ममता छोड़ चुके हैं तथा जो पवित्र और त्यक्तदेह
हैं, वे ही महाजयके हेतु श्रेष्ठ यज्ञको करते हैं ।

३—तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्महा संजमजोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥

उत्त० १२ । ४४

तप अग्नि है, जीव ज्योति स्थान है । मन, वचन, कायाके योग कुडछी
है, शरीर कारिपाग है, कर्म इंधन है, समययोग शान्तिपाठ है । ऐसे ही
होमसे मैं हवन करता हू । ऋषियोंने ऐसे ही होमको प्रशस्त कहा है ।

११ : तीर्थ स्नान

धम्मे हरए बम्मे सन्तितित्थे, अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सिणाओ विमलो विमुद्धो, सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥
एयं सिणाणं कुसलेहिं दिट्ठं, महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।
जहिं सिणाया विमला विमुद्धा, महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ते ॥

उत्त० १२ : ४६-४७

घर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति तीर्थ है, आत्माकी प्रसन्न लेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहाँ स्नान कर आत्मा विशुद्ध होती है ।

इस प्रकार अत्यन्त शीतल होकर दोषरूपी मलको छोड़ता हू ।
ऐसा ही स्नान कुशल पुरुषो द्वारा भली प्रकार देखा गया है और यही महास्नान ऋषियोके लिए प्रशस्त है । ऐसा ही स्नान कर विमल और विशुद्ध हो महर्षि उत्तम स्थानको प्राप्त हुए हैं ।

१२ : विषय गृह्णि और विनाश

१—सहस्स सोयं गहणं वर्यंति, सोयस्स सहं गहणं वर्यंति ।

रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

उ० ३२ : ३६

कान शब्दका ग्राहक हैं और शब्द कानका ग्राह्य विषय बतलाया गया है । मनोहर शब्द रागका कारण बतलाया गया है और अमनोहर द्वेषका ।

सहसे जो गिह्णिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं ।

रागावरे हरिणमिगे व मुद्धे, सहसे अत्तिसे समुवेइ मच्चुं ॥

उ० ३२ : ३७

जिस तरह शब्दमें मुग्ध बना रागातुर हरिण-मृग अतृप्त ही मृत्यु का ग्रास बनता है, उसी तरह शब्दके विषयमें तीव्र गृह्णि रखनेवाला पुरुष अकालमें ही विनाशको प्राप्त होता है ।

एमेव सहंमि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।

पदुद्धुच्चित्तो यं चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

उ० ३२ : ४६

इसी तरह शब्दके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दुःख समूहकी परम्पराका भागी होता है । द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मोंका सचय करता है, जो विपाककालमें पुन बड़े दुःखदायी होते हैं ।

२—रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति, चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

उ० ३२ : २३

चक्षु रूपको ग्रहण करता है और रूप चक्षुका ग्राह्य विषय बतलाया गया है । मनोहर रूप रागका कारण बतलाया गया है और अमनोहर रूप द्वेषका ।

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे से जह वा पर्यंगे, आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥

उ० ३२ : २४

जिस तरह रागातुर पतंग आलोकमें मोहित हो अतृप्त अवस्थामें ही मृत्युको प्राप्त करता है, उसी तरह रूपमें तीव्र गृद्धि रखनेवाला मनुष्य अकालमें ही मरणको प्राप्त होता है ।

एमेव रूवस्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरम्पराओ ।
पट्टुच्चित्तो थ चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

उ० ३२ : ३३

इसी तरह रूपके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दुःख समूहकी परम्पराका भागी होता है । द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मोका सचय करता है, जो विपाक कालमें पुन बड़े दुःखदायी होते हैं ।

३—गंधस्स घाणं गहणं वयंति, घाणस्स गंधं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

उ० ३२ : ४६

नाक गन्धको ग्रहण करता है और गन्ध नाकका ग्राह्य विषय बतलाया गया है । सुगन्ध रागकी हेतु बताई गई है और दुर्गन्ध द्वेषकी हेतु ।

गंधेसु जो गिद्धिसुवेइ तिब्बं, अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे, सप्पे विलाओ विव निक्खमंते ॥

८० ३२ : ५०

जिस तरह रागातुर सर्प औपधिकी गन्धसे गृद्ध हो विलसे निकलता हुआ विनाश पाता है उसी तरह गधमें तीव्र गृद्धि रखनेवाला मनुष्य अकालमें ही विनाशको प्राप्त करता है ।

एमेव गंधम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पंदुद्धिचिरो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवारो ॥

८० ३२ : ५६

इसी तरह गन्धके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दुःख समूहकी परम्पराका भागी होता है । द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मोंका संचय करता है जो विपाककालमें पुनः बड़े दुःखदायी होते हैं ।

४—रसस्स जिब्बं गहणं वयंति, जिब्भाए रसं गहणं वयंति ।
रागस्स हेडं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेडं अमणुन्नमाहु ॥

८० ३२ : ६२

जिह्वा रसको ग्रहण करती है और रस जिह्वाका ग्राह्य विषय बतलाया गया है । मनोहर रस रागका हेतु कहा गया है और अमनोहर रस द्वेषका ।

रसेसु जो गिद्धिसुवेइ तिब्बं, अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे वडिसविभिन्नकाए, मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥

८० ३२ : ६३

जिस तरह रागातुर मछली आमिष खानेकी गृद्धिके वश कांटे से बिची जाकर मरणको प्राप्त होती है, उसी तरह जो रसमें तीव्र गृद्धि रखता है वह अकालमें ही विनाशको प्राप्त करता है ।

एमेव रसम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पटुट्टचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवारो ॥

उ० ३२ : ७२

इसी तरह शब्दके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दुःख समूहकी परम्पराका भागी होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मोंका सचय करता है जो विपाक कालमें पुनः बड़े दुःखदायी होते हैं।

५—फासस्स कायं गहण वयंति, कायस्स फासं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

उत्त० ३२ : ७५

काया स्पर्शकी ग्राहक है और स्पर्श कायाका ग्राह्य विषय बतलाया गया है। मनोहर स्पर्श रागका हेतु कहा गया है और अमनोहर स्पर्श द्वेषका।

फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्ने, गाहग्गहीए महिसे वरण्णे ॥

उत्त० ३२ : ७६

जिस तरह जगलके शीतल जलाशयमें निमग्न रागातुर महिष ग्राह द्वारा पकड़ी जाती है, उसी तरह स्पर्शके विषयमें तीव्र गृद्धि रखनेवाला मनुष्य अकालमें ही विनाशको प्राप्त करता है।

एमेव फासंभि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोह परंपराओ।
पटुट्टचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवारो ॥

उत्त० ३२ : ८५

इसी तरह शब्दके विषयमें द्वेषका प्राप्त हुआ जीव दुःख समूहकी परम्पराको प्राप्त करता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मोंका सचय करता है जो विपाक-कालमें पुनः बड़े दुःखदायी होते हैं।

६—भावस्स मणं गहणं वयंति, मणस्स भावं गहणं वयंति ।

रागस्स हेडं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेडं अमणुन्नमाहु ॥

उत्त० ३२ : ८८

मन भावको ग्रहण करता है और भाव मनका ग्राह्य-विषय है । मनोहर भाव रागका हेतु कहा गया है और अमनोहर भाव द्वेषका ।

भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिब्बं, अकालियं पावइ से विणासं ।

रागाडरे कामगुणेसु गिद्धे, करेणुमगावहिए व नागे ॥

उत्त० ३२ : ८९

जिस तरह कामभावमें गृह्ण और रागातुर हाथी हथिनीके द्वारा मार्ग-भ्रष्ट कर दिया जाता है, उसी तरह भावके विषयमें तीव्र गृह्ण रखने वाला मनुष्य अकालमें ही विनाशको प्राप्त होता है ।

एमेव भावम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरम्पराओ ।

पटुट्टचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

उत्त० ३२ : ९८

इसी तरह भावके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दुःख समूह की परम्पराको प्राप्त होता है । प्रदुष्ट चित्त द्वारा वह कर्मोंका सचय कराता है, जो विपाक-कालमें पुनः बड़े दुःखदायी होते हैं ।

१३ : तृष्णा और दुःख

१—सद्गुणसाक्षात्कारं य जीवे, चराचरे हिंसइ णेरूवे ।
चित्ते हि ते परितावेइ चाले, पीलेइ अतट्टगुरू किलिट्ठे ॥

उत्त० ३२ : ४०

शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और भावकी तृष्णासे बन्धीभूत अज्ञानी जीव अपने स्वार्थके लिए चराचर नाना प्रकारके जीवोंकी हिंसा करता है । उन्हें कई प्रकारसे परिताप देता और पीडा पहुंचाता है ।

२—सद्गुणवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥

उत्त० ३२ : ४१

शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव इनकी लालसाके कारण परिग्रह, उत्पादन, रक्षण और प्रबन्धकी चिन्ता लगी रहती है; विनाश और वियोगका भय बना रहता है और सम्भोग कालमें अतृप्ति रहती है । ऐसी हालतमें मनुष्यको विषयोंमें सुख कहासे हो सकता है ?

३—सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥

उत्त० ३२ : ४२

शब्दादि विषयोंमें अतृप्त और परिग्रहमें आसक्त जीव कभी सतोपको प्राप्त नहीं होता । इस असतोप भावके कारण दुखी हो लोभवश दूसरोंकी चीजोंको चोरी करने लगता है ।

४—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

उत्त० ३२ : ४३

तृष्णासे अभिभूत, चौर्यं कर्ममें प्रवृत्त और शब्दादि विषयो और परिग्रहमें अतृप्त पुरुष लोभके दोषसे माया और मृषाकी वृद्धि करता है, तथापि वह दुःखसे मुक्त नहीं हो पाता ।

५—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते ।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

उत्त० ३२ : ४४

मृषावादके पहले और पीछे तथ मृषावाद करते समय वह दुरत दुष्ट कर्म करनेवाली आत्मा अवश्य दुःखी होती है । चोरीमें प्रवृत्त और शब्दादिमें अतृप्त हुई आत्मा दुःखको प्राप्त होती है तथा उसका कोई सहायक नहीं होता ।

६—सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

उत्त० ३२ : ४५

शब्दादि विषयोंमें श्रावुर पुरुषको उपरोक्त परिस्थितिओमें कैसे सुख हो सकता है ? शब्दादि विषयोके उपभोगकालमें भी वह क्लेश और दुःखका ही एकत्रित करता है ।

१५ : वीतराग कौन ?

१—चक्षुस्स रूवं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरारो ॥

उत्त० ३२ : २२

रूप चक्षुका ग्राह्य है । रूप चक्षुका विषय है । यह जो रूपका प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो रूपका अप्रिय लगना है, उसे द्वेषका हेतु । जो इन दोनोंमें समभाव रखता है, वह वीतराग है ।

२—सोयस्स सद्धं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरारो ॥

उत्त० ३२ : ३५

शब्द श्रोत ग्राह्य है । शब्द कानका विषय है । यह जो शब्दका प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो शब्दका अप्रिय लगना है उसे द्वेषका हेतु । जो इन दोनोंमें समभाव रखता है, वह वीतराग है ।

३—घ्राणस्स गंधं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरारो ॥

उत्त० ३२ : ४८

गंध घ्राण ग्राह्य है । गंध नाकका विषय है । यह जो गंधका

प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो गंधका अप्रिय लगना है, उसे द्वेषका हेतु। जो दोनोंमें समभाव रखता है वह वीतराग है।

४—जिह्वाए रसं गहणं वर्यंति, तं राग हेडं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेडं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु म वीयरओ।

उत्ता० ३२ : ६१

रस जिह्वा ग्राह्य है। रस जिह्वाका विषय है। यह जो रसका प्रिय लगाना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो रसका अप्रिय लगना है, उसे द्वेषका हेतु। जो दोनोंमें समभाव रखता है वह वीतराग है।

५—कायस्स फासं गहणं वर्यंति, तं राग हेडं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेडं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरओ ॥

उत्ता० ३२ : ७४

स्पर्श काय ग्राह्य है। स्पर्श शरीरका विषय है। यह जो स्पर्शका प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो स्पर्शका अप्रिय लगना है, उसे द्वेषका हेतु। जो दोनोंमें समभाव रखता है वह वीतराग है।

६—मणस्स भावं गहणं वर्यंति, तं राग हेडं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेडं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरओ ॥

उत्ता० ३२ : ८७

भाव मन ग्राह्य है। भाव मनका विषय है। यह जो भावका प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो भावका अप्रिय लगना है, उसे द्वेषका हेतु। जो दोनोंमें समभाव रखता है वह वीतराग है।

१५ : विषय और विकार

१—एविदियत्या य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेति किंचि ॥

उत्त० ३२ : १००

इन्द्रियोके और मनके विषय रागी मनुष्यको ही दुःखके हेतु होते हैं । ये ही विषय वीतरागको कदाचित् किंचित् मात्र भी—थोडा भी दुःख नहीं पहुँचा सकते ।

२—सद्दे विरत्तो मणुधो विसोगो, एएण दुक्खोहपरम्परेण ।
न लिप्पई भवमज्जे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

उत्त० ३२ : ४७

शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, और भाव इनके विषयोसे विरक्त पुरुष शोक रहित होता है । वह इस ससारमें बसता हुआ भी दुःख समूहकी परम्परासे उसी तरह लिप्त नहीं होता जिस तरह पुष्करिणीका पलाश जल से ।

३—न कामभोगा समयं उवेन्ति, न यावि भोगा विगइं उवेन्ति ।
जे तप्पओसी य परिगही थ, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥

उत्त० ३२ : १०१

कामभोग—शब्द रूप आदिके विषय समभाव—उपशमके हेतु नहीं है और न ये विकारके हेतु हैं । किन्तु जो उनमें परिग्रह—राग

अथवा द्वेष करता है वही मोह—राग द्वेषके कारण विकारको उत्पन्न करता है ।

४—विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा ।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा, निव्वतयंती अमणुन्नयं वा ॥

उत्त० ३२ : १०६

जो इन्द्रियोके शब्दादि नाना प्रकारके विषयोसे विरक्त है उसके लिए ये सब विषय मनोज्ञता या अमोनज्ञताका भाव पैदा नहीं करते ।

५—कोहं च माणं च तहेव मायं, लोहं दुगुच्छं अरइं रइं च ।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं, नपुसंवेयं विविहे य भावे ॥
आवज्जई एवमणेगरूवे, एवविहे कामगुणेसु सत्तो ।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे, कारुण्ण दीणे हिरिमे वइस्से ॥

उत्त० ३२ : १०२, १०३

जो काम गुणोमे आसक्त होता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसक वेद आदि विविध भाव और इसी तरह इसी प्रकारके विविध रूपोको प्राप्त होना है तथा अन्य भी इनसे उत्पन्न विशेष करुणा, दीनता, लज्जा और धृणाके भावोका पात्र बन जाता है ।

६—सवीथरागो कयसव्वक्खिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं ।
तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चंतरायं पकरेइ कम्मं ॥

उ० ३२ । १०८ ॥

जो वीतराग है, वह सर्व तरहसे कृतकृत्य है । वह क्षण मात्रमें ज्ञानावरणीय कर्मका क्षय कर देता है और इसी तरहसे जो दर्शनको ढकता है, उस दर्शनावरणीय और विघ्न करता है, उस अन्तराय कर्मका भी क्षय कर डालता है ।

सर्वं तथो जाणइ पासए य, अमोहणे होइ निरंतराए ।
अणासवे भाणसमाहिज्जुत्ते, आढक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥

उ० ३२ । १०६ ॥

तदनन्तर वह आत्मा सब कुछ जानती देखती है तथा मोह और अन्तरायसे सर्वथा रहित हो जाती है । फिर आस्रवोसे रहित ध्यान और समाधिसे युक्त वह विशुद्ध आत्मा; आयु समाप्त होने पर मोक्षको प्राप्त करती है ।

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को, जं बाहई सययं अंतुमेयं ।
दीहामर्यं विप्पमुक्को पसत्थो, तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो ॥

उ० ३२ । ११० ॥

फिर वह सर्व दुःखसे जो जीवको सतत् पीड़ा देते हैं, मुक्त हो जाती है । दीर्घ रोगसे विप्रमुक्त हो वह कृतार्थ आत्मा अत्यन्त प्रशस्त सुखी होती है ।

१६ : बाल वीर्य : पण्डित वीर्य

१—दुहा वेयं सुयक्खायं, वीरियं ति पवुच्चई ।

किं नु वीरस्स वीरत्तं, कहं चेयं पवुच्चई ॥

सू० १, ८ : १

वीर्य दो प्रकारका कहा गया है । वीर पुष्पकी वीरता क्या है ?
किस कारण वह वीर कहा जाता है ?

२—कम्ममेगे पवेदेन्ति, अकम्मं वा वि सुव्वया ।

एएहिं दोहि ठाणेहि, जेहिं दीसन्ति मच्चिया ॥

सू० १, ८ : २

हे सुव्रती ! कई कर्मको वीर्य कहते हैं और कई अकर्मको वीर्य कहते हैं । मृत्युलोकके सब प्राणी इन्ही दो भेदोमे देखे जाते हैं ।

३—पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं ।

तब्भावादेसओ वा वि, बाठं पंडियमेव वा ॥

सू० १, ८ : ३

ज्ञानियोने प्रमादको कर्म और अप्रमादको अकर्म कहा है । अतः प्रमादके होनेसे बालवीर्य और अप्रमादके होनेसे पण्डित वीर्य होता है ।

४—सत्थमेगे तु सिक्खंता, अइवाथाय पाणिणं ।

एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेड्डिणो ॥

सू० १, ८ : ४

कई बाल-मूर्ख जीव, प्राणियोंका वध करनेके लिए शस्त्र विद्या सीखते हैं और कई प्राणभूतोंके विनाशक मन्त्रोंकी आराधना करते हैं ।

५—मणसा वयसा चैव, कायसा चैव अन्तसो ।

आरओ परओ वा वि, दुहा वि य असंजया ॥

सू० १, ८ : ६

असयमी पुरुष मन, वचन और कायासे अपने लिए या परके लिए शत्रुता करते और कराते हैं ।

६—वेराईं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहि रज्जई ।

पावोवगा य धारंभा, दुक्खफासा थ अन्तसो ॥

सू० १, ८ : ७

बंदी बंद करता है और फिर दूसरोंके बंदका भागी होता है । इस तरह बंदसे बंद आगे बढ़ता जाता है । पापोत्पन्न करनेवाले आरम्भ अन्तमें दुःखकारक होते हैं ।

७—संपरारयं णियच्चंति, अत्तदुक्कडकारिणो ।

रागदोसस्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहं ॥

सू० १, ८ : ८

बाल—मूर्ख जीव, राग-द्वेषके आश्रित हो अनेक पाप करते हैं । जो अपनी आत्मासे दुष्कृत करते हैं वे साम्परायिक कर्मका बन्धन करते हैं ।

८—एयं सकम्मवीरियं, वालाणं तु पवेइयं ।

इत्तो अकम्मविरियं, पंडियाणं सुणेह मे ॥

सू० १, ८ : ९

यह बाल जीवोंका सकर्म वीर्यं कहा है, अब पण्डितोंका अकर्म वीर्यं मुझसे मुनो ।

६—नेयाउर्यं सुयक्खायं, उवायाय समीहए ।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुहत्तं तथा तथा ॥

सू० १, ८ : ११

बाल वीर्य पुन. पुन. दुखावास है । प्राणी बालवीर्यका जैसे जैसे उपयोग करता है वैसे वैसे अशुभ होता है । सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप ये नेता—मोक्षकी ओर ले जानेवाले मार्ग कहे गये हैं । इन्हें ग्रहण कर पण्डित अपनी मूर्खता उद्योग करे ।

१०—द्विए बंधणुमुक्के, सव्यओ छिन्नबंधणे ।
पणोल्ल पावरां कम्मं, सल्लं कंतइ अन्तसो ॥

सू० १, ८ : १०

जो राग-द्वेषसे रहित होता है, जो कषायरूपी बन्धनसे उन्मुक्त है, जो सर्वश. स्नेह बन्धनोंको काट चुका वह पाप कर्मोंको रोक, अपनी आत्मामें लगे हुए शल्यको समूलतः उखाड़ डालता है ।

११—ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति ण संसओ ।
अणियए अयं वासे णायएहि सुहीहि अ ॥
एवमायाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।
आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्मसकोवियं ॥

सू० १, ८ : १२-१३

इसमें संशय नहीं कि विविध स्थानोंके स्थानी—वासी, अपने-अपने स्थानों—वासियोंको कभी न कभी छोड़ेंगे । ज्ञाति और सुहृदोंके साथ यह सवास अनित्य है । पण्डित ऐसा विचार कर, आत्मामें ममत्वभावको उच्छेद डाले तथा सर्वधर्मोंसे अनिन्द्य आर्थ धर्मको ग्रहण करे ।

१२—जं किंचुवक्कमं जाणे, आवक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अन्तरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पण्डिए ॥

सू० १, ८ : १५

पण्डित पुरुष किसी प्रकार अपनी आयुका क्षयकाल जाने तो उसके पहले ही शीघ्र सलेखनारूप शिक्षाको ग्रहण करे ।

१३—अइक्कम्मति वायाए, मणसा वि न पत्थए ।
सव्वओ संवुडे दन्ते, आयाणं सुसमाहरे ॥

सू० १, ८ : २०

सच्चा वीर, मन, वचन और कायासे किसी प्राणीका अतिक्रम करना न चाहे । बाहर और भीतर सब ओरसे गुप्त और दान्त पुरुष मोक्ष देनेवाली ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तपरूपी वीरताको अच्छी तरह ग्रहण करे ।

१४—कळं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावर्गं ।
सव्वं तं णाणुजाणन्ति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥

सू० १, ८ : २१

आत्मगुप्त जितेन्द्रिय पुरुष किसीके द्वारा किये गये तथा किये जाते हुए और भविष्यमें किये जानेवाले पापोंका अनुमोदन नहीं करता ।

१५—आणजोगं समाहट्टु, कायं विवस्सेज सव्वसो ।
तित्तिक्खं परमं नच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥

सू० १, ८ : २६

पण्डित पुरुष ध्यानयोगको ग्रहण कर, सर्व प्रकारसे शरीर, मन और कायाको बुरे व्यापारोंसे हटावे । तित्तिकाको परम प्रबान समझ शरीरपात पर्यन्त सयमका पालन करता रहे ।

६—अणु माणं च मायं च, तं पडिन्नाय पंडिए ।

आयत्तद्धं सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं ॥

सू० १, ८ : १८

पण्डित पुरुष बुरे फलको जान अणुमात्र भी माया और मान न
६ । मोक्षार्थको—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप रूपी मुक्ति-मार्गको
-ग्रहण कर धैर्यपूर्वक क्रोधादि विकारको जीतनेका पराक्रम—यही
र्य है और ऐसा वीर्य-पराक्रम ही वीर पुरुषकी वीरता है ।

७—जे यावुद्धा महाभागा, वीरा असम्मत्तदंसिणो ।

असुद्धं तेसिं परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥

सू० १, ८ : २२

जो अबुद्ध है—परमार्थको नहीं जानते और सम्यग्दर्शनसे रहित है
ने ससारमें पूजे जानेवाले वीर पुरुषको सासारिक पराक्रम अशुद्ध है
र वह ससार-वृद्धिमें सर्वश. सफल होता है ।

१८—जे य वुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो ।

सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो ॥

सू० १, ८ : २३

जो बुद्ध है—परमार्थको जाननेवाले है और सम्यग्दर्शनसे सहित
; उन महाभाग वीरोका आध्यात्मिक पराक्रम शुद्ध होता है और वह
सार वृद्धिमें सर्वश निष्फल होता है ।

१७ : बाल मरण : पण्डित मरण

१—सन्तिमे च द्रुवे ठाणा, अक्खाया मारणन्तिया ।

अकाममरणं चेव, सकाममरणं तथा ॥

उत्त० ५ : २

मरणान्तके ये दो स्थान कहे गये हैं—एक अकाममरण और दूसरा सकाममरण ।

२—बालाणं अकामं तु, मरणं असई भवे ।

पण्डियारणं सकामं तु, उक्कोसेण सई भवे ॥

उत्त० ५ : ३

बालोका—मूर्खोंका अकाममरण निश्चय ही बार-बार होता है, किन्तु पण्डितोंका सकाममरण उत्कर्षसे एक ही बार होता है ।

३—हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सड़े ।

भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई ॥

उत्त० ५ : ६

हिंसा करनेवाला, झूठ बोलनेवाला, छल-कपट करनेवाला, चुगली खानेवाला, शठता करनेवाला तथा मांस और मदिरा खाने-पीनेवाला मूर्ख जीव—य कार्य श्रेय है—ऐसा मानता है ।

४—तओ से दण्डं समारभई, तसेसु थावरेसु य ।

अट्टाए य अणट्टाए, भूयगामं विहिंसई ॥

उत्त० ५ : ८

फिर वह त्रस तथा स्यावर जीवोको कष्ट पहुचाना शुरू करता है तथा प्रयोजनसे या बिना प्रयोजन ही प्राणी समूहकी हिंसा करता है ।

५—कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।

दुहओ मलं संचिणइ, सिमुणागो व्व मट्टियं ॥

उत्त० ५ : १०

जो काया और वाचासे अभिमानी है और कामिनी काचनमें गूढ़ है, वह राग और द्वेष दोनोसे उसी प्रकार कर्म-मलका सचय करता है, जिम तरह शिशुनाग मुख और शरीर दोनोसे मिट्टीका ।

६—तओ पुट्ठो आर्यकेणं, गिलाणो परितप्पई ।

पभोओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥

उत्त० ५ : ११

फिर वह मूर्ख जीव आत्मकसे स्पृष्ट होनेपर अपने कर्मोको देख, परलोकसे भयभीत हो, ग्लानि पाता हुआ परित्याग करता है ।

७—सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई ।

वालाणं क्रूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥

उत्त० ५ : १२

तओ से सरणन्तम्मि, वाले संतस्सई भया ।

अकाममरणं मरई, धुरोव कलिणा जिए ॥

उत्त० ५ : १६

'शील रहित क्रूरकर्म करनेवाले मूर्ख मनुष्योकी जो गति होती है वह मैंने सुनी है । उन्हें नर्कमें स्थान मिलता है, जहा प्रगाढ़ वेदना है' —मरणान्तके समय मूर्ख मनुष्य इसी तरह भयसे सन्नस्त होता है और आखिर, एक ही दावमें हार जानेवाले जुआरीकी तरह, अकाम मृत्युसे मरता है ।

६—मरणंपि सपुण्णानं, जहा मेयमणुस्सुयं ।

विष्यसण्णमणाघायं, संजयारं वुसीमओ ॥

उत्त० ५ : १८

बाल-मूर्ख जीवोके अकाम मरणको मुझसे सुना है, उसी तरह पुण्यवान और जितेन्द्रिय सयमियोंके प्रसन्न और आघातरहित सकाम-मरणको भी सुनो ।

१०—न इमं सव्वेसु भिक्खूसु, न इमं सव्वेसु गारिसु ।

नाणासीला अगारस्था, विसमसीला य भिक्खुणो ॥

उत्त० ५ : १६

यह सकाममरण न सब भिक्षुओंको प्राप्त होता है और न सब गृहस्थोंको । क्योंकि गृहस्थोंके नाना—त्रिविध शील है और भिक्षु विषम-शील है—सब समान शीलवाले नहीं ।

११—अगारि सामाइयंग्गाई, सद्धी काएण फासए ।

पोसहं दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए ॥

उत्त० ५ : २३

श्रद्धालु अगारी—गृहस्थ सामायिकके अगोका कायासे सम्यक् रूप से पालन करे । दोनों पक्षोंमें एक रातको भी^१ वाद न देता हुआ पोषध करे ।

१२—एवं सिक्खासमावन्ने, गिहिवासे वि सुव्वए ।

मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥

उत्त० ५ : २४

इस प्रकार शिक्षायुक्त सुव्रती गृहवास करता हुआ भी हाड़-मासके

१—अभावस्था और पूर्णिमा ।

इस शरीरको छोड़ यक्षलोक—देवलोकको जाता है ।

१३—अह जे संबुडे भिक्षू, दोण्हं अन्नयरे सिया ।
सव्वदुक्खपहीणे वा, देवे वावि महिद्धिए ॥

उत्त० ५ : २५

तथा जो सवृतात्मा भिक्षु है, वह दोनोमेंसे एक गतिको पाता है ।
या तो वह सर्व दुःख क्षय हो गये है जिसके ऐसा सिद्ध होता है अथवा
महाऋद्धिवाला देव होता है ।

१४—ताणि ठाणाणि गच्छन्ति, सिक्खिता संजमं तवं ।
भिक्ष्वाए वा गिहत्थे वा, जे सन्ति परिनिव्वुडा ॥

उत्त० ५ : २८

सयम और तपके अभ्यास द्वारा जो वासनासे परिनिवृत है वे भिक्षु
हो या गृहस्थ—दिव्य देवगतिको जाते हैं ।

१५—तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं, संजयाणं वुसीमओ ।
न संतसंति मरणंते, सीलवन्ता बहुस्सुया ॥

उत्त० ५ : २६

पूज्य जितेन्द्रिय सयमियोकी मनोहर गतिको सुनकर, शीलसम्पन्न
और बहुश्रुत पुरुष मरणान्तके समय सतृप्त नहीं होते ।

१६—तुलिया विसेसमादाय, दयाधम्मस्स खन्तिए ।
विप्पसीएज्ज मेहावी, तहाभूएण अप्पणा ॥

उत्त० ५ : ३०

अकाम और सकाम—इन दोनो मरणोको तोल, विवेकी पुरुष
विशेषको ग्रहण करे । क्षमा द्वारा दया-धर्मका प्रकाश कर मेधावी
तथाभूत आत्मासे अपनी आत्माको प्रसन्न करे ।

१७—तओ काले अभिप्येए, सड्डी तालिसमन्तिए ।

विणएज्ज लोमहरिसं, भेयं देहस्स ऋखए ॥

उत्त० ५ : ३१

वादमें श्रद्धावान पुरुष काल—अवसर—आनेपर गुरुजनोंके समीप,
रोमाञ्चकारी मृत्युभयको दूर कर देहभेदकी चाह करे ।

१८—अह कालस्मि संपत्ते, आघायाय समुत्सर्यं ।

सकाममरणं मरई, तिण्हमन्नयरं मुणी ॥

उत्त० ५ : ३२

कालके उपस्थित होनेपर, सलेखना आदिके द्वारा शरीरका अन्त
करता हुआ साधु, मृत्युके तीन प्रकारोंमें से किसी एकके द्वारा सकाम
मृत्युको प्राप्त करे ।

१८ : दृष्टान्त

[१]

१—जहाऽऽएसं समुद्दिस्स, कोई पोसेज्ज एलयं ।
ओयणं जवसं देज्जा, पोसेज्जावि सयङ्गणे ॥
तथो से पुट्ठे परिचूढे, जायमेए महोदरे ।
पोणिए विउले देहे, आएसं परिकंखए ॥
जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ से दुही ।
अह पत्तम्मि आएसे, सीसं छेत्तूण भुज्जई ॥
जहा से खलु ओरब्भे, आएसाए समीहिए ।
एवं बाले अहम्मिद्धे, ईहई नरयाउयं ॥

उत्ता० ७ : १-४

जैसे कोई अतिथिके उद्देश्यसे एलकका पोषण करता है, उसे चावल और जौ खिलाता है और अपने आगनमें रखता है और जैसे इस तरह पोषा हुआ वह एलक पुष्ट, परिवृद्ध, जातमेद, महाउदर और विपुल देहवाला होनेपर अतिथिकी प्रतीक्षामात्रके लिए होता है ।

इस तरह जैसे वह एलक निश्चय रूपसे अतिथिके लिए ही पोषा जाता है—जब तक अतिथि नहीं आता तब तक जीता है पर अतिथिके आनेपर शिरसे छेदा जाता है उसी प्रकार अर्धर्मिष्ठ मूर्ख मनुष्य मानो नरकायुके लिए ही पुष्ट होता है ।

२—हिंसे वाले मुसावाई, अद्धारणमि विलोवए ।

अन्नदत्तहरे तेणे, माई कं न हरे सढे ॥

इत्थीविसयगिद्धे य, महारम्भपरिग्गहे ।

भुंजमाणे सुरं मसं, परिवूढे परंदमे ॥ -

अयकक्करभोई य, तुंदिल्ले चियलोहिए ।

आडयं नरए कंखे, जहाऽऽएसं व एलए ॥

उत्तरा० ७ : ५-७

जो मूर्ख, हिंसक है, झूठ बोलनेवाला है, मार्गमें लूटनेवाला है, बिना दी हुई वस्तुको लेनेवाला चोर है, मांथी है, और किसको हरण कहे—
ऐसे निचारवाला शठ है, जो स्त्री और विषयोमें गृद्ध है, जो महारम्भी
और महापरिग्रही है, जो सुराका पान करनेवाला है, बलवान होकर
दूसरेको दमन करनेवाला है और जो कर्कर कर बकरेके मासको खाने
वाला है—ऐसा बडे पेट और उपचित लोहीवाला मूर्ख ठीक उसी तरह
नर्कयुकी आकाक्षा करता है जिस तरह पोषा हुआ एक अतिथि की ।

३—आसणं सयणं जाणं, वित्तं कामे य भुंजिया ।

दुस्साइडं धणं हिञ्चा, वहुं सच्चिणिया रयं ॥

तओ कम्मगुरु जंतू, पच्चुप्पन्नपरायणे ।

अय व्व आगयाएसे, मरणंतम्मि सोयई ॥

तओ धाउपरिक्खीणे, चुयादेहा विहिंसगा ।

आसुरीयं विसं चाला, गच्छन्ति अवसा तमं ॥

उत्तरा० ७ : ८-१०

आसन, शय्या, यान, वित्त और कामभोगोको भोग मूर्ख जीव कर्म
रजको संचित कर गुरु बन जाता है । केवल वर्तमानको ही देखनेवाला
ऐसा कर्मगुरु—कर्मोंसे भारी बना—प्राणी कष्टसे प्राप्त धनको यही

छोड़कर जाता हुआ मरणान्त कालमें उसी प्रकार सोच करता है जिस तरह पुष्ट एलक अतिथिके आनेपर । (अतिथिके पहुंचनेपर जैसे एलक शिरसे छेदा जाकर छाया जाता है) उसी तरह आद्यथिके क्षीण होने पर नाना प्रकारकी हिंसा करनेवाले मूर्ख, देहको छोड़, परवश बने अन्धकारयुक्त नरक दिशा—नरक गतिकी ओर जाते हैं ।

[२]

जहा कागिणिए हेडं, सहस्सं हारए नरो ।
 अपत्थं अम्वगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए ॥
 एवं माणुस्सगा कामा, देव कामाण अन्तिए ।
 सहस्सगुणिया भुज्जो, आडं कामा य दिव्विया ॥
 अणेगवासानडया जा, सा पणवओ ठिई ।
 जाणि जीयन्ति दुम्मेहा, उणे वाससयाडए ॥

उत्त० ७ : ११-१३ ;

जैसे एक काकिणीके लिए कोई मूर्ख मनुष्य हजार मोहरको हार देता है और जैसे अपथ्य आमको खाकर राजा राज्यको हार देता है उसी तरह मूर्ख तुच्छ मानुषी भोगोके लिए उत्तम सुखो—देव-सुखोको खो देता है ।

मनुष्योके कामभोग—सहस्रगुण करनेपर भी आयु और भोगकी दृष्टिमे देवताओके काम ही दिव्य होते हैं । मनुष्योके काम देवताओके कामोके सामने वैसे ही है जैसे सहस्र मोहरके सामने काकिणी व राज्य के सामने आम । प्रज्ञावानकी देवलोकेमें जो अनेक वर्षनयुतकी स्थिति है उसको दुर्वुद्धि—मूर्ख जीव—सी वर्षसे भी न्यून आयुमें विषयभोगोके बशीभूत होकर हार देता है ।

कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निहद्धम्मि आचए ।
करस्स हेउं पुराकारं, जोगवखेमं न संविदे ॥

उत्त० ७ : २४

इस सीमित आयुमें ये कामभोग कुशके अग्रभागके समान स्वल्प
हैं । तुम किस हेतुकां सामने रखकर आगेके योगक्षेमको नहीं समझते ?

वालस्स पस्स वालरां, अहम्मं पडिवज्जिया ।
चिच्चा धम्मं अहम्मिद्वे, नरए उववज्जई ॥
धीरस्स पस्स धीररां, सन्वधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्मं धम्मिद्वे, देवेसु उववज्जई ॥

उत्त० ७ : २८, २९

हे मनुष्य ! तू वाल जीवकी मूर्खता तो देख, जो अधर्मको ग्रहण
कर तथा धर्मको छोड़ अर्धमिष्ठ हो नर्कमें उत्पन्न होता है ।

हे मनुष्य ! तू धीर पुरुषकी धीरता तो देख, जो सब धर्मोंका
पालन कर, अधर्मको छोड़ धर्मिष्ठ हो देवोंमें उत्पन्न होता है ।

[३]

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं ।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥
एवं धम्मं विडक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥

उत्त० ५ : १४, १५

जिस तरह कोई जानकार गाड़ीवान समतल विशाल मार्गको छोड़
कर विषम मार्गमें पड़ जाता है और गाड़ीकी घुरी टूट जानेसे सोच
करता है उसी तरह धर्मको छोड़ अधर्ममें पड़नेवाला मूर्ख मृत्युके मुहमें
पड़ा हुआ जीवनकी घुरी टूट जानेकी तरह शोक करता है ।

[४]

१—जहा य तिन्नि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया ।
 एगोऽत्थ ल्हई लाभं, एगो मूलेण आगओ ॥
 एगो मूलंपि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ ।
 ववहारे उवसा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥

उत्त० ७ : १४, १५

तीन वणिक् मूल पूजीको लेकर घरसे निकले । उनमेंसे एकने लाभ उठाया दूसरा मूलको लेकर आया और तीसरा मूल पूजीको भी खोकर आया । जैसे व्यवहारमें यह उपमा है वैसे ही धर्मके विषयमें भी जानो ।

२—माणुसत्तां भवे मूलं, लाभो देवगई भवे ।
 मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं ॥

उत्त० ७ : १६

मनुष्य जीवन यह मूल धन है । देवगति लाभस्वरूप है । मूल-धनके नाशसे जीवोको निश्चय ही हारस्वरूप नरक तिर्यञ्च गति मिलती है ।

३—दुहओ गई वालस्स, आवई वहमूलिया ।
 देवत्तां माणुसत्तां च, जं जिए लोलयासद्धे ॥
 तओ जिए सई होई, दुविहं दुग्गइं गए ।
 दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाए सुचिराद्वि ॥

उत्त० ७ : १७, १८

घूर्त और लोल्प, अज्ञानी जीवकी, जिसने कि देवत्व और मनुष्यत्व को हार दिया है, नरक और तिर्यञ्च ये दो गतिया होती हैं, जो कष्ट-मूलक और बधमूलक हैं ।

नरक श्रीर तिर्यञ्च इन दो प्रकारकी दुर्गतियोंमें गया हुआ जीव सदा ही हारा हुआ होता है क्योंकि इन उन्मागोंसे निकल विशाल पथपर आना दीर्घकालके बाद भी दुर्लभ है ।

४—एवं जियं सपेहाए, तुलिया बाल च पण्डियं ।
मूलियं ते पवेसन्ति, माणुसिं जोणिमेन्ति जे ॥
वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहिसुव्वया ।
उवेन्ति माणुसं जाणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥

उत्त० ७ : १६, २०

इस प्रकार हारे हुएको देखकर तथा बाल और पण्डित भावको तोलकर जो मानुषी योनियों आते हैं, वे मूलके साथ प्रवेश करते हैं ।

५—जहा कुसग्गे उदग्गं, समुद्देण समं मिणे ।
एवं माणुससगा कामा, देवकामाण वंतिए ॥
जेसिं तु विउल्ला सिक्खा, मूलियं ते अइच्छिया ।
सीलवन्ता सवीसेसा, अदीणा जन्ति देवयं ॥

उत्त० ७ : २३, २१

जो नर कम-अधिक शिक्षाओं द्वारा गृहवासमें भी सुन्नती है, वे मानुषी योनिको प्राप्त करते हैं । प्राणीके कृत्य हमेशा सत्य होते हैं । उनका फल मिलता ही है ।

जैसे कुशके अग्रभागपर रहा हुआ जल समुद्रकी तुलनामें नगण्य होता है उसी तरह मनुष्यके कामभोग देवोंके कामभोगोंके सामने नगण्य होते हैं ।

जिन जीवोंकी शिक्षाएँ विपुल हैं वे मूल पूजाको अतिक्रान्त कर जाते हैं । जो विशेषरूपसे शील और सदाचारसे युक्त होते हैं वे लाभरूप देवगतिको प्राप्त करते हैं ।

[५]

कुजए अपराजिए जहा, अकखेहि कुसलेहि दीवयं ।
कडमेव गहाय नो कलि, नो तीयं नो चैव दावरं ॥
एवं लोगम्मि ताइणा, बुइए.जे धम्मे अणुत्तरे ।
तं गिण्ह हियंति उत्तमं, कडमिव सेस वहाय पण्डिए ॥

सू० १, २। २ : २३-२४

जुआ खेलनेमें निपुण जुआडी जैसे जुआ खेलते समय 'कृत' नामक पाशको ही ग्रहण करता है, 'कलि', 'दापर' और 'त्रेत' को नहीं और पराजित नहीं होता; उसी तरह पण्डित इस लोकमें जगन्नाता सर्वज्ञाने जो उत्तम और अनुत्तर धर्म कहा है उसे ही अपने हितके लिए ग्रहण करे। पण्डित ग्रामघर्मोको—इन्द्रिय-विषयोको—उसी तरह छोड़ दे जिस तरह कुशल जुआडी 'कृत'के सिवा अन्य पाशको छोड़ता है।

[६]

१—जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो ।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥

उत्त० १ : ४

जैसे सड़े हुए कानोवाली कुत्ती सब जगहसे दुतकारी जाती है, उसी तरह दुशील, ज्ञानियोसे प्रतिकूल चलनेवाला भीर वाचाल मनुष्य सब जगहसे तिरस्कृत किया जाता है।

२—कण कुण्डां चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे ।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥

उत्त० १ : ५

जैसे अनाजके कुण्डको छोड़ सूअर विष्ठाका भोजन करता है, उसी तरह मृगकी तरह मूर्ख मनुष्य शील छोड़ दुःशीलमें रमण करता है ।

३—सुणियाभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्सय ।

विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो ॥

उत्ता० १ : ६

कृत्ती और सूअरके साथ उपमित दुराचारीकी दुर्दशाको सुन अपनी आत्माका हित चाहनेवाला पुरुष अपनी आत्माको विनयमें—शीलमें—स्थापन करे ।

[७]

१—जविणो भिगा जहा संता परियाणेण वज्जिया ।

असंक्रियाइं संकंति संक्रियाइं असंक्रिणो ॥

परियाणियाणि संकंता पासियाणि असंक्रिणो ।

अन्नाणभयसंविग्गा संपलित्ति तहिं तहिं ॥

अह तं पवेज्ज बज्जं अहे बज्जस्स वा वए ।

मुच्चेज्ज पयपासाओ तं तु मंदे न देहई ॥

अहियप्पाहियप्पन्नाणे विसमंतेणुवागए ।

स वद्धे पयपासेणं तत्थ घायं नियच्छइ ॥

सू० १, १ । २: ६-६

जैसे सुरक्षित स्थानसे भटके हुए चंचल मृग, शकाके स्थानमें शका नहीं करते और अशकाके स्थानमें शका करते हैं और इस तरह सुरक्षित स्थानमें शका करते हुए और पाशस्थानमें शका न करते हुए वे अज्ञानी और भयसन्न जीव उस पाशयुक्त स्थानमें फस जाते हैं ।

यदि मृग उस बन्धनको फाद कर चले जाय या उसके नीचेसे निकल जाय तो पैरके बन्धनसे मुक्त हो सकते हैं । पर वे मूर्ख यह नहीं देखते ।

२—धम्मपन्नवणा जा सा तं तु संकंति मूढगा ।

आरंभाइं न सकंति अवियत्ता अक्रोविया ॥

सत्त्वप्पगं विउक्कस्सं सव्वं णूमं विहूणिया ।

अप्पत्तियं अकम्मसे एयमट्ठं मिगे चुए ॥

जे एयं नाभिजाणंति मिच्छदिट्ठी अणारिया ।

मिगा वा पासवद्धा ते घायसेस्संति णंतसो ॥

१, १।२ : ११-१३

जिस तरह हिताहितके विवेकसे शुन्य मृग, विपमान्तमें पहुँच, पद-बन्धनके द्वारा बद्ध होकर वही मारे जाते हैं और इस तरह अपना बड़ासे बड़ा अहित करते हैं; इसी तरहसे विवेक शुन्य अज्ञानी मूढ धर्मस्थानमें शका करते हैं और आरम्भमें शका नहीं करते । लोभ, मान, माया और क्रोधको छोड़ मनुष्य कर्माश रहित—मुक्त होता है पर अज्ञानी मनुष्य मूर्ख मृगकी तरह इस बातको छोड़ देता है । जो बन्धन-मुक्तिके उपायको नहीं जानते वे मिथ्यादृष्टि अनायं उसी तरह अनन्त वार घातको प्राप्त करते हैं जिस तरह वह पाशवद्ध मृग ।

३—अमणुन्नसमुप्पायं दुक्खमेव विजाणिया ।

समुप्पायमजाणंता क्कं नार्यंति संवरं ॥

१, १।३ : १०

अशुभ अनूष्ठान करनेसे दुःखकी उत्पत्ति होती है । जो लोग दुःख की उत्पत्तिका कारण नहीं जानते हैं वे दुःखके नाशका उपाय कैसे जान सकते हैं ?

१९ : सम्यक्त्व पराक्रम

[१]

१—संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ ।अणंताणुर्वधिकोह-
माणमायालोभे खवेइ । नवं च कम्मं न वंघइ । ...मिच्छत्तविसोहिं
काऊण दंसणाराहए भवइ । ...अत्येगइए तेणेव भवग्गहणेणं
सिज्झई ।तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ । उत्त० २६ : १

सवेगसे हे भगवान् जीव क्या उपार्जन करता है ?

सवेगसे जीव अनुत्तर—श्रेष्ठ धर्मश्रद्धाको प्राप्त करता है । अनन्ता-
नुबन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभका क्षय करता है । नए कर्मोंका
वधन नहीं करता । मिथ्यात्वकी विशुद्धि कर दर्शनका आराधक होता
है । दर्शनका आराधक हो जीव उसी भवमें सिद्ध होता है और किसी
भी स्थितिमें तीसरे भवका तो अतिक्रमण करता ही नहीं ।

२—निव्वेएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

निव्वेएणं दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्व
मागच्छइ । सव्वविसएसु विरज्जइ ।आरंभपरिच्चार्यं करेइ ।

संसार-मगं वोच्छिदइ, सिद्धिमगं पडिवन्ने य हवइ ।

उत्त० २६ : २

निर्वेदसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? निर्वेदसे जीव,
देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी कामभोगोसे शीघ्र उदासीनता

को प्राप्त करता है । फिर सर्व विषयोसे विरक्त हो जाता है । फिर आरम्भका परित्याग करता है, जिससे ससार मार्गका छेदनकर सिद्धि-मार्गको ग्रहण करनेवाला होता है ।

३—धम्मसद्धाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

धम्मसद्धाएणं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ ।

उत्ता० २६ : ३

धर्मश्रद्धासे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? धर्मश्रद्धा से सातासुखमें अनुरागी जीव विषय सुखोसे विरक्त होता है ।

४—गुरुसाहम्मियसुस्सूणणएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

गुरुसाहम्मियसुस्सूणणएणं विणयपडिवत्ति जणयइ ।

उत्ता० २६ : ४

गुरु और सधर्मोकी श्रुश्रुसासे जीव क्या उपार्जन करता है ? इससे जीव विनय प्रतिपत्तिको प्राप्त करता है ।

[२]

१—कोहविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कोहविजएणं खंति जणयइ ।

उत्ता० २६ : ६७

क्रोध विजयसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ? क्रोध विजयसे क्षान्तिको उत्पन्न करता है ।

२—माणविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

माणविजएणं महवं जणयइ ।

उत्ता० २६ : ६८

मान विजयसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

मान विजयसे जीव मार्दव भावको उत्पन्न करता है ।

३—मायाविजयणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

मायाविजयणं अज्जव्वं जणयइ । उत्ता० २६ : ६६

माया विजयसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

माया विजयसे जीव आजैव भावको उत्पन्न करता है ।

४—लोभविजयणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ।

लोभविजयणं संतोसं जणयइ । उत्ता० २६ : ७०

लोभ विजयसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

लोभ विजयसे जीव सन्तोष भावका उत्पन्न करता है ।

[३]

१—वीयरगयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? वीयरगयाए

णं नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिदइ ।

मणुत्रामणुन्नेसु सदफरिसरूबरसंगधेसु सचित्ताचित्तमीसएसु

चेव विरज्जइ ।

उत्ता० २६ : ४५

वीतरागतासे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? वीत-
रागतासे स्नेहानुबन्ध तथा तृष्णानुबन्धका व्यवच्छेद हो जाता है । फिर
प्रिय-अप्रिय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा सचित, अचित और
मिथ्य द्रव्योसे विरक्ति हो जाती है ।

२—खंतीए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? खंतीए णं परीसहे

जिणेइ ।

उत्ता० २६ : ४६

क्षान्तिसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? क्षान्तिसे
जीव परिषद्दो—कष्टोको जीतता है ।

३—मुत्तीए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? मुत्तीए णं अक्किचणं

जणयइ । अक्किचणे य जीवे अत्थल्लोलाणं पुरिसाणं अपत्थ-

णिज्जे भवइ ।

उत्ता० २६ : ४७

मुक्ति—निलोभतासे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? निलोभतासे जीव अकिंचनताको उत्पन्न करता है—अकिंचनता से जीव अर्थलोलुपी पुरुषोका अप्रार्थनीय हो जाता है—उसे चोर आदिका भय नही रहता ।

४—अज्जवयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? अज्जवयाए णं कावज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं. अविसंवायणं जणयइ । अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ।

उत्ता० २६ : ४८

आर्जवसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ? आर्जवसे कायाकी ऋजूता, भावोकी ऋजूता, भापाकी ऋजूता एव अविसंवादता उत्पन्न करता है ।

५—मह्वयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? मह्वयाए णं अणु-स्सियत्तां जणयइ । अणुस्सियत्तेण जीवे मिउमह्व-संपन्ने अट्ट मयट्ठाणाइं निट्ठावेइ । उत्ता० २६ : ४९ ॥

मार्दवसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? मार्दवसे जीव अनुत्सुकता उत्पन्न करता है । मृदुमार्दवसे सम्पन्न अनुत्सुक जीव बाठ मद स्थानोका क्षय कर देता है ।

[४]

१—भावसच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? भावसच्चेणं भाव-विसोहिं जणयइ । भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहंत-पन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ.....परल्लोग धम्मस्स आराहए भवइ । उत्ता० २६ : ५०

भाव सत्यसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? भाव

सत्यसे जीव भाव विशुद्धि उत्पन्न करता है, जिससे जीव अहंन्त प्रति-
पादित धर्मकी आराधनाके लिए उद्यत होता है और इससे फिर पर-
लोकमें धर्मका आराधक होता है ।

२—करणसञ्चेषं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? करणसञ्चेषं
करणसत्तिं जणयइ । करणसञ्चे वट्टमाणे जीवे जहावाइ
तहाकारी यावि भवइ । उत्ता० २६ : ५१

करण-सत्यसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? करण-
सत्यसे जीव सत्यक्रियाकी शक्ति उत्पन्न करना है । करणसत्यमें स्थित
जीव जैसी कथनी वैसे करनीवाला होता है ।

३—जोगसञ्चेषं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

जोगसञ्चेषं जोगं विसोहेइ । उत्ता० २६ : ५२

योग सत्यसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? योग सत्यसे
जीव योगीकी विशुद्धि—मन, वचन, कायाकी प्रवृत्तिकी शुद्धि करता है ।

[५]

१—मणगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? मणगुत्तयाए णं

जीवे एगगं जणयइ । एगगचित्तेणं जीवे मणगुत्ते संजमा-

राहए भवइ ।

उत्ता० २६ : ५३

मन गुप्तिसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? मन
गुप्तिसे जीव एकाग्रताको उपार्जन करता है । एकाग्र चित्तवाला मनो-
गुप्त जीव संयमका आराधक होता है ।

२—वयगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? वयगुत्तयाए णं

निव्विकारत्तं जणयइ । निव्विकारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झ-

प्यजोगसाहणजुत्ते यावि भवइ ।

उत्ता० २६ : ५४

वचन गुप्तसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?
वचन गुप्तसे निर्विकार भावको उत्पन्न करता है । फिर उस
निर्विकार भावसे वह वचनगुप्त जीव आध्यात्म योगके साधनसे युक्त
होता है ।

३—कायगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? कायगुत्तयाए
संवरं जणयइ । संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं
करेइ ।

उत्त० १६ : ५५

काय गुप्तसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? काय
गुप्तसे सवर उत्पन्न करता है और फिर सवरसे वह कायगुप्त जीव
पापास्रवका निरोध करता है ।

[६]

१—आलोचनाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

आलोचनाएणं मायानियाणमिच्छादंसणसल्लक्षणं मोक्ख
मग्गविग्घाणं अणंतसंसारबंधणाणं उद्धरणं करेइ । उज्जु-
भावं च जणयइ ।अमाइत्थीवेनपुंसगवेथं च न बंधइ ।
पुब्बद्धं च णं निज्जरेइ ।

उत्त० २६ : ५

आलोचनासे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

आलोचनासे जीव मोक्षमार्गमें विघ्न करनेवाले और अनन्त संसार
को बढ़ानेवाले माया, निदान और मिथ्या दर्शन रूपी शक्तिको दूर
करता है । तथा ऋजुभावको उत्पन्न करता है । ऋजुभावी अमायावी
जीव स्त्रीवेद और नपुंसकवेदका बन्धन नहीं करता । पूर्वबद्ध
कर्मोंकी निर्जरा करता है ।

२—निन्दणयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

निन्दणयाएणं पच्छाणुतावं जणयइ । पच्छाणुतावेणं विरज्ज-
माणे करणगुणसेहिं पडिवज्जइ ।मोहणिज्जं' कम्मं
उग्घापइ ।

उत्त० २६ : ६

आत्म-निन्दा'से हे भगवन् ! जीव क्या उपाजंन करता है ?

आत्म-निन्दासे जीव पश्चात्ताप 'उत्पन्न करता है । पश्चात्तापके
कारण पापोसे विरक्कन जीव करण 'गुणश्रेणीको प्राप्त करता है । और
इससे अन्तमें मोहनीय कर्मका नाश करता है ।

३—गरहणयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

गरहणयाएणं अपुरक्कारं जणयइ ।अप्पसत्थेहिंतो
जोगेहिंतो नियत्तेई । पसत्थे थ पडिवज्जइ.....अणंत-
घाइपज्जवे खवेइ ।

उत्त० २६ : ७

आत्म-गर्हा'से हे भगवन् ! जीव क्या उपाजंन करता है ?

आत्म-गर्हासे जीव अपुरस्कार—आत्म-नञ्जनाको उत्पन्न करता है ।
फिर वह अप्रशस्त योगसे निवृत्त होता है और प्रशस्त योगको ग्रहण
करता है और इससे अन्तमें अनन्तघाती पर्यायो'का क्षय करता है ।

४—पायच्छित्तकरणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पायच्छित्तकरणेणं पायकम्मविसोहिं जणयइ । निरइयारे

१—आत्माके दोषोका चिन्तन—उनकी निन्दा ।

२—पहले नहीं अनुभव की हुई मनकी निर्मलता ।

३—दूसरेके समक्ष अपने दोषोको प्रगट करना ।

४—आत्माकी अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य और सुखकी शक्तिको
आवरण करनेवाले ज्ञानावरणीय आदि कर्म ।

आवि भवइ ।.....मगं च मगगफलं च विसोहेइ, आचारं
च आचारफलं च आराहेइ । उक्त० २६ : १६

प्रायश्चित्तसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

प्रायश्चित्तसे जीव पापकर्मविशुद्धिको प्राप्त करता है तथा निरति-
चार हो जाता है । मार्ग और मार्गफलकी विशुद्धि करता है और
आचार तथा आचारफलकी आराधना करता है ।

५—खमावणयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

खमावणयाएणं पल्हायणभावं जणयइ ।सव्वपाण
भूयजीवसत्तोसु मित्रीभावमुप्पाएइ ।.....भावविसोहिं काऊण
निव्वभए भवइ । उक्त० २६ : १७

क्षमापनासे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

क्षमापनासे जीव प्रह्लादभाव—चित्तकी प्रसन्नताको उत्पन्न करता
है, जिससे सर्व प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वोके प्रति मैत्रीभावको उत्पन्न
करता है । मैत्रीभावको उत्पन्न कर जीव भाव विशुद्धि कर निर्भय
होता है ।

[७]

१—संजमेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ । उक्त० २६ : २६

सयमसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

सयमसे अनासव अवस्थाको उत्पन्न करता है ।

२—तवेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

तवेणं वोदाणं जणयइ । उक्त० २६ : २७

तपसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

तपसे व्यवदान—पूर्व कर्मोंका क्षय कर आत्मशुद्धि उत्पन्न करता है ।

३—वोदाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वोदाणेणं अकिरियं जणयइ । अकिरियाए भविता तओ पच्छा सिद्धइ, सुद्धइ, मुद्धइ, परिनिव्वायइ, सब्बहुक्खाणमंतं करेइ ॥ उत्त० १६ : २८

व्यवदानसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

इससे जीव अक्रिया (क्रियाके अभाव) को उत्पन्न करता है, जिससे वह फिर सिद्ध, वृद्ध, युक्त, परिनिवृत्त और सर्व दुःखोंका अन्त करने वाला होता है ।

[८]

१—कसायपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कसायपच्चक्खाणेणं वीयरगभावं जणयइ । वीयरगभावपडिवन्नेवि य णं जीवे समसुहहुक्खे भवइ ।

उत्त० २६ : ३६

कषाय प्रत्याख्यानसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता ?

इसमें जीव वीतराग भावको उत्पन्न करता है, जिससे वह सुख दुःखमें समान भाववाला होता है ।

२—जोगपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? जोगपच्चक्खा-

णेणं अजोगत्तं जणयइ । अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न वन्धइ, पुण्ववद्धं निज्जेइ । उत्त० २६ : ३७

योग प्रत्याख्यानसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

इससे जीव अयोगित्व—मन, वचन, कायाकी प्रवृत्तिते शून्यता

को प्राप्त करता है। ऐसा जीव फिर नए कर्मोंका बन्ध नहीं करता तथा पूर्ववद्ध कर्मोंको भाड़ देता है।

[९]

१—एगगमणसंनिवेशणयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
एगगमणसंनिवेशणयाएणं चित्तनिरोहं करेइ ।

उत्त० २६ : २५

एकाग्रमनः संनिवेशनासे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?
इससे जीव चित्त निरोध करना है।

२—विणियट्टणयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

विणियट्टणयाएणं पावकम्माणं अकरणयाए अच्सुट्ठेइ ।
पुठ्ववद्धाणं य निज्जरणयाए पावं निथत्तेइ । तथो पच्छा
चाउरंतं संसारकंतागं वीइवयइ । उत्त० २६ : ३२॥

विनिवर्तनासे—विषय वासनाके त्यागसे—जीव क्या उपार्जना
करता ?

इससे जीव पाप कर्मोंको न करनेके लिये उद्यत होता है। फिर
पूर्व संचित कर्मोंकी निजंरा करनेसे पाप कर्मोंकी निवृत्ति करता है।
जिससे वादमें चतुर्गति रूप ससारकान्तारको पार करता है।

३—भत्तपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरु'भइ ।

उत्त० २६ : ४०

भक्त—आहार—प्रत्यास्थानसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन
करता है ?

आहार प्रत्याख्यानसे यह जीव अनेक सैकड़ो भवो—जन्मोंका निरोध करता है ।

[१०]

१—सामाह्णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सामाह्णं सावज्जजोगविरइ जणयइ । उत्त० २६ : ८

सामायिकसे हे भगवन् ? जीव क्या उत्पन्न करता है ?

सामायिकसे जीव सावद्य योगसे विरति—निवृत्तिको उपाज्जन करता है ।

२—चवठीसत्थएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

चवठीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ । उत्त० २६ : ९

चतुर्विंशतिस्तवसे यह जीव क्या फल उपाज्जन करता है ?

इससे जीव दर्शनकी—सम्यक्त्वकी—शुद्धिको प्राप्त करता है ।

३—वंदणएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? वंदणएणं नीयागोयं

कम्मं खवेइ । उच्चागोयं कम्मं निर्वंधइ । सोहर्गं च णं

अपडिहयं आणाफलं निव्वरोइ । दाहिणभावं च णं

जणयइ । उत्त० २६ : १०

वन्दनसे हे भगवन् ! जीव क्या उपाज्जन करता है ?

इससे नीचगौत्र कर्मका क्षय करता है, उच्च गौत्रकर्मका वध करता है । अप्रतिहत सीमाग्य और आज्ञाफलको प्राप्त करता है तथा दक्षिण भावको उपाज्जन करता है ।

४—पडिक्कमणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? पडिक्कमणेणं वय-

द्धिहाणि पिहेइ । पिहियवयद्धिद्धे पुण जीवे निरुद्धासवे

असवलचरित्ते अट्टसु पवयणमायासु उववत्ते अपुहरो

सुप्पणिहिए विहरइ ।

उत्त० २६ : ११

प्रतिक्रमणसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

इससे जीव व्रणोके छिद्रोको रोकता है, जिससे फिर जीव निरुद्धा-
न्नव हो, शूद्र चारित्र और आठ प्रवचन माताओमें सदा उपयोगवान
समाधिपूर्वक सयम मार्गमें विचरता है ।

५—काउस्सगोणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? काउस्सगोणं तीय-
पडुप्पन्नं पायच्छिरां विसोहेइ । विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे
निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणावगए
सुहं सुहेणं विहरइ । उक्त० २६ : १२

कायोत्सर्गसे हे भगवन् ! जीव क्या उपाजंन करता है ?

कायोत्सर्गसे अतीत वर्तमानके अतिचारोकी विशुद्धि करता है ।
प्रायश्चित्तसे विशुद्ध जीव उसी तरह निवृत हृदयवाला हो जाता है
जिस तरह भार हटा देनेसे भारवाहक । इस तरह हल्के भारवाला वह
प्रशस्त ध्यानको प्राप्त कर सुख पूर्वक विचरता है ।

६—पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? पच्चक्खाणेणं
आसवदाराइं निरुंभइ । (पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं
जणयइ । इच्छा निरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु
विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ) । उक्त० २६ : १३

प्रत्याख्यानसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

प्रत्याख्यानसे जीव आस्रव द्वारका निरोध करता है । (इच्छाका
निरोध करता है । ऐसा जीव फिर सर्व द्रव्य—पदार्थोंसे वितृष्ण हो—
शीतल होकर विचरता है ।)

२० : विक्रीर्ण सुभाषित

संसयं खलु सो कुणई, जो मगो कुणई घरं ।
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं ॥

उत्ता० ६ : २६

जो मार्गमें घर करता है, निश्चय ही वह सशयग्रन्त कार्य करता है । जहा पर जाना हो वही शाश्वत् घर करनेकी इच्छा करनी चाहिए ।

असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छादंडो पज्जुज्जई ।
अकारिणोऽत्थवज्जन्ति, मुच्चई कारओ ज्ञाणो ॥

उत्ता० ६ : ३०

मनृष्योके द्वारा अनेक वार मिथ्यादण्ड दिया जाता है । इस जगत् में न करनेवाले बान्धे जाते हैं और करनेवाले छुट जाते—निकल जाते हैं ।

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया ।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई ॥

उत्ता० १ : ४२

जो व्यवहार धर्मसे उत्पन्न है और ज्ञानी पुरुषोंने जिसका सदा आचरण किया है, उस व्यवहारका आचरण करनेवाला पुरुष कभी निंदाको प्राप्त नहीं होता ।

गवासं मणिकुण्डलं, पसवो दास पोरुसं ।
सन्वमेयं चङ्गता णं, कामरुवी भविस्ससि ॥

उत्त० ६ : ५

गाय, घोड़े, मणिकुण्डल, पशु, दास और अन्य पुत्र इन सबको छोड़ कर तू परलोकमें कामरूप देवता होगा ।

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो, वंघणेहिं वहेहि य ॥

उत्त० १ : १६

दूसरे लोग वध और वधनादिसे मेरा दमन करे—ऐसा न हो । दूसरोंके द्वारा दमन किया जाऊँ उसकी अपेक्षा संयम और तप द्वारा मैं ही अपनी आत्माका दमन करूँ—यह अच्छा है ।

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मंति सुवहूजिया ।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई ॥

उत्त० २२ : १६

यदि मेरे कारणसे ये सब बहुतसे जीव मारे जायगे तो मेरे लिए परलोकमें यह निश्चयसके लिए नहीं होगा ।

द्वग्गिणा जहारणो, दङ्गमाणेसु जन्तुसु ।
अन्ने सत्ता पमोयन्ति, रागदोसवसं गया ॥
एवमेव वयं भूढा, कामभोगेसु मुच्छिया ।
दङ्गमाणं ननुज्जामो, रागदोसग्गिणा जगं ॥

उत्त० १४ : ४२, ४३

दावाग्नि द्वारा अरण्यमें जन्तुओंको जलते देखकर जैसे दूर स्थित अन्य जीव राग द्वेषके अधीन हुए आनन्द मानते हैं, ऐसे ही हम मूर्ख कामभोगमें मूर्छित जीव, जन्म-मरणकी अग्निसे घषकते इस जगत्को

देख कर भी राग-द्वेषवश क्रोध नहीं पाते !

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
मायागईपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥

उत्त० ६ : ५४ ॥

क्रोधसे मनुष्य नीचे गिरता है, मानसे अधोगति पाता है, माया से सद्गतिका रास्ता रुकता है और लोभसे इहभव और परभव दोनों विगडते हैं ।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सब्बविणासणो ॥

द० ८ : ३८

क्रोध पारस्परिक प्रीतिका नाश करता है, मानसे विनय दूर होता है, माया मित्रताका नाश करती है और लोभ सभी गुणोंको हरता है ।

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणवभवस्स ॥

द० ८ : ४०

अनियंत्रित क्रोध और मान तथा बढी हुई माया और लोभ—ये चारो मलीन कषायें भव-भ्रमण रूपी पीघेकी जड़ोंको सीचनेवाली हैं (उसे कभी सूखा नहीं होने देती अर्थात् पुन पुन. जन्म-मरण का कारण है) ।

कोहं माणं निग्गिहत्ता, मायं लोभं च सब्बसो ।
इदियाइं वसेकारं, अप्पाणं व्वसंहरे ॥

उत्त० २२ : ४८

क्रोध, मान, माया और लोभको सर्व प्रकारसे निग्रह कर तथा इन्द्रियोको वशमें कर आत्माको स्थिर करो ।

पंचिन्द्रियाणि क्रोहं, माणं मायं तद्देव लोभं च ।
दुर्जयं चैव अप्पाणं, सत्त्वं अप्पे जिए जियं ॥

उ० ६ । ३६ ॥

पाचो इन्द्रियां, क्रोध, मान, माया, लोभ और दुर्जय आत्मा—ये दस शत्रु हैं । एक आत्माको जीत लेनेसे सब जीत लिए जाते हैं ।

सोही वज्जुअभूअस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ ।
णिव्वाणं परमं जाइ, धयसित्तं व्व पावए ॥

उत्त० ३ : १२

ऋजू—सरल आत्माकी ही शुद्धि होती है । धर्म शुद्ध आत्मामें ही ठहरता है । जिस तरह घी से सीची हुई निर्धूम अग्नि दिव्य प्रकाशको प्राप्त होती है उसी तरह शुद्ध आत्मा परम निर्वाणको प्राप्त करती है ।

एगधो विरइं कुज्जा, एगधो य पवत्तणं ।
असंजमे नियत्ति च, संजमे य पवत्तणं ॥

उत्त० ३१ : १

'भुमुक्षु एक वातसे विरति करे और एक वातमें प्रवृत्ति । असयमसे—हिंसादिकसे—निवृत्ति करे और सयममें—अहिंसादिमें—प्रवृत्ति ।

पडन्ति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो ।
दिव्वं च गइं गच्छन्ति, चरित्ता धम्मारियं ॥

उत्त० १८ : २५

जो नर पापी होते हैं वे घोर नरकमें पडने हैं और जो आर्य (सत्य) धर्मका पालन करते हैं, वे मनुष्य दिव्य गतिमें जाते हैं ।

किरिअं रोअए धीरो, अकिरिअं परिवज्जए ।
दिट्ठीए दिट्ठीसम्पत्ते, धम्मं चर सुदुच्चरं ॥

उत्त० १८ : ३३

वीर पुरुष क्रियामें रुचि करे और अक्रियाको छोड़ दे तथा सम्यक्
दृष्टिसे दृष्टि-सम्पत्त होकर दुष्कर धर्मका आचरण करे ।

तहेव हिंसं अलियं, चोज्ज अवस्मसेवणं ।
इच्छाकामं च लोमं च, संजओ परिवज्जए ॥

उत्त० ३५ : ३

इसी तरह हिंस्र, झूठ, चोरी, मँथून-चेवन, भोगलिप्ता और लोन
का संयमी मुरूप त्याग करे ।

अत्यंगयंमि आइच्चे, पुरत्या य अणुग्गए ।
आहारमइयं सर्व्वं, मणसा वि न पत्थए ॥

दृ० ८ : २८

नूर्यके अन्त होनेसे प्रातः काल नूर्यके उदय न होने तक सर्व
प्रकारके आहारादि—जान-पानकी भूमुद्धु मनसे नो इच्छा न करे ।

अञ्चणं रचणं चैव, वन्दणं पूअणं तथा ।
इट्ठीसक्कारसम्माणं, मणसाऽवि न पत्थए ॥

उत्त० ३५ : १८

अर्चा, सत्कार, वन्दन, पूजन, ऋद्धि, सत्कार, सम्मान—इन सबकी
भूमुद्धु मनसे नो इच्छा न करे ।

अट्टरुहाणि वज्जित्ता, माएज्जा सुसमाहिए ।
धम्मसुक्काइं म्हाणाइं, भाणं तं तु बुहा वए ॥

उत्त० ३० : ३५

आर्त और रौद्र इन दो ध्यानोका वर्जन कर नुसमाहित भूमुद्धु धर्म

और शुक्ल ध्यानका चिंतन करे । ज्ञानियोने इसे ही ध्यान-तप कहा है ।

अट्टावर्यं न सिक्खिज्जा, वेहाईर्यं च णो वए ।
हत्थकम्मं विवार्यं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥

सू० १, ६ : १७

जुआ खेलना न सीखे, जो बात धर्मसे विरुद्ध है वह न बोले, हस्त कर्म और विवाद न करे । इन बातोंको पापका हेतु जानकर विद्वान् इनका त्याग करे ।

जे य चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे ।
वुज्झइ से अविणीयप्पा, कट्टं सोयगर्यं जह्हा ॥

दस० ६ । २ : ३

जो मनुष्य पशुके समान चण्ड—क्रोधी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और घूर्त होता है, वह दुःशील पुरुष मंसार-प्रवाहमें उसी प्रकार बह जाता है जिस प्रकार काठका टुकड़ा समुद्रके श्रोत में ।

निहं च न बहु मन्नेज्जा, सप्पहासं विवज्जए ।
मिहोकहाहिं न रमे, सज्जायम्मि रओ सया ॥

द० ८ : ४२

मुमुक्षु निद्राका विशेष आदर न करे, हँसी मजाकका वर्जन करे, गुप्त बात या स्त्रीकी कथामें आनन्द न ले पर सदा स्वाध्यायमें रत रहे ।

तत्थिमा तइया भासा, जं वइत्ताऽणुत्तप्पई ।

जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा नियण्ठिया ॥

सू० १, ६ : २६

भाषा चार प्रकारकी है, उनमें झूठसे मिली हुई भाषा तीसरी है । विवेकी पुरुष ऐसी मिश्र भाषा न बोले । न वैसे भाषा बोले जिससे

वादमें पश्चाताप करना पड़े । न प्रच्छन्न वात कहे । यही निग्रन्थ ऋषियोकी आज्ञा है ।

जसं किञ्चित् सिलोगं च, जा य वंदणपूयणा ।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्ज परिजाणिया ॥

सू० १, ६ : २२

यश, कीर्ति, श्लाघा, आदर, वदन, पूजन तथा इस लाकमें जो भो विषय इच्छा है उन्हें विज्ञ पुरुष पापके कारण जानकर छोडे ।

इहमेगे उ भासन्ति, सायं साएण विज्जई ।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहियं ॥

कई एमा कहते हैं कि सुखमें ही सुखकी प्राप्ति होती है परन्तु वे मूर्ख हैं । जो परम समाधिको प्राप्त करानेवाले ज्ञान-दर्शन-रूप आर्य मार्गको छोड़ते हैं, वे सदा ससारमें भ्रमण करते हैं ।

मा एयं अवमन्नन्ता, अप्पेणं लुम्पहा वहुं ।
एयस्स उ अमोक्खाए, अयोहारि व्व जूरह ॥

सू० १, ३ । ४ : ६, ७

इस परम मार्गको तिरस्कार करके तुच्छ विषय सुखके लोभसे अति मूल्यवान् मोक्ष सुखको मत विगाडो । "सुखमें सुख होता है"— इस असत्यको नहीं छोड़ने पर लोहेके बदलेमें सोनेको न लेनेवाले वणिक्की तरह पश्चाताप करोगे ।

अध्रुवं जीवियं नञ्जा, सिद्धिमग्गं वियाणिया ।
विणियट्ठेज्ज भोगेसु, आवं परिमियमप्पणो ॥

द० ८ : ३४

मृमुक्षु, इस जीवनको अध्रुव जान तथा सिद्धिमार्ग—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य रूप मोक्ष-मार्गको कल्याणकारी समझ, भांगोसे निपट

हो जाय । मनुष्यकी आयु बडी हो परिमित है ।

बलं थामं च पेहाए, सद्धामारोगमप्पणो ।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥

उ० ८ : ३५

अपने बल और दृढता, श्रद्धा और आरोग्यको देख कर तथा क्षेत्र और कालको जान कर उसके अनुसार आत्माको तपश्चर्यादिमें लगावे ।

गारं पि य आवसे नरे, अणुपुब्बं पाणेहि संजए ।
समता सव्वत्थ सुव्वए, देवाणं गच्छे सलोगयं ॥

सू० १, २ । ३ : १३

गृहमें निवास करता हुआ भी जो मनुष्य, प्राणियोंके प्रति यथा-शक्य सयमी और समभाव रखनेवाला होता है—वह सुन्नती देवताओंके लोकमें जाता है ।

कंदप्पमाभिओगं च, कित्विसियं मोहमासुरत्तं च ।
एयाड दुग्गईओ, मरणम्मि विराहिया होत्ति ॥

उ० ३६ : २५७

कन्दर्प भावना, आभियोगी भावना, कित्विपी भावना, मोह भावना और आसुरी भावना—ये दुर्गति रूप हैं । मरणके समय इन भावनाओंसे जीव विराधक होते हैं ।

कंदप्पकुक्कुयाइं तह, सीलसहावहासविग्गहाहि ।
विग्गह्वेतो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ ॥

उ० ३६. : २६४ ॥

कन्दर्प^१, कीत्कुच्य^२, शील^३, स्वभाव, हास्य, और विकथाबो^४ से अन्य आत्माओको विस्मय उत्पन्न करनेवाला कन्दर्पी भावनाका भाने-वाला होता है ।

मंता जोगं काउं, भुईकम्मं च जे पउंजंति ।

साय-रस-इडिड-हेउं, अभिओगं भावणं कुणइ ॥

उ० ३६ : २६५

जो साता, रस और ऋद्धिके लिए मत्र और भूतिकर्म^५ का प्रयोग करता है, वह आभियोगी भावनाका भानेवाला है ।

नाणस्स केवलीणं, घम्मायरियस्स संघसाहूणं ।

माई अवण्णवाई, कित्विसियं भावणं कुणइ ॥

उ० ३६ : २६६

ज्ञान, केवली, घर्माचार्य, सघ और साधुओका अवर्णवाद बोलनेवाला—निंदा करनेवाला मायावी मनुष्य कित्विपी भावनाकी भावना करता है ।

अणुवद्धरोसपसरो, तह य निमित्तम्मि होइ पडिसेवी ।

एएहिं कारणेहिं, आसुरीयं भावणं कुणइ ॥

उ० ३६ : २६७

१—कन्दर्प—काम-कथा

२—कीत्कुच्य—भावभङ्गी और वाक् विन्यासके द्वारा हँसी उत्पन्न करना

३—शील—निरर्थक चेष्टा

४—विकथा—स्त्री, खानपान, देश आदिके विषयमें सारहीन वार्तालाप

५—मन्त्रित किए हुए भस्म आदिका प्रयोग

निरन्तर रोपका प्रसार करनेवाला तथा निमित्तका सेवन करने वाला^१—इन कारणोंसे आसुरी-भावनाको भाता है ।

सत्थगह्वणं विसभक्खणं च, जलणं च जलपवेसो य ।

अणायारभंडसेवी, जम्मणमरणणि वंधंति ॥

च० ३६ : २६८

षस्त्र-ग्रहण, विष-भक्षण, अग्निमें झपपात, जल-प्रवेश, अनाचार—
भ्रष्टता तथा मजाकके द्वारा जो जीव मृत्युको प्रग्त करते हैं वे जन्म
मरणकी वृद्धि करते हैं ।

१—ज्योतिष-शास्त्र द्वारा अथवा भूकम्पादि निमित्तो द्वारा शुभाशुभका
कथन करनेवाला ।

२१ : भावना

भावना और शुद्धि

तर्हि तर्हि सुयक्खायं, से य सच्च सुआहिए ।
सया सच्चेण सम्पन्ने, मेत्ति भूएहि कप्पए ॥

सू० १, १५ : ३

वीराग पुरुषपने जो-जो भाव कहे हे वे सब वास्तवमें यथार्थ है ।
जिसकी अन्तरात्मा सदा सत्य भावोंसे ओतप्रोत—उनमें स्थिर होती
है, वह सब जीवोंके प्रति मैत्री-भाव रखता है ।

भूएहि न विरुज्जेज्जा, एस धम्मे वुसीमथो ।
वुसिमं जगं परिन्नाय, अस्सि जीवियभावणा ॥

सू० १, १५ : ४

किसी भी प्राणीके प्रति वैर-विरोध—द्वेष नहीं करना—यही
नयमी पुरुषका धर्म है । सयमी पुरुष जगत्के स्वरूपको अच्छी तरह
समझ कर वास्तविक भावों—एकःस्त निश्चित सत्यों—पर जीवनको
चलाता है ।

भावणालोगसुद्धप्पा, जले नावा व आहिया ।

नावा [व तीरसम्पन्ना, सन्वदुक्खा तिबट्ठी ॥

सू० १, १५ : ६

जिस तरह नौका अथाह जलको पारकर किनारे लगती है, उमी

तरह जिसकी अन्तर-आत्मा भावनारूपी योग-चिन्तन से विद्युद्ध—
निर्मत होती है, वह ससार समुद्रको तिरकर—सर्व दुखोको पारकर
—परम सुखको पाता है ।

से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए य अन्तए ।

अन्तेण खुरो वंहरई, चक्कं अन्तेण लोदुई ॥

अन्ताणि धीरा सेवन्ति, तेण अन्तकरा इह ।

सू० १, १५ : १४, १५

जो विषय वासनाओका अन्त करता है, वह पुरुष दुनियाके लिए
चक्षुरूप है । क्षुर (उस्तुरा) अपने अन्त—धार पर चलता है, और
चक्का—पहिया भी अपने अन्त—किनारो पर ही चलता है । धीर
पुरुष भी अन्तका सेवन करते हैं—एकान्त निश्चित सत्योपर जीवनको
स्थिर करते हैं और इसीसे वे ससारका—वार-वार जन्म-मरणका—
अन्त करते हैं ।

१ : दुर्लभ बोधि भावना

१—संबुज्झह कि न बुज्झह, संवोही खलु पेच्च दुल्लहा ।

नो ह्वणमन्ति राइयो, नो सुलभं पुणरावि जीविथं ॥

सू० १, २ : १ : १

समझो ! तुम समझते क्यों नहीं ? मनुष्य भव बीत जाने पर
सत्वोष—ज्ञान प्राप्त होना निश्चय ही दुर्लभ है । बीती हुई रातें नहीं
फिरती और न मनुष्य-जीवन वार-वार सुलभ होता है ।

२—संबुज्झा जंतवो ! माणसत्तं, दट्ठभयं घालिसेणं अलंमो ।

एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सकम्मुणा विपरियासुवेइ ॥

सू० १, ७ : ११

हे जीवो ! समजो ! मनुष्य भव दुर्लभ है । नरक तिर्यञ्च गतियोमें केवल भय है । विवेकहीन जीवोंको शीघ्र बोध नहीं होता । यह संसार ज्वराक्रान्तकी तरह एकांत दुःखी है । सुखकी कामना करता हुआ जीव अपने किए हुए कर्मोंसे ही दुःख पाता है ।

३—निद्रियद्वा च देवा वा, उत्तरीए इयं सुयं ।

सुयं च मेयमेगेसि, अमणुत्सेसु नो तहा ॥

सू० १-१५ : १६

लोकोत्तर धर्मकी आराधना करनेवाला या तो पंचम गति—मोक्ष का पाता है या देवगति को । मैंने मुना है कि मनुष्यतर जन्ममें ऐसा होना सम्भव नहीं ।

४—अन्तं करन्ति दुक्खाणं, इहमेगेसिमाहियं ।

आघायं पुण एगेसि, दुल्लभेयं समुत्सए ॥

सू० १, १५ : १७

कई कहते हैं कि देव ही दुःखोंका अन्त कर सकते हैं परन्तु ज्ञानियों ने बार-बार कहा है कि यह मनुष्य भव दुर्लभ है । जो प्राणी मनुष्य नहीं वे अपने समस्त दुःखोंका नाश नहीं कर सकते ।

५—इओ विद्धं समाणस्स, पुणो संवोहि दुल्लहा ।

दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मदुं वियागरे ॥

सू० १, १५ : १८

एक बार मनुष्य भव ध्वंस हुआ कि फिर उसका पाना सरल नहीं होगा । उसके बिना नत्वोष पाना दुर्लभ होता है और ऐसी चित्तवृत्ति भी दुर्लभ होती है जिमने धर्मकी आराधना हो सके ।

६—अन्ताणि धीरा सेवन्ति, तेण अन्तकरा इह ।

इह माणुत्सए ठाणे, धम्ममाराहिउं नरा ॥

सू० १, १५ : १९

धीर पुरुष अन्तका सेवन करते हैं—जीवन-धुराको वास्तविक तत्त्वोके छोर पर चलाते हैं और ऐसा कर ही वे ससारसे पारगामी होते हैं। इस मनुष्य लोकमे धर्मकी आराधनाके लिए ही हम मनुष्य हुए हैं।

२ : अशरण भावना

१—जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिसहरा भवन्ति ॥

उत्त० १३ : २२

निश्चय ही अन्तकालमे मृत्यु मनुष्यको वैसे ही पकड कर ले जाती है, जैसे सिंह मृग को। अन्तकालके समय माता-पिता या भाई-बन्धु कोई उसके भागीदार नहीं होते।

२—वित्तं पसवो य नाइयो, तं बाले सरणं ति मन्नई ।
एए मम तेसु वी अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई ॥

सू० १, २ । ३ : १६

मूर्ख मनुष्य धन, पशु और जातिवालोको अपनी शरण—आश्रय-स्थान मानता है और समझता है—‘ये मेरे हैं’ और ‘मे उनका हूँ’। परन्तु उनमेसे कोई भी आपत्तिकालमें त्राण तथा शरण देनेवाला नहीं।

३—अवभागमियम्मि वा दुहे, अहवा उक्कमिए भवन्तिए ।
एगस्स गई य आगई, विट्ठमन्ता सरणं न मन्नई ॥

सू० १, २ । ३ : १७

दुःख आ पढ़ने पर मनुष्य अकेला ही उसे भोगता है। आयुष्य

श्रीगृह होने पर जोव अकेला ही गति आगति करता है । त्रिवेणी पुत्र्य,
धन, पशु, सगे, सम्बन्धियोंको बना भी शरण रूप नहीं समझना ।

४—माया पिया षड्सा भाया, मज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालं ते मम ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥

उत्त० ६ : ३

त्रिवेणी पुरुषसोचं—‘माता, पिता, पुत्र-वधू, भाई, भार्या तथा
श्रीरसपुत्र—ये कोई भी अपने कर्मोंसे दुःख पाते हुए मृतकी स्था
करणेसे समर्थ नहीं हैं ।’

५—सर्वं जगं जडं तुहं, सर्वं वा वि धणं भवे ।

सर्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥

उत्त० १४ : ३६

यदि धारा जगत् और यह साग धन भी तुम्हारा ही जाय, तो नी
वे तब अधर्याप्त ही होंगे और न ये सब तुम्हारा रक्षण करनेमें ही
समर्थ होंगे ।

६—चिच्चा चित्तं च पुत्तो य, पाइओ य परिग्गहं ।

चिच्चा ण गंतगं सोयं, निरवेक्खो परिब्बाए ॥

सू० १, ६ : ७

त्रिवेणी मनुष्य धन, पुत्र, ज्ञानि और परिग्रह तथा अन्तर शोकको
छोड़ निरंश ही संयमका अनुष्ठान करे ।

७—सरिद्धिसि रायं जया तथा वा, सणोरमे कामगुणे पहाय ।

एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं, न विज्जहे अन्नमिहेह किंचि ॥

उत्त० १४ : ४०

हे राजन् ! यदा कदा इन मनोरम कामभीर्षोको छोड़ कर तुम्हें
जल बध्ना है । इस समारम्भे धर्म ही प्राण है । धर्मके मिथा अन्य
बन्धु नहीं जो दुःखितसे स्था कर सके ।

३ : संसार भावना

जन्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो ह्यु संसारो, जत्थ कीक्षन्ति जंतुणो ॥

उत्त० १६ : १६

यहां जन्मका दुःख है, जराका दुःख है, रोगोंका दुःख है, मरणका दुःख है; इस तरह इस संसारमें दुःख ही दुःख है, जहां बेचारे प्राणियों नाना प्रकारके क्लेश पाते हैं ।

सारीरमाणसा चेव, वेयणाओ अणन्तसो ।
मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्खभयाणि य ॥

उत्त० १६ : ४६

इस आत्माने अनन्त वार तीव्र शारीरिक और मानसिक वेदनाएं भोगी हैं और अनन्त दुःख और भयसे वह पीड़ित हुई हैं ।

जराभरणकन्तारे, चाडरन्ते भयागरे ।
मए सोढाणि भीमाणि, जन्माणि मरणाणि य ॥

उत्त० १६ : ४७

इस जन्म-मरणरूपी कातार और चार गतिरूप भयके घाममें मैंने अनन्तवार तीव्र दुःखपूर्ण जन्म और मरण किए हैं ।

निच्चं भीएण तत्थेण, दुहिएण वहिएण य ।
परमा दुहसंवद्धा, वेयणा वेइया मए ॥

उत्त० १६ : ७२

अत्यन्त भय, त्रास, दुःख और व्यथाका अनुभव करते हुए मैंने नित्य घोर दुःखदायी वेदनाएं वेदी हैं—भोगी हैं ।

जारिसा माणुसे लोए, ताया दीसन्ति वेयणा ।

एत्तो अणन्तगुणिया, नरएसु दुक्खवेयणा ॥

उत्ता० १६ : ७४

मनूष्य लोकमें जैसी वेदनाए दिखाई देती है, उनसे अनन्त गुणी दुःखदायी वेदनाए नरकमें हैं ।

सव्व भवेसु असाया, वेयणां वेइया मए ।

निमेसन्तरमित्तां पि, जं साया नत्थि वेयणा ॥

उत्त० १६ : ७५

सब भवोंमें मैंने असाया वेदना—दुःख ही दुःख भोगे । सुखकी तो निमेष भी नहीं, केवल वेदना ही है ।

मञ्जुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ ।

अमोहा रयणी जुत्ता, एवं ताय ! विजाणह ॥

अब्भाहयम्मि लोगम्मि, सव्वओ परिवारिए ।

अमोहाहिं पडन्तीहिं, गिहसि न रइं लभे ॥

उत्ता० १४ : २२ : २३

हे पिताजी ! यह लोक मृत्युसे पीडित है, जरासे घिरा हुआ है, जाते हुए रात-दिन अमोघ शस्त्र है । इस पीडित, सर्व ओरसे घिरे हुए तथा अमोघ शस्त्रोंकी घातसे सत्रस्त लोकमें—घरमें हम जरा भी आनन्द नहीं पाते ।

जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू ।

सारभण्डाणि नीणेइ, असारं अवड्ढम्हइ ॥

एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य ।

अप्याणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ ॥

उत्ता० १६ : २३-२४

जैसे घरमे आग लगने पर गृहपति सार वस्तुओंको निकालता है और असारको छोड़ देता है उसी तरह जरा और मरणरूपी अग्निमे जलते हुए इस संसारमे अपनी आत्माका उद्धार करेगा ।

अस्थि एगो महादीवो, चारिमज्जे महालओ ।

महावदगवेगस्स गई, तत्थ न विज्जई ॥

उत्त० २३ : ६६

उदधिके बीच एक विस्तृत महाद्वीप है, जहा पर महान् उदक— समुद्रके प्रवाहकी पहुच नही होती ।

जरामरणवेगेणं, तुज्झमाणण पाणिणं ।

धम्मो दीवो पइहा थ, गई सरणमुत्तमं ॥

उत्त० २३ : ६८

जरा और मरणरूपी जलके वेगसे बहते हुए प्राणियोंके लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठान, गति और उत्तम शरण है ।

४ : अनित्य भावना

१—अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,

न थावि भोगा पुरिसाण निच्चा ।

अविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,

दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥

उत्त० १३ : ३१

काल बीता जा रहा है । रात्रिया भागी जा रही है । ये मनुष्योंके कामभोग नित्य नही है । जैसे पक्षी क्षीणफलवाले द्रुमको छोड़कर चले जाते है उसी तरह कामभोग क्षीणभागी पुरुषको छोड़ देते है ।

२—हृत्थीं मे पांथा मे बाहा मे ऊरु मे ड्येरं मे सीसं मे सीलं मे
 आंऊ मे बलं मे वण्णो मे तयां मे छायां मे सौंयं मे चक्खू मे घाणं मे
 जिब्भा मे फासा मे ममाइज्जइ, वयाइ पडिज्जरइ । तंजहाँ—आउओ
 बलाओ वण्णाओ तयाओ छायाओ सौंयाओ जांव फासाओ ।
 सुसंधिओ संधी विसंधीभवइ, वलियतरंगे गाणं भवई, केसा किण्हा
 पलिया भवति । तं जहा—जंपि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवइयं
 एयं पि य अणुपुन्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सइ । सू० २, १ : १३

ये मेरे हाथ है, ये मेरे पैर हैं, ये मेरी भुजाएँ हैं, यह मेरी नाभ
 है, यह मेरा पेट है, यह मेरा सिर है, यह मेरा शील है, यह मेरी
 आयु है, यह मेरा बल है, यह मेरा वर्ण है, यह मेरी त्वचा है, यह
 मेरी कान्ति है, यह मेरे कान हैं, यह मेरे नेत्र हैं, यह मेरी नासिका
 है, यह मेरी जीभ है, यह मेरा स्पर्श है । इस प्रकार प्राणी इनमें
 ममता करता है । परन्तु वय आने पर ये सब जीर्ण हो जाते हैं,
 मनुष्य—आयु, बल, वर्ण, त्वचा, कान्ति, कान, तथा स्पर्श पर्यन्त सभी
 इन्द्रियोसे हीन हो जाता है । उसकी दृढ सन्धिया ढीली हो जाती है,
 शरीरमे सर्वत्र चमडा सकुचित होकर तरगकी रेखाके समान हो जाता
 है, काले केश सफेद हो जाते हैं । यह जो आहारसे वृद्धि प्राप्त उत्तम
 शरीर है, इसे भी क्रमशः अवधि पूरी होने पर छोड़ देना पड़ेगा ।

३—गढभाइ सिज्जंति जुयावुयाणां,

नरा परे पञ्चसिहा कुमारा ।

जुवाणगा मज्झिम थेरगा य,

चर्यंति ते आउखए पलोणा ॥

सू० १, ७ : १०

कई जीव गर्भावस्थामें ही मर जाते हैं, कई स्पष्ट बोलनेकी

अवस्थामें तथा कई बोलनेकी अवस्था आनेके पहले ही चल बसते हैं । कई कुमार अवस्थामें, कई युवा होकर, कई आधी उमरके होकर, और कई वृद्ध होकर मर जाते हैं । मृत्यु हर अवस्थामें आ घेरती है ।

४—डहरा बुड्ढा य पासह, गढभत्था वि चयन्ति माणवा ।

सेणे जह बट्टयं हरे, एवं आडखयम्मि तुट्टई ॥

सू० १।२।१:२

देखो ! युवक और बूढ़े यहा तक कि गर्भस्थ बालक तक चल बसते हैं । जैसे बाज पक्षीको हर लेता है वैसे ही आयु शेष होने पर काल जीवनको हर लेता है ।

५—ठाणी विविह ठाणाणि, चइस्संति न संसथो ।

अणियए अयं वासे, नायएहि सुहीहि य ॥

एवमायाय मेहावो, अप्पणो गिद्धिसुद्धरे ।

आरियं उवसंपज्जे, सब्बधम्ममकोवियं ॥

सू० १।८:१२, १३

विविध स्थानोंमें स्थित प्राणी एक-न-एक दिन अपने स्थानको छोड़ कर जानेवाले हैं—इसमें जरा भी सशय नहीं है । ज्ञाति और मित्रोंके साथ यह सवास भी अनित्य है । उपरोक्त सत्यको जानकर विवेकी पुरुष अपनी आसक्तिको हटा दे और सर्व शुभ धर्मोंसे युक्त मोक्ष ले जानेवाले आर्य धर्मको ग्रहण करे ।

६—उवणिज्जई जीवियमप्पमायं, वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं ।

पञ्चालराया ! वयणं सुणाहि, मा कासि कम्माईं महालय्याईं ॥

उत्त० १३:२६

आयुष्य निरन्तर क्षय होता जा रहा है, जरा मनुष्यके वरुण—रूप

—सुन्दरताको हर रही हूँ । हे पचाल राजन् ! मेरी बात सुनो ! पाप कर्मोंको मत करो ।

७—जया सर्वं परिष्वज, गन्तव्वमवसस्स ते ।

अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं रज्जम्मि पसज्जसि ॥

उत्ता० १८ : १२

हे राजन् ! सब चीजोंको छोड़कर तुम्हे एक दिन परवशतासे अवश्य जाना है फिर इस अनित्य लोकमें इस राज्य पर तुम्हे आसक्ति क्यों है ?

८—जीवियं चैव रूवं च, विज्जुसंपायचञ्चलं ।

जत्थ तं मुज्झसि रायं, पेच्चत्थं नाव बुज्झसि ॥

उत्ता० १८ : १३

जिसमें तुम मूर्छित हो रहे हो—वह जीवन और रूप विद्युत-सम्पातकी तरह चंचल है । हे राजन् ! परलोकमें क्या अर्थकारी—हितकर है यह क्यों नहीं समझते ?

५ : एकत्व भावना

१—से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेयं । इणमेव उवणीययरारंगं, तं जहा—माया मे पिया मे भाया मे भगिणी मे भज्जा मे पुत्ता मे धूया मे पेसा मे नत्ता मे सुण्हा मे सुहा मे पिया मे सहा मे सयणसंगन्थसंथुया मे, एए खलु मम नायओ अहमवि एएसिं । एवं से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा । इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव दुक्खे नो सुहे । से हंता भयं-तारो ! णायओ इमं मम अन्नयरं दुक्खं रोगायंकं परियाइयह अणिट्ठं जाव णो सुहं, ता अहं दुक्खामि वा सोयामि वा जाव परि-त्तप्पामि वा, इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खाओ रोगायंकाओ

परिमोह अणिट्ठाओ जाव णो सुहावो, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ ।
 तेषिं वा वि भयंतारारणं मम नाययाणं अन्नयरे दुक्खे रोगायकं
 समुपज्जेज्जा अणिट्ठे जाव णो सुहे, से हंता अहमेएसिं भयन्तारारणं
 णाययाणं इमं अन्नयरं दुक्खं रोगायकं परियाइयामि अणिट्ठं
 जाव णो सुहे, मा मे दुक्खंतु वा जाव मा मे परित्पंतु वा, इमाओ
 णं अन्नयराओ दुक्खाओ रोगायकाओ परिमोएमि अणिट्ठाओ
 जाव णो सुहाओ, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ । अन्नस्स दुक्खं
 अन्नो न परियाइयइ अन्नेण कडं अन्नो नो पडिसंवेदेइ पत्तोयं
 जायइ पत्तोयं मरइ पत्तोयं चयइ पत्तोयं उववज्जइ पत्तोयं भंक्का पत्तोयं
 सन्ना पत्तोयं सन्ना एवं विन्नू वेयणा ।

बुद्धिमान पुरुष सोचे कि ये कामभोग तो बहिरग पदार्थ है । इनसे निकट सम्बन्धी तो अन्य है जैसेकि—यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है, यह मेरे भाई हैं, यह मेरी बहिन है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरे पुत्र हैं, यह मेरी पुत्री है, यह मेरे दास हैं, यह मेरा नाती है, यह मेरी पुत्रवधू है, यह मेरा मित्र है, यह मेरे पहले और पीछेके परिचित सम्बन्धी हैं । निश्चय ही ये सब ज्ञाति मेरे हैं और मैं उनका हूँ । परन्तु बुद्धिमान पुरुषको पहले अपने आप विचार लेना चाहिए कि यदि कभी मुझको किसी प्रकारका दुःख या रोग उत्पन्न हो, जो अनिष्ट और दुःखदायी है, और उस समय मैं अपने ज्ञातिवर्गसे यदि यह कहूँ कि—हे भयसे रक्षा करनेवाले ज्ञातिवर्ग ! मेरे इस अनिष्ट और अप्रिय दुःख तथा रोगमें आपलोग हिस्सा देंटायें, क्योंकि—मैं इस दुःखसे पीड़ित हूँ, शोकाकुल हूँ, बहुत ताप भोग रहा हूँ; आप इस अनिष्ट दुःख तथा रोगसे मुझको मुक्त करे तो वे ज्ञातिवर्ग इस प्रार्थनाको सुन कर दुःख तथा रोगको बटा ले या मुझको दुःख और रोगसे मुक्त

कर दें ऐसा कभी नहीं होता। अथवा भयसे मेरी रक्षा करनेवाले इन ज्ञातियोंको ही कोई दुःख या रोग उत्पन्न हो जाय, जो अनिष्ट और असुखकर हो, और मैं चाहूँ कि भयसे रक्षा करनेवाले इन ज्ञातियोंके अनिष्ट दुःख या रोगको बँटा लूँ, जिससे ये मेरे ज्ञातिवर्ग दुःख तथा परिताप न भोगें, और इनको दुःख तथा अनिष्ट रोगसे मुक्त कर दूँ तो यह मेरी इच्छा कभी पूरी नहीं होती है। दूसरेके दुःखको दूसरा नहीं बँटा सकता। दूसरेके कर्मका फल दूसरा नहीं भोग सकता। मनुष्य अकेला ही मस्ता है, अकेला ही अपनी सम्पत्तिका त्याग करता है, अकेला ही सम्पत्तिको स्वीकार करता है, अकेला ही कषायको ग्रहण करता है, अकेला ही पदार्थको समझता है, अकेला ही चिंतन करता है, अकेला ही विद्वान होता है, और अकेला ही सुख-दुःख भोगता है।

२—तेणावि जं कर्यं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं।

कम्मणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं ॥

उत्त० १८ : १७

जीव जो शुभ अथवा अशुभ—सुखरूप व दुःखरूप कर्म करता है, उन कर्मोंसे सयुक्त वह परलोकको जाता है।

३—आघायकिच्चमाहेउं, नाइओ विसएसिणो।

अन्ने हंरति तं वित्तं, कम्मी कम्मोहि किच्चई ॥

सू० १, ६ : ४

दाह सस्कारादि अन्तिम क्रियाएँ करनेके पश्चात् विपर्ययी ज्ञाति और अन्य लोग उसके धनको हर लेते हैं और पापकर्म करनेवाला एकला ही अपने किए हुए कृत्यों द्वारा ससारमें पीडित होता है।

४—न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
 न मित्तवग्गा न सुया न षंधवा ।
 एक्को सयं पच्चैणुहोइ दुक्खं,
 कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥

उत्त० १३ : २३

ज्ञाती-सम्बन्धी, मित्र वर्ग, पुत्र और वान्धव उसके दुःखमें भाग नहीं बंटाते । मनुष्यको स्वयं अकेलेको ही दुःख भोगना पड़ता है । कर्म, करनेवालेका ही पीछा करता है; करनेवालेको ही कर्म-फल भोगना पड़ता है ।

५—चिच्चा दुपरं च चरप्पयं च, खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
 सकम्मप्पवीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुन्दरं पावगं वा ॥

उत्त० १३ : २४

द्विपद और चतुष्पद, क्षेत्र और गृह, धन और धान्य—इन सबको छोड़कर परार्थीन जीव केवल अपने कर्मोंको साथ लेकर ही अकेला अच्छे या बुरे परभवमें जाता है ।

६—एगळ्भूओ अरण्णे वा, जहा उ चरई मिगे ।

एवं धम्मं चरिस्सामि, संजसेण तवेण य ॥

उत्त० १६ : ७८

जैसे मृग अरण्यमें अकेला ही चर्या करता है, उसी तरह मैं चारित्र्य रूपी वनमें तप और सयम रूपी धर्मका पालन करता हुआ विहार करूंगा ।

६ : अन्यत्व भावना

१—इह खलु पुरिसे भेन्नमन्नं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेति तं जहा—
 खेत्तं मे वत्थू मे हिरण्णं मे सुवण्णं मे धणं मे धन्नं मे कंसं मे द्सं

मे विपुल धणकणगरयमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयण
संतसारसावएथं मे । सदा मे रुवा मे गंधा मे रसा मे फासा मे
एए खलु मे कामभोगा अहमवि एएसिं । सू० २, १ : १३

इस मनुष्य लोकमें पुरुषगण अपनेसे सर्वथा भिन्न पदार्थोंको झूठ
ही अपना मानकर ऐसा अभिमान करते हैं कि खंत मेरा है, घर मेरा
है, चादी मेरी है, सोना मेरा है, धन मेरा है, धान्य मेरा है, कासा
मेरा है, लोहादि मेरे हैं, ये बहुतसे धन, सोना, रत्नमणि, मोती, शख-
शिला, मूगा, लालरत्न, उत्तमोत्तम मणि और पतृक धन मेरे हैं ।
शब्द मेरे हैं, रूप मेरे हैं, सुगंध मेरी है, रस मेरे हैं, स्पर्श मेरे हैं—ये
कामभोग मेरे हैं और मैं इनका हूं ।

२—से मेहावी पुब्बामेव अप्पणो एवं समभिजाणेज्जा, तंजहा—इह
खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे अकंते
अप्पिए असुभे अमणुन्ने अमणामे दुक्खे णो सुहे । से हन्ता भय-
न्तारो ! कामभोगाहं मम अन्नयर दुक्खं रोगायंके परियाइयह
अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुन्नं अमणामं दुक्खं णो सुहं ।
ता अहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि
वा परितप्पामि वा इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खाओ रोगायंकाओ
पडिमोयह अणिट्ठाओ अकन्तओ अप्पियाओ असुभाओ अम-
णुन्नाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहाओ । एवामेव णो लद्धपुव्वं
भवइ । इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा । पुरिसे
वा एगया पुत्विं कामभोगे विप्पजहइ, कामभोगा वा एगया पुत्विं
पुरिसं विप्पजहन्ति । अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि । से
क्किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामा ?

परन्तु बुद्धिमान पुरुषको पहलेसे ही यह सोच लेना चाहिये कि जब मुझको किसी प्रकारका दुःख या रोग उत्पन्न होता है, जो इष्ट नहीं है, प्रीतिकर नहीं है, किन्तु अप्रिय है, अशुभ है, अमनोज्ञ है; विशेष पीड़ा देनेवाला है, दुःख रूप है, सुख रूप नहीं है, उस समय यदि मैं यह कहूँ कि—हे भयसे रक्षा करनेवाले मेरे धनधान्य आदि कामभोगो ! मेरे इस अनिष्ट, अप्रिय तथा अत्यन्त दुःखद रोगमें हिस्सा बँटावे—क्योंकि मैं इस रोगसे बहुत दुःखित हो रहा हूँ, शोकमें पड़ा हूँ, आत्म-निन्दा कर रहा हूँ, कष्ट पा रहा हूँ, बहुत वेदना पा रहा हूँ—आप लोग मुझको इस अप्रिय, अनिष्ट तथा दुःखद रोग और दुःखसे मुक्त कर दें तो यह कभी नहीं होता ।

वस्तुतः धनधान्य और क्षेत्र आदि मनुष्यकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है । कभी तो पुरुष पहले ही इन कामभोगोको छोड़ कर चल देता है और कभी कामभोग ही पुरुषको छोड़ कर चल देते हैं ।

ये कामभोग अन्य हैं और मैं अन्य हूँ ।

फिर हम क्यों अन्य वस्तुमें आसक्त हो रहे हैं ?

३—इह खलु नाइसंजोगा नो ताणाए वा नो सरणाए वा, पुरिसे वा एगया पुर्विं नाइसंजोगे विप्पजहइ नाइसंजोगा वा एगया पुर्विं पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु नाइसंजोगा अन्नो अहर्मसि से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं नाइ संजोगेहिं मुच्छामो ?

सू० २, १ : ३३

इस लोकमें ज्ञाति-संयोग दुःखसे रक्षा करनेमें और मनुष्यको शान्ति देनेमें समर्थ नहीं है । कभी मनुष्य ही पहले ज्ञातिसंयोगको छोड़ देता है, और कभी ज्ञातिसंयोग ही पुरुषको पहले छोड़ देता है । अतः

ज्ञातिसंयोग दूसरा है और मैं दूसरा हूँ। तब फिर इस अपनेसे
'मिन्न ज्ञातिसंयोगमें हम क्यों आसक्त हो ?

४—तं एकदां तुच्छं सरीरगं से, चिईर्गयं द्दहिय उ पावरोणं ।

भज्जा य पुत्तो वि य नायओ वा, दायारमन्नं अणुसंक्रमन्ति ॥

उत्त० १३ : २५

मनुष्यके चित्तागत अकेले तुच्छ शरीरको अग्निसे जला दिया जाता
है और उसकी भार्या, पुत्र और बांघव—किसी अन्य दातारका अनु-
सरण करते हैं ।

५—दाराणि य सुया चेष, मित्ता य तह बन्धवा ।

जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य ॥

उत्त० १८ : १४

स्त्री और पुत्र, मित्र और दान्धव जीवनकालमें ही पीछे-पीछे चलते
हैं, मरनेके बाद वे साथ नहीं देते ।

६—नीहरन्ति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया ।

पियरो वि तहा पुत्ते, बन्धू रायं तवं चरे ॥

उत्त० १८ : १५

जैसे अत्यन्त दुःखी हुए पुत्र मृत पिताको घरके बाहर निकाल देते
हैं, वैसे ही माता-पिता भी मरे पुत्रको बाहर निकाल देते हैं । सगे
सम्बन्धियोंके विषयमें भी यही बात है । हे राजन् ! यह देख कर तू
तप कर ।

७ : अशुचि भावना

१—इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइंसंभवं ।

असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥

उत्त० १६ : १३

यह शरीर अनित्य है, अशुचिपूर्ण है और अशुचिसे उत्पन्न है । यह शरीर आत्मा-रूपी पक्षीका अस्थिर वास है और दुःख तथा क्लेशका भाजन—घर—है ।

२—तं मा णं तुव्भे देवाणुप्पिया, माणुस्सएसु कामभोगेसु ।

सज्जह रज्जह गिज्जह, मुज्जह अज्जभोवज्जह ॥

ज्ञा० अ० ८

अतः हे देवानुप्रिय ! तुम मानुषिक कामभोगोंमें आसक्त न बनो, रागी न बनो, गृद्ध न बनो, मूर्छित न बनो और अप्राप्त भोगोंको प्राप्त करनेकी लालसा मत करो ।

३—असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं ।

पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणवुव्वुयसंनिभे ॥ उक्त० १६ : १४

जल्दी या देरसे इस शरीरको छोड़ना पड़ता है । यह शरीर फेनके बुद्बुदके समान क्षणभंगुर है । इस अशाश्वत शरीरमें मैं जरा भी आनन्द नहीं पाता ।

४—माणुसत्ते असारम्मि, वाहिरोगाण आलए ।

जरामरणघत्थम्मि, खणं पि न रमामहं ॥ उक्त० १६ : १५

यह मनुष्य शरीर असार है । व्याधि-रोगका घर है और जरा-मरणसे रात दिन ग्रसित है । इस असार मनुष्य शरीरमें मुझे एक क्षणके लिए भी आनन्द नहीं मिलता ।

८ : आश्रव भावना

१—ते चक्खु लोगंसिह नायगा उ, मग्गाणुसासन्ति हियं पयाणं ।

तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पया माणव संपगाढा ॥

सू० १, १२ : १२

अतिशय ज्ञानी वे तीर्थंकर प्रादि लोकके नेत्रके समान हैं। वे धर्म-नायक हैं। वे प्रजाओको कल्याण-मार्गकी शिक्षा देते हैं। वे कहते हैं—‘हे मनुष्यो ! ज्यो-ज्यो मिथ्यात्व बढ़ता है, त्यो-त्यो ससार भी शाश्वत होता जाता है। ससारकी वृद्धि इसी तरह होती है जिसमें नाना प्राणी निवास करते हैं।’

२—जे रक्खसा वा जमलोइया वा, जे वा सुरा गंधव्वा य काया आगासगामी य पुढोसिया जे, पुणो पुणो विप्परियासुवेत्ति ॥

सू० १, १२ : १३

जो राक्षस है, जो यमपुरवासी है, जो देवता है, जो गर्ध्व है, जो आकाशगामी व पृथ्वी निवासी हैं वे सब मिथ्यात्वादि कारणोंसे ही बार-बार भिन्न-भिन्न रूपोंमें जन्म धारण करते हैं।

३—जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं ।
जंसी विसन्ना विसयंगणाहिं, दुहओऽवि लोयं अणुसंचरन्ति ॥

सू० १, १२ : १४

जिस संसारको अपार सलिलवाले स्वयभूरमण समुद्रकी उपमा दी गई है, वह भिन्न भिन्न योनियोंके कारण बड़ा ही गहन और दुस्तर है। विषय और स्त्रियोंमें आसक्त जीव स्थावर और जगम दोनों जगतमें बार-बार भ्रमण करते हैं।

४—ते तीयउप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं ।

नेयारो अन्नेसि अणन्नणेया, बुद्धा हु ते अंतकडा भवति ॥

सू० १, १२ : १६

उपरोक्त भावोंको जिन्होंने कहा है वे जीवोंके भूत, वर्तमान और भविष्यको जाननेवाले, जगत्के अनन्य नेता और ससारको अंत करने वाले बुद्ध—ज्ञानी—पुरुष हैं।

९ : संवर भावना

१—तिडईट्ट उ मेहावी, जाणं लोगंसि पावगं ।

तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ ॥

सू० १, १५ : ६

पाप कर्मको जाननेवाला बुद्धिमान पुरुष ससारमें रहता हुआ भी पापसे छुट जाता है । जो पुरुष नए कर्म नहीं करता उसके सभी पापकर्म छुट जाते हैं ।

२—जं मयं सव्व साहूणं, तं मयं सहगत्तणं ।

साहइत्ताण तं तिण्णा, देवा वा अभविसुं ते ॥

सू० १, १५ : २४

सर्व साधुओंको मान्य जो सयम है वह पापको नाश करनेवाला है । इस संयमकी आराधना कर बहुत जीव ससार सागरसे पार हुए हैं और बहुतोने देवभवको प्राप्त किया हैं ।

३—अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणइ ।

विन्नाय से महावीरे, जेण जाई ण मिज्जई ॥

सू० १, १५ : ७

जो नहीं करता उसके नए कर्म नहीं ब्रधते । कर्मोंको जाननेवाला महावीर पुरुष उनकी स्थिति और अनुभाग आदिको जानता हुआ ऐसा कार्य करता है जिससे वह ससारमें न तो कभी उत्पन्न होता और न कभी मरता है ।

४—पंडिए वीरियं लद्धुं, निग्घायाय पवत्तगं ।

धुणे पुव्वकडं कम्मं, णवं वावि ण कुव्वई ॥

सू० १, १५ : २२

पंडित पुरुष, कर्मोंको विदारण करनेमें समर्थ वीर्यको प्राप्त करके नवीन कर्म ल करे और पूर्वकृत कर्मोंको धुन डाले ।

५—अभविंसु पुरा धीरा, आगमिस्सा वि सुव्वया ।

दुन्निबोहस्स मगस्स, अंतं पाउकरा तिण्णे ॥

सू० १, १५ : २५

पूर्व समयमें बहूतसे धीर पुरुष हो चुके हैं और भविष्यकालमें भी ऐसे सुव्रती पुरुष होंगे जो दुर्निबोध—दुष्प्राप्य—मोक्ष मार्गकी अन्तिम सीमा पर पहुँच कर तथा उसे दूसरोंको प्रकट कर इस ससार सागरसे तिरेंहे या तिरेंगे ।

१० : निर्जरा भावना

१—पाणिवहमुसावाया, अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ ।

राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥

उत्त० ३० : २

प्राणिवध—हिंसा, मृषावाद—झूठ, चोरी, मंथुन और परिग्रह तथा रात्रि भोजनसे विरत जीव अनाश्रव—नए कर्म-प्रवेशसे रहित—हो जाता है ।

२—पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइन्दिओ ।

अगारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो ॥

उत्त० ३० : ३

जो जीव पाच समितियोसे सवृत, तीन गुप्तियोसे गुप्त, चार कषाय से रहित, जितेन्द्रिय तथा तीन प्रकारके गर्व और तीन प्रकारके शल्यसे रहित होता है वह अनाश्रव—नए कर्म-संचयसे रहित—हो जाता है ।

३—जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।

उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ।

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे ।

भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥

उत्त० ३० : ५, ६

जिस तरह जल बानेके मार्गोंको रोक देने पर बड़ा तालाब पानीके चलोचे जाने और सूर्यके तापसे क्रमशः सूख जाता है उसी तरह आत्मव— पाप-कर्मके प्रवेश-मार्गोंको रोक देनेवाले संयमी पुरुषके करोड़ों भवों— जन्मों—के संचित कर्म तपके द्वारा जोरां होकर भुङ्ग जाते हैं ।

४—सो तवो दुविहो वुत्तो, वाहिरव्भन्तरो तहा ।

वाहिरो छ्विविहो वुत्तो, एवमत्र्भन्तरो तवो ॥

उत्त० ३० : ७

यह तप बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका कहा गया है । बाह्य तप छः प्रकारका कहा गया है और आभ्यन्तर तप भी उतने ही प्रकारका ।

५—अणसणसूणोयरिया, य भिक्खायरिया रसपरिञ्चाओ ।

कायकिलेसो संलीणया, य वज्झो तवो होइ ॥

उत्त० ३० : ८

कनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और संली-
नता—ये बाह्य तप हैं ।

६—पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।

क्काणं च विउस्सगो, ऐसो अत्रिभन्तरो तवो ॥

उत्त० ३० : ३०

प्रायश्चित्त, विनय, वंयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग—
ये आभ्यन्तर तपके छः भेद हैं ।

७—धुणिया कुल्लियं व लेखवं ।

क्किसए देहमणसणा इह ॥ सू० १, २ । १ : १४

जैसे लेपवाली भित्ति लेप गिराकर क्षीण कर दी जाती है, इसी तरह अनशन आदि तप द्वारा अपनी देहको कुश कर देना चाहिए ।

८—कसेहि अप्पाणं ।

जरेहि अप्पाणं ॥

आ० १, ४ । ३ : ५

आत्माको कसो—दमन करो । आत्माको जोणं करो—पतली करो ।

९—इह आणाकंखी पंडिए

अणिहे एगमप्पाणं

सपेहाए धुणे सरीरगं ।

आ० १, ४ । ३ : ४

सत्पुरुषोकी आज्ञा पालनकी चाह रखनेवाला पण्डित पुरुष, आत्मा को अकेली समझ कर, अमोह भावसे शरीरको तपसे क्षीण करे ।

१०—जहा जुन्नाइं कंठाइं

हव्ववाहो पमत्थति

एवं अत्तमाहिते अणिहे ।

आ० १, ४ । ३ : ६

जिस तरह अग्नि पुराने सूखे लकड़ोको शीघ्र जलाती है, उसी तरह आत्मनिष्ठ और स्नेहरहित जीवके कर्म शीघ्र जलते हैं ।

११—न कम्ममुणा कम्म खवेति वाला ।

अकम्ममुणा कम्म खवेति धीरा ॥

सू० १, १२ : १५

मूर्ख जीव कर्म (सावधानुष्ठान) कर कर्मोका क्षय नहीं कर सकते । धीर पुरुष अकर्म द्वारा कर्मोका क्षय करते हैं ।

१२—सडणी जह पंसुगुण्डिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं ।

एवं दविओवहाणवं, कम्मं खवइ तवस्सि माहणे ॥

सू० १, २-१ : १५

जैसे शकुनिका पक्षिणी अपने शरीरमें लगी हुई रजको पक्ष
झाड़ कर दूर कर देती है, उसी तरहसे जितेन्द्रिय अहिंसक
तपस्वी अनशन आदि तप कर अपने आत्म-प्रदेशोंसे कर्मको झाड़
देता है ।

१३—खवेत्ता पुव्वकम्माई, संजमेण तवेण थ ।

सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो ॥

उत्त० २८ : ३६

संयम और तपके द्वारा पूर्व कर्मोंका क्षयकर महर्षि सर्व दुःखोंसे
रहित जो मोक्ष-पद है उसके लिए पराक्रम करते हैं ।

१४—एवं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी ।

सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ ॥

उत्त० ३० : ३७

जो मुनि बाह्य और आभ्यन्तर इन दो प्रकारके तपोंका सम्यक्
प्रकारसे आचारण करता है, वह पण्डित पुरुष संसारसे शीघ्र मुक्त
हो जाता है ।

१५—तवनाराय जुत्तेण, भित्तूण कम्मकंचुयं ।

मुणी विगयसंगासो, भवाओ परिमुच्चए ॥

उत्त० ६ : २२

तप रूपी वाणसे सयुक्त हो, कर्मरूपी कवचको भेद करनेवाला
मुनि, संग्रामका अत ला, संसारसे—जन्म जन्मान्तरसे मुक्त हो
जाता है ।

११ : धर्म भावना

१—धम्मो मङ्गलसुक्किहं, अहिंसा संजमो तवो ।

देवा वि तं नमंसन्ति, जस्स धम्मो सया मणो ॥

द० १ : १

धर्म उत्कृष्ट मंगल है । अहिंसा, सयम और तप—यही धर्म है । जिसका मन सदा धर्ममें रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं ।

२—पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छन्ति अमरभवणाइं ।

जेसिं पिओ तवो, संजमो अ खन्ती अ बंभचेरं च ॥

द० ४ : २८

जिन्हें तप, सयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय है, वे शीघ्र अमरभवनको प्राप्त करते हैं, भले ही उन्होंने पिछली अवस्थामें ही सयम ग्रहण क्यों न किया हो ।

३—सव्वं सुचिष्णं सफलं नराणं, कडाण कम्माणं न मोक्खो अत्थि ।

अत्थेहि कामेहि थ उत्तमेहिं, आया ममं पुण्णफलोववेए ॥

उत्त० १३ : १०

मनुष्योंके सब सदाचार सफल होते हैं । किए हुए शुभाशुभ कर्मोंके फलसे कोई छटकारा नहीं पा सकता । उत्तम कामभोग और सम्पत्तिके रूपमें मुझे भी अपने शुभ कर्म—पुण्योंका फल मिला है ।

४—इह जीविए राय असासयम्मि, धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो ।

से सोयई मच्चुमुहोवणीए, धम्मं अकाऊण परंमि लोए ॥

उत्त० १३ : २१

हे राजन् ! यह जीवन अशाश्वत है । जो इसमें पुण्य—सत्कृत्य और धर्म नहीं करता वह मृत्युके मूल्यमें पड़नेके समय परचाताप करता है तथा परलोकमें भी दुःखित होता है ।

५—अद्धाणं जो महंतं तु, अप्पाहेओ पवज्जई,
 गच्छन्तो सो दुही होइ, छुहातण्हाएपीडिओ ।
 एवं धम्मं अकाऊगं, जो गच्छइ परं भवं,
 गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहीरोगेहिं पीडिओ ॥
 अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेओ पवज्जई,
 गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहातण्हाविवज्जिओ ।
 एवं धम्मं पि काऊगं, जो गच्छइ परं भवं,
 गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥

उत्त० १६ : १६-२२

जैसे कोई लम्बी यात्राके लिए निकले और साथमें अन्न-जल (पायेय) न ले तो आगे जाकर क्षुधा तृष्णासे पीडित होकर दुःखी होता है, वैसे ही जो धर्म न कर परभवको जाता है वह जाता हुआ व्याधि और रोगसे पीडित होनेपर दुःखी होता है । जैसे कोई लम्बी यात्राके लिए निकलता हुआ अन्न-जल आदि साथमें ले लेता है तो क्षुधा तृष्णासे पीडित नहीं होता हुआ सुखी रहता है, वैसे ही धर्म कर परभवको जाता हुआ प्राणी अल्पकर्म और अवेदनाके कारण सुखी होता है ।

६—जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडििनियत्तई ।
 अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥
 जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडििनियत्तई ।
 धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥

उत्त० १४ : २४ : २५

जो-जो रात्रि जाती है वह लौटकर वही आती । अधर्म करने वालेकी रात्रियां निष्फल जाती है ।

जो-जो रात्रि जाती है वह लौटकर नहीं आती । धर्म करनेवाले की रात्रियां सफल जाती है ।

७—जरा जाव न पीड़े, वाही जाव न वड्डइ ।

जाविदिआ न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥

द० अ० ८ : ३६

जरा जब तक पीडित नहीं करती, व्याधिया जब तक नहीं बढ़ती, इन्द्रिया जब तक हीन (शिथिल) नहीं होती तब तक धर्मका अच्छी तरह आचरण कर लेना चाहिए ।

८—इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च मिमं अकिच्चं ।

तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति क्हं पमाओ ॥

उत्त० १४ : १६

यह मेरे पास है और यह मेरे पास नहीं है, यह मुझे करना है और यह मुझे नहीं करना—ऐसा विचार करते-करते ही काल रूपी चोर प्राणोको हर लेता है । फिर धर्ममें यह प्रमाद क्यों ?

९—जस्सत्थि मच्चुणा सप्पलं, जस्स वत्थि पलायणं ।

जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥

उत्त० १४ : २७

जिस मनुष्य की मृत्यु से भंती हो, जो उसके पजे से भाग निकलने का सामर्थ्य रखता हो, जो नहीं मलंगा यह निश्चय रूप से जानता हो वही कल—आगामी काल—का भरोसा कर सकता है ।

१०—अज्जेव धम्मं पड्डिवज्जयामो, जहि पवन्ना न पुणभवामो ।

अणागर्यं नेव य अत्थि किंचि, सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं ॥

उत्त० १४ : २८

हम तो आज ही धर्म अगीकार करेंगे, जिसके स्वीकार करने से

पुनर्भव नहीं होता । ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो हमने नहीं भोगा ।
श्रद्धा हमें राग से मुक्त करेगी ।

१२ : कामभोग भावना

१—उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।

भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥

उत्त० २५ : ४१

भोगसे ही कर्मोंका लेप—बन्धन—होता है । भोगीको जन्म-
मरण रूपी संसारमे भ्रमण करना पड़ता है जबकि अभोगी संसारसे
छुट जाता है ।

२—उल्लो सुक्खो य दो छूढा, गोलया मट्टियामया ।

दो वि आवडिया कुट्टे, जो उल्लो सोऽत्थ ल्मगई ॥

एवं ल्मगन्ति दुस्मेहा, जे नरा कामलालसा ।

विरत्ता उ न ल्मगन्ति, जहा से सुक्क गोलए ॥

उत्त० २५ : ४२, ४३

जिस तरह सूखे और गीले दो मिट्टीके गोलोंको फेंकने पर उनमेंसे
गीला ही दीवारके चिपकता है और सूखा नहीं चिपकता, उसी प्रकार
जो काम लालसामें आसक्त और दुष्ट बुद्धिवाले मनुष्य होते हैं, उन्हीं
को संसारका बन्धन होता है पर जो कामभोगीसे विरत होते हैं, उनके
ऐसा नहीं होता ।

३—खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा,

पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा ।

संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,

खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥

उत्त० १४ : १३

कामभोगोंमें क्षणिक (इन्द्रिय—) सुख होता है और दीर्घकालीन आत्मिक दुःख । उनमें सुखानुभव तो अणि—नाम मात्र है और दुःखका कोई ठिकाना नहीं । ससारसे छुटकारा पानेमें ये बाधक—विघ्नकारी है । कामभोग अनर्थकी खान है ।

४—जहा य किम्पागफला मणोरमा, रसेण वण्णेग य भुञ्जमाणा ।
ते खुड्डुए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे ॥

उत्त० ३२ : २०

जिस तरह किम्पाकफल खाते समय रस और वर्णमें मनोरम होनेपर भी पचनेपर जीवनका अंत करते है, उसी तरहसे भोगनेमें मनोहर काम-भोग विपाक कालमें—फल देनेकी अवस्थामें अधोगतिके कारण होते है ।

५—सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गई ॥

उत्त० ६ : ५३

कामभोग चाल्य रूप है । कामभोग विपरूप है । कामभोग जहरी नागके सदृश है । भोगोंकी प्रार्थना करते-करते जीव विचारे उनको प्राप्त किए बिना ही दुर्गतिमें चले जाते है ।

६—सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्भियं ।

सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥

उत्त० १३ : १६

सर्वं गीत विलाप है, सर्वं नृत्य विडम्बना है, सर्वं आभूषण भार है और सर्वं कामभोग दुःख रूप है ।

७—कामाणुगिद्धिपभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्सज्जंतंगं गच्छइ वीयरगो ॥

उत्त० ३२ : १६

देवो सहित सर्वलोकमें जो सब कायिक और मानसिक दुःख हैं, वे सब कामभोगोकी आसक्तिसे ही उत्पन्न हैं। वीतराग पुरुष ही उन सबका अंत ला सकता है।

८—गिद्धोवमा उ नञ्चारणं, कामे संसार बद्धणे ।

उरगो सुवण्णपासे व्व, संकमाणो तणुं चरे ॥

उत्त० १४ : ४७

कामभोग ससारको बढ़ानेवाले हैं। गृद्ध पक्षीके दृष्टान्तको जान कर विवेकी पुरुष, गरुड़के समीप सर्पकी तरह, कामभोगोसे सशक्त रहता हुआ डर-डर कर चले।

९—इह कामाणियदृत्स, अत्तट्ठे अवरज्झई ।

सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभत्सई ॥

उत्त० ७ : २५

इस ससारमें कामभोगो से निवृत्त न होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। मोक्ष मार्ग को सुनकर भी वह उससे पुनः पुनः भ्रष्ट हो जाता है।

१०—जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई ।

न मे दिट्ठे परे लोए, चप्खुदिट्ठा इमा रई ॥ उत्त० ५ : ५

जो मनुष्य शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पांच प्रकार के कामभोगो में आसक्त होते हैं वे नाना पापकृत्यमें प्रवृत्त होते हैं। जब उन्हें कोई धर्मकी बात कहता है तो वे कहते हैं : 'हमने परलोक नहीं देखा और इन कामभोगोका आनन्द तो आँखोंसे देखा है—प्रत्यक्ष है।'

११—हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।

को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥

उत्त० ५ : ६

“ये वर्तमान कालके कामनीय भी वृक्षों कायु हुए हैं। मदिहके कामनीय कह लिये—कॉर कामना है और वही भी कॉर कामना है कि वरलोक है वा नहीं ?”

१७—जगज्ज सद्धे होमक निः इह काले परममह ।

कामनीय पुरातनः, अयं संरक्षितमह ॥

उप० १ : ७

“ये भी अनेक संरक्षित मय रहेंगे”—इहें मनुष्य इती प्रकार कृष्टता मरी मरी कदा करते हैं। ऐसे मनुष्य कामनीयके अनुसार—कारकिते इस लोक और परलोकमें श्रेयको प्राप्ति कर्न है।

१८—उयो से मरणात्मनिः कते संरक्षितं मया ।

अकामनीयं मय्यं, कृते व अक्षियं निः ॥

उप० १ : १६

कामनीयोंके अन्तर्गत मनी मनुष्य परमात्मके समस्त मन्त्रों में से एक ही कर्न है। मरने पर कामनीयके पुत्रादिकी तरह मरना मनुष्यके मरना है।

१९—येह्म सायसुता मरः कर्मावस्था कनेहि सुखिया ।

खिन्नेन सतं मरयेयतः, न वि कर्णं वि समहितार्थि ॥

सू० १, २-३ : ४

इस संसारोंको मनुष्य सुखीत है—सुखि, रत और सुखमें रह है। को कामनीयोंके सुखीत है, को इच्छित-विषयसे मरवि होकर मरिब को तरह मरना है। कीतरण पुराणके काले मरवि मरनेको नहीं करते।

२०—कहोर वह व विच्छिद कते होइयं मनेइय ।

से कतनी कर्मावस्था मय्यं कते विमोह ॥

सू० ३ : १

१६—एवं कामसेण विऊ, अज्ज सुए पयहेज्ज संयवं ।
कामी कामे न कामए, लद्धे वा वि अलद्ध कण्ठुई ॥

सू० १, २ । ३ : ६

जिस तरह वाहक द्वारा ब्रास देकर हाका जाता हुआ बँल थक जाता है और मारे जाने पर भी अल्प बलके कारण आगे नहीं चलता और आखिर रास्तेमें ही कण्ट पाता है

उसी तरहसे क्षीण मनोबल वाला अविवेकी पुरुष सद्बोध पाने पर भी कामभोग रूपी कादेसे नहीं निकल सकता । आज या कल इन कामभोगोको छोड़ूंगा, वह केवल यही सोचा करता है । सुख चाहने-वाला पुरुष कामभोगोकी कामना न करे और प्राप्त हुए भोगोको भी अप्राप्त हुआ करे—त्यागे ।

१७—मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं ।
अहियं च असाहु, सोयई से थणई परिदेवई वहुं ॥

सू० १, २ । ३ : ७

कही परभवमे दुर्गति न हो इस विचारसे आत्माको विषय सगने दूर करो और उसे अकुशमं रखो । असाधु कर्मसे तीव्र दुर्गतिमें गया हुआ जीव अत्यन्त सौच करता है, आक्रन्दन करता है और विलाप करता है ।

१८—इह जीवियमेव पासहा, तरुणे वा ससयस्स तुट्ठई ।
इत्तरवासे य वुज्झह, गिद्ध नरा कामेसु मुच्छिया ॥

सू० १, २ । ३ : ८

ससारमें और पदार्थकी तो बात ही क्या, इस अपने जीवनको ही देखो । यह पल-पल क्षीण हो रहा है । कभी आयु तहणावस्थामें ही पूरा हो जाता है और अधिक हुआ तो सौ वर्षके छोटेसे कालमें ।

अहा कितना क्षणिक निवास है ! हे जीव ! समझो । कितना आश्चर्य है कि आयुष्यका भरोसा न होते हुए भी विषयासक्त पुरुष कामोमें मूर्च्छित रहते हैं ।

१६—न य संख्यमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो पगब्भई ।
पञ्चुप्पन्नेण कारियं, को दट्ठं परलोगमागए ॥

सू० १, २ । ३ : १०

टूटा हुआ आयु नहीं संघ सकता—ऐसा सर्वज्ञोने कहा है, तो भी मूर्ख लोग धृष्टतापूर्वक पाप करते रहते हैं और कहते हैं "हमें तो वर्तमानसे ही मतलब है । परलोक कौन देखकर आया है ?"

२०—अदक्खुव दक्खुवाहियं, तं सहहसु अदक्खुदंसणा ।
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिएण कडेण कम्मुणा ॥

सू० १, २ । ३ : ११

हे नहीं देखनेवाले पुरुषो ! त्रिभुवनको देखनेवाले ज्ञानी पुरुषोके वचनो पर श्रद्धा करो । मोहनीय कर्मके उदयसे अवरुद्ध दर्शनशक्ति वाले अंध पुरुषो ! सर्वज्ञोके वचनको ग्रहण करो ।

२१—पुरिसो रम पावकम्मुणा, पल्लियन्तं मणुयाण जीवियं ।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंबुडा ॥

सू० १, २ । १ : १०

हे पुरुष ! पाप कर्मोंसे निवृत्त हो । यह मनुष्य जीवन शीघ्रतासे दौड़ा जा रहा है । जो लाभ लेना हो वह लो ले । भोग रूपी कादेंमें फसा हुआ और कामभोगोंमें मूर्च्छित अजितेन्द्रिय मनुष्य हिताहित विवेकको खोकर मोह ग्रस्त होता है ।

२२ : आत्मा

१—अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।

अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं ॥

उत्त० २० : ३६

यह आत्मा ही वेतरणी नदी है, और यही कूट शाल्मली वृक्ष है ।
आत्मा ही इच्छानुसार दूध देनेवाली—कामदुहा धेनु है और यही नदन
वन है ।

२—अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।

अप्पा मित्तममितां च, दुप्पट्टिय सुप्पट्टिओ ॥

उत्त० २० : ३७

आत्मा ही सुख और दुःखको उत्पन्न करने और न करनेवाली है ।
आत्मा ही सदाचारसे मित्र और दुराचारसे अमित्र—शत्रु है ।

३—से सुयं च मे अज्झत्थं च मे ।

वन्धप्पमोक्खो तुज्झत्थेव ॥

आ० ५ । २ : १५०

मैंने सुना है और मुझे अनुभव भी है कि बधनसे मुक्त होना
तुम्हारे ही हाथमें है ।

४—इमेण चेव जुज्झाहि कि ते जुज्जेण वज्झओ

जुद्धारिहं खलु दुल्लभं ।

आ० ५ । ३ : १५३

हे प्राणी ! अपनी आत्माके साथ ही युद्ध कर । बाहरी युद्ध करनेसे क्या मतलब ? दुष्ट आत्माके समान युद्ध योग्य दूसरी वस्तु दुर्लभ है ।

५—पुरिसा ! तुममेव तुम—मित्तं, किं बहिया
मित्तमिच्छसी ? पुरिसा ! अत्ताणमेव
अभिनिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि ।

आ० ३ । ३ : ११७-८

हे पुरुष ! तू ही तिरा मित्र है । बाहर क्यों मित्रकी खोज करता है ? हे पुरुष अपनी आत्माको ही बशमें कर । ऐसा करनेसे तू सर्व दुखोंसे मुक्त होगा ।

२३ : अहिंसा

१—तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं ।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥

द० ६ : ६

महावीरने १८ गुण-स्थानोमें प्रथम स्थानमें अहिंसाका उपदेश दिया है । अहिंसाको भगवानने जीवोंके लिए कल्याणकारी देखा है । सर्व जीवोंके प्रति संयमपूर्ण जीवन-व्यवहार ही उत्तम अहिंसा है ।

२—पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेय पावर्ग ॥

द० ४ : १०

सर्व संयमियोंके लिए एक ही बात है—‘पहले जीवोंका ज्ञान और फिर दया ।’ अज्ञानी बेचारा क्या कर सकता है ? वह क्या जाने—क्या श्रेय है और क्या पाप ।

३—जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न थाणइ ।
जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहीइ संजमं ॥

द० ४ : १२

जिस जीवोंका विवेक—ज्ञान नहीं, उसे अजीवोंका विवेक—ज्ञान भी नहीं हो सकता और अगर जीव-अजीवका विवेक न हो तो अहिंसा-रूपी संयमको कोई कैसे जान सकता है ?

४—पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहागणी ।

वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सवीयगा ॥

सू० १, ११ : ७

(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) अग्नि, (४) वायु और (५) घास-वृक्ष-घान आदि वनस्पति—ये सब अलग-अलग जीव हैं । पृथ्वी आदि हरेकमें भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वके धारक अलग-अलग जीव हैं ।

५—अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।

एयावए जीवकाए, नावरे कोइ विज्जई ॥

सू० १, ११ : ८

उपरोक्त स्थावर जीवोंके उपरान्त त्रम प्राणी हैं, जिनमें चलने-फिरनेका सामर्थ्य होता है । ये ही जीवोंके ६ वर्ग हैं । इनके सिवा दुनियामें और जीव नहीं हैं ।

६—जे केइ तसा पाणा, चिट्ठन्ति अट्टु थावरा ।

परियाए अत्थि से अञ्जू, जेण ते तसथावरा ॥

सू० १, १। ४ : ८

जगत्में कई जीव त्रस हैं और कई जीव स्थावर । एक पर्यायमें होना या दूसरीमें होना कर्मोंकी विचित्रता है । अपनी-अपनी कमाई है, जिससे जीव त्रस या स्थावर होते हैं ।

७—उरालं जगओ जोगं, विवज्जासं पलेन्ति य ।

सव्वे अक्कंतदुफखा य, अओ सव्वे अहिंसिया ॥

सू० १, १। ४ : ९

एक ही जीव, जो एक जन्ममें त्रस होता है, दूसरे जन्ममें स्थावर हो सकता है । त्रस हो या स्थावर—सब जीवोंको दुःख अप्रिय होता है । यह समझकर भूमिक्षु सब जीवोंके प्रति अहिंसा-भाव रखे ।

८—तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होयव्वयं सिया ।

मणसा कायवक्केण, एवं हवइ संजए ॥

द० ८ : ३

मन, वचन और काया इनमेंसे किसी एकके द्वारा भी किसी प्रकार के जीवोकी हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है। ऐसे जीवनका निरन्तर धारण ही अहिंसा है।

६—एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण ।

अहिंसा समयं च्वे, एयावन्तं वियाणिया ॥

सू० १, १।४ : १० ; ११ : १०

‘किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिए’—यही ज्ञानियोंके ज्ञान—वचनोका सार है। अहिंसा—समता—सर्व जीवोके प्रति आत्म-वत् भाव—इसे ही शाश्वत् धर्म समझो।

१०—उद्धं अहे य तिरियं, जे केइ तसथावरा ।

सव्वत्थ विरइं विज्जा, सन्ति निव्वाणमाहियं ॥

सू० १, ११ : ११

ऊर्ध्वं, अधः और तिर्यक्—तीनो लोकमें जो भी ब्रह्म और स्थावर जीव हैं उन सबके प्राणातिपातसे विरत होना चाहिए। सब जीवोके प्रति वैरकी छातिको ही निर्वाण कहा है।

११—जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया ।

संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा ॥

सू० १, ११ : ३६

जो तीर्थंकर हो चुके हैं और जो तीर्थंकर होनेवाले हैं—उन सबका प्रतिष्ठास्थान शान्ति—सब जीवोके प्रति दयारूप भाव—ही है, जिस तरह कि सब जीवोका आधार पृथ्वी है।

१२—पभू दोसे निराकिञ्चा, न विरुब्भेज्ज केण वि ।
मणसा वयसां चेव, कायसा चेव अन्तसो ॥

सू० १, ११ : १२

इन्द्रियोको जीतनेवाला समर्थ पुरुष किसी भी प्राणीके साथ जावज्जीवन पर्यंत मन, वचन और कायासे वैर विरोध न करे ।

१३—विरए गामधस्मेहिं, जे केइ जगई जगा ।
तेसिं अयुत्तमायाए, थामं कुब्बं परिव्वए ॥

सू० १, ११ : ३३

शब्दादि इन्द्रियोके विषयोसे उदासीन पुरुष, इस जगत्में जो भी त्रस और स्थावर जीव है, उनको आत्मतुल्य देख उनका बचाव करता हुआ बलवीर्यको प्रकट कर सयमका पालन करे ।

१४—एएसु वाले य पकुब्बमाणे, आवट्ठी कम्मसु पावएसु ।
अइवायओ कीरइ पावकम्मं, निलज्जमाणे उ करेइ कम्मं ॥

सू० १, १० : ५

अज्ञानी मनुष्य, इन पृथ्वी आदि जीवोके प्रति दुर्व्यवहार करता हुआ पाप कर्म सचय कर बहुत दुःख पाता है । जो जीवोकी घात करता है वह और जो जीवोकी घात कराता है वह—दोनो ही पाप-कर्मका उपाजन करते हैं ।

१५—सयं त्तिवायए पाणे, अदुवन्नेहि घायए ।
हणन्तं वाणुजाणाइ, वेरं वड्ढेइ अप्पणो ॥

सू० १, ११ : ३

जो स्वयं जीवोकी हिंसा करता है, दूसरोसे करवाता है या जो जीव-हिंसाका अनुमोदन करता है वह (प्रति-हिंसाको जगाता हुआ) वैरकी वृद्धि करता है ।

१६—तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि,
 तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ।
 तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि,
 तुमंसि नाम सच्चेव जं परिधित्तव्वं ति मन्नसि ।
 तुमंसि नाम सच्चेव जं उहवेयव्वं ति मन्नसि,
 अंजू चेय पड्डिवुद्धजीवी तम्हा न हंता न वि
 घायए अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं भाभि पत्थए ।

आ० १, ५। ५ : ५

हे पुरुष ! जिसे तू मारनेकी इच्छा करता है विचार कर वह तेरे जैसा ही सुख दुःखका अनुभव करनेवाला प्राणी है; जिस पर हुकूमत करनेकी इच्छा करता है विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसे दुःख देनेका विचार करता है विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसे अपने दशमें रखनेकी इच्छा करता है विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसके प्राण लेनेकी इच्छा करता है—विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है ।

सत्पुरुष इसी तरह विवेक रखता हुआ जीवन विताता है और न किसीको मारता है और न किसीकी घात करता है ।

जो हिंसा करता है, उसका फल वंसा ही पीछा भोगना पड़ता है, मत. वह किसी भी प्राणीकी हिंसा करनेकी कामना न करे ।

१७—पुव्वं निकायसमयं पत्तेयं, पुच्छिस्सामि
 हं भो ! पवाइया किं भे सायं दुक्खं असायं ?
 समिया पड्डिवण्णे यावि एवं वूया—
 सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं
 सव्वेसिं सत्ताणं, असायं अपरिनिव्वाणंमह्वभयं दुक्खं ।

आ० १, ४। २ : ६

प्रत्येक दर्शनको पहले जानकर मै प्रश्न करता हू, 'हे वादियो ! तुम्हे सुख अप्रिय है या दुःख अप्रिय ?' यदि तुम स्वीकार करते हो कि दुःख अप्रिय है तो तुम्हारी तरह ही सर्व प्राणियोको, सर्व भूतोको, सर्व जीवोको और सर्व सत्त्वोको दुःख महा भयकर, अनिष्ट और अशान्ति कर है ।

१८—सब्बे पाणा पियाल्या, सुहसाया, दुःखपडिकूला
अप्यिवहा पियजीवणो, जीविउकामा सब्बेसि जीवियं पियं
आ० १, २ । ३ : ७

सभी प्राणियोको अपनी-अपनी आयु प्रिय है । सुख अनुकूल है । दुःख प्रतिकूल है । वध सबको अप्रिय है । जीना सबको प्रिय है । सब जीव लम्बे जीवनको कामना करते हैं । सभीको जीवन प्रिय लगता है ।

१९—नाइ चाएज्ज कंचणं ।

यह सब समझ कर किसी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिए ।

न य वित्तासए परं । उक्त० २ : २०

किसी जीवको त्रास नहीं पहुँचाना चाहिए ।

न विरुज्जेज्जे केणई । सू० १, १५ : १३

किसीके प्रति बैर और विरोधभाव नहीं रखना चाहिए ।

मेत्ति भूएसु कप्पए ॥ उक्त० ६ : २

सब जीवोके प्रति मंत्राभाव रखना चाहिए ।

२०—पुढवीकाए जाव तसकाए ।

सम अस्सायं दण्डेव वा अट्टीण वा मुट्टीण वा लेल्लूण वा क्वाल्लेण वा आलट्टिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परिपाविज्जमाणस्स वा किलामिज्जमाणस्स

वा उद्विज्जमाणस्स वा जाव लोमुप्पखणणमायमवि हिंसाकारणं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाग सव्वे जीवा सव्वे भूया सव्वे पाणा सव्वे सत्ता दण्डेण वा जाव कवालेण वा आउट्टिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा जाव लोमुप्पखणणमायमवि हिंसाकारणं दुक्खं भयं पडिसंवेदेन्ति । एवं नच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता न हन्तव्वा, न अज्जावेयव्वा न परिघेयव्वा न परितावेयव्वा न उद्वेयव्वा ।

एस धम्मो धुवे नीइए सासए ।

सू० २, १ : १५

पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—ये ६: जीव निकाय है ।

‘जैसे मुझे कोई वेत, हड्डी, मुष्टि, ककर, ठिकरी आदिसे मारे, पीटे, ताड़े, तर्जन करे, दु:ख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राण हरण करे तो मुझे दु:ख होता है, जैसे मृत्युसे लगाकर रोम उखाड़ने तकसे मुझे दु:ख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वोको होता है’—यह सोचकर किसी भी प्राणी, भूत जीव व सत्त्वको नही मारना चाहिए, उसपर द्रुकूमत नही करनी चाहिए, उसे परिताप नही पहुँचाना चाहिए, उसे उद्विग्न नही करना चाहिए ।

यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है ।

२१—पाणे य नाइवाइज्जा, से समीए त्ति वुच्चई ताई ।

तओ से पावयं कम्मं, निज्जाइ उदगं व थलाओ ॥

उत्त० ८ : ६

जो जीवोकी हिंसा नही करता और उनका वायी होता है वह ‘समित’—सब तरहसे सावधान—कहलाता है । उच्च स्थानसे जैसे

पानी निकल जाता है, वैसे ही अहिंसासे निरन्तर भावित प्राणीके कर्म सभूह दूर हो जाते हैं ।

२२—जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च ।

नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥

उत्त० ८ : १०

संसारश्रित जो भी तस और स्थावर प्राणी है उनके प्रति मन, वचन और काया—किसी भी तरहसे दण्डका प्रयोग न करे ।

२३—अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहिं य ।

अणिच्च जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥

उत्त० १८ : ११

हे पार्थिव ! तुझे अभय है । जैसे तुम अभयकी कामना करते हो, वैसे ही तुम भी अभय दाता बनो । इस अनित्य जीव-लोकमें तुम हिंसामें क्यों आश्रित हो ?

२४—सच्चं जगं तू समयानुपेही, पियमपियं कस्स वि नो करेज्जा ।

डहरे य पाणे वुद्धे य पाणे, ते अत्तओ पासइ सच्चलोए ॥

सू० १, १०:७

सू० १, १२:१८

मुमुक्षु सर्व जगत् अर्थात् सर्व जीवोको समभावसे देखे । वह किसीको प्रिय और किसीको अप्रिय न करे । छोटे और बड़े सब प्राणियोंको—सारे जगत्के चराचर प्राणियोंको—आत्माके समान देखे ।

२५—अणेत्थिस्स खेयन्ने, न विरुद्धेज्ज केणइ ।

सया सच्चेण संपन्ने, मेत्ति भूएहिं कप्पए ॥

सू० १, १५ : १३

सू० १, १५ : ३

संयममें निपुण पुरुष किसीके साथ ब्रंर विरोध न करे । जिसकी अन्तरात्मा सदा सत्यभावसे ओतप्रोत—उनमें स्थिर रहती है, वह सब जीवोंके प्रति मंत्री भाव रखता है ।

२६—उड्डं अहे अं तिरियं दिसासु, तसा अ जे थावर जेय पाणा ।
सया जए तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पओसं अविकम्पमाणे ॥

सू० १, १४ : १४

ऊर्ध्व, अध. और तिर्यक्—तीनों दिशाओंमें जो ब्रस और स्थावर प्राणी है उनके प्रति सदा यत्नवान रहता हुआ जीवन वितावे । संयम मे अविकम्प—अडोल रहता हुआ मनसे भी द्वेष न करे ।

२७—पुढवी य आऊअगणी य वाऊ, तणरुफख वीया य तसा य पाणा ।
जे अण्डया जे य जराड पाणा, संसेयया जे रसयाभिहाणा ॥
एयाइं कायाइं पवेइयाइं, एएसु जाणे पडिलेह सार्यं ।
एएण काएण य आयदण्डे, एएसु या विप्परियासुवेन्ति ॥

सू० १, ७ : १, २

(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) तृण, वृक्ष, बीज आदि वनस्पति तथा (६) अण्डज, जरायुज, स्वेदज, रसज—ये सब ब्रस—इनको ज्ञानियोंने जीव-समूह कहा है । इन सबमें सुखकी इच्छा है, यह ज्ञानो और समझो ।

जो इन जीव-कायोंका नाशकर पाप-सचय करते हैं वे द्वा-बार इन्हीं प्राणियोंमे जन्म धारण करते हैं ।

२८—हम्ममाणो न कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले ।
सुसणे अहियासेज्जा, न य कोलाहलं करे ॥

सू० १, ६ : ३१

कोई पीटे तो क्रोध न करे । कोई दुर्वचन कहे तो प्रज्वलित न

हो—तप्त न हो । इन सब परिपहोको सुमनसे—समभावसे सहन करे और कोलाहल—हल्ला न मचाये ।

२६—अजयं चरमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥

द० ४ : १

अयत्नपूर्वक चलनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर जीवोकी हिंसा करता है, जिससे पाप कर्मका बधन करता है और उसका फल कटुक होता है ।

३०—अजयं चिट्टमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥

द० ४ : २

अयत्न पूर्वक खड़ा होनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर प्राणियोकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका बधन करता है, जिसका फल कटुक होता है ।

३१—अजयं आसमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥

द० ४ : ३

अयत्नसे बैठनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर प्राणियोकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका बधन करता है, जिसका फल कटुक होता है ।

३२—अजयं सयमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥

द० ४ : ४

अयत्नसे सोनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर प्राणियोकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका बधन करता है, जिसका फल कटुक होता है ।

३३—अजयं भुञ्जमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ ।

वन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥

द० ४ : ५

अयत्नसे भोजन करनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर जीवोकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका वधन करता है, जिसका फल कटुक होता है ।

३४—अजयं भासमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ ।

वन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥

द० ४ : ६

अयत्नसे बोलनेवाला पुरुष त्रस स्थावर जीवोकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका वधन करता है, जिसका फल कटुक होता है ।

३५—जयं चरे, जयं चिद्धे, जयं आसे, जयं सए ।

जयं भुञ्जन्तो भासन्तो, पावकम्मं न वन्धइ ॥ द० ४ : ८

यत्न पूर्वक चलने, यत्न पूर्वक खड़ा होने, यत्न पूर्वक बैठने, यत्न पूर्वक सोने, यत्न पूर्वक भोजन करने और यत्न पूर्वक बोलनेवाला सयमी पुरुष पाप-कर्मका वधन नहीं करता ।

३६—सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ ।

पिहियासव्वस्स दन्तस्स, पावकम्मं न वन्धइ ॥ द० ४ : ९

जो जगत्के सब जीवोको आत्मवत् समझता है, जो जगत्के सब जीवोको समभावसे देखता है, जो आलवका निरोध कर चूका है और जो दात है, उसके पाप-कर्मका वधन नहीं होता ।

३७—जो समो सव्वभूएस्सु, तसेसु थावरेसु य ।

तस्स सामाइयं होइ, इह केवली भासियं ॥ अनुयोगद्वार

जो त्रस और स्थावर—सर्व जीवोके प्रति समभाव रखता है, उसी के सच्ची सामायिक होती है—ऐसा केवली भगवानने कहा है ।

२४ : बोलीका विवेक

१—मुंसांवाओ थ लीगम्मि, सञ्जसाहूहिं गरहिओ ।
अविस्सासो थ भूयाणं, तम्हा भोसं विवज्जए ॥

द० ६ : १३

संसारमें सब सत पुरुषोंने झूठ बोलनेकी निन्दा की है । झूठ सभी प्राणियोंको अविश्वसनीय है—झूठसे लोगोंमें विश्वास हट जाता है, इसलिए इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ।

२—अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न भुसं वूया, नो वि अन्नं वयावए ॥

द० ६ : १२

अपने लिए या दूसरोके लिए, क्रोधसे या भयसे हिंसाकारी झूठ कभी न बोलना चाहिए और न बोलवाना चाहिए ।

३—अपुच्छिओ न भासिज्जा, भासमाणस्स अन्तरा ।
पिट्ठिमंसं न खाइज्जा, माया भोसं विवज्जए ॥

द० ८ : ४७

विवेकी पुरुष पूछे बिना न बोले और न बीचमें बोले । वह चुगली न खाय और कपटपूर्ण झूठसे दूर रहे ।

४—सच्चमेगं पढमं भासज्जायं, वीयं भोसं, तइयं सच्चामोसं ।
जं णेव सच्चं णेव भोसं, असच्चामोसं णाम तं चउत्थं भासज्जातं ॥

भाषा चार प्रकारकी होती है—(१) सत्य, (२) असत्य, (३) सत्यासत्य और (४) न-सत्य-न-असत्य—सत्य-असत्य रहित व्यवहार भाषा ।

५—चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पण्णवं ।

दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासेज्ज सव्वसो ॥

द० ७ : १

प्रज्ञानवान् उपरोक्त चारो भाषाओको अच्छी तरह जानकर सत्य और न-सत्य-न-असत्य इन दो भाषाओसे व्यवहार करना सीखे और एकांत मिथ्या या सत्यासत्य इन दो भाषाओको कभी न बोले ।

६—जाय सच्चा अवत्तव्वा, सच्चाभोसा य जा मुसा ।

जाय बुद्धेहिऽणाइण्णा, न तं भासेज्ज पन्नवं ॥

द० ७ : २

जो भाषा सत्य होने पर भी बोलने लायक न हो, जो कुछ सच कुछ झूठ हो, जो भाषा मिथ्या हो तथा जो भाषा व्यवहार भाषा (न-सत्य न-असत्य) होने पर भी विचारशील पुरुषो द्वारा व्यवहारमें नहीं लाई जाती हो—विवेकी पुरुष ऐसी भाषा न बोले ।

७—असच्चमोसं सच्चं य, अणवज्जमकक्कसं ।

समुपेहमसंदिद्धं, गिरं भासेज्ज पन्नवं ॥

द० ७ : ३

विवेकी निरवद्य—पाप-रहित, अककंश—प्रिय, हितकारी और असदिग्ध—स्पष्ट अर्थवाली व्यवहार और सत्य भाषा बोले ।

८—तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।

सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥

द० ७ : ११

जीवोके दिलोको दुःखानेवाली कर्कश भाषा—सत्य होने पर भी विवेकी न बोले । ऐसी भाषासे पाप-वधन होता है ।

६—तद्देव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा ।

वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥

द० ७ : १२

विवेकी काणेको 'काणा', नपुसकको 'नपुसक' रोगीको 'रोगी' या चोरको 'चोर' न कहे ।

१०—अप्पत्तिअं जेण सिया, आसु कुप्पिज्ज वा परो ।

सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहिअगामिणिं ॥

द० ८ : ४८

जिससे अविश्वास उत्पन्न हो, दूसरा शीघ्र कुपित हो, ऐसी अहितकर भाषा विवेकी पुरुष कभी न बोले ।

११—एएणन्नेण अट्ठेणं परो जेणुवहम्मइ ।

आयारभावदोसन्नू न तं भासेज्ज पन्नवं ॥

द० ७ : १३

आचार और भावके दोषोको समझनेवाला विवेकी पुरुष उपर्युक्त या अन्य कोई भाषा जिससे कि दूसरेके हृदयको आघात पहुँचे न बोले ।

१२—न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं ।

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तेरण वा ॥

उत्त० १ : २५

विवेकी पुरुष अपने लिए, दूसरोके लिए, अपने और दूसरे दोनोंके लिए पूछने पर सावद्य—पापकारी भाषा न बोले, न अर्थशून्य और मार्मिक बात कहे ।

१३—दिद्धं मिअं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअं जिअं ।
अयंपिरमणुव्विगं, भासं निसिर अत्तवं ॥

द० ८ : ४६

भातमार्थी पुरुष दृष्ट, परिमित, असदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट और अनुभूत वचन बोले । उसके वचन वाचालता रहित और किसीको भी उद्विग्न करनेवाले न हो ।

२५ : अस्तेय

१—चित्तमत्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहं से अजाइया ॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं ।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥

द० ६ : १४, १५

सचेतन पदार्थ हो या अचेतन, अल्प मूल्यवाला पदार्थ हो या बहुमूल्यवाला पदार्थ—यहां तक कि दात कुरेदनेका तिनका भी हो—सयमी, स्वामीकी आज्ञा बिना, उसे स्वयं ग्रहण नहीं करता, न दूसरेसे ग्रहण करवाता है और न ग्रहण करनेवालेको भला समझता है—उसका अनुमोदन करता है ।

२—तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे ।

आयारभाव तेणे य, कुब्बइ देवकिव्विसं ॥

द० ५ । २ : ४६

जो नर तपका चोर, वचनका चोर, रूपका चोर, तथा आचार और भावका चोर होता है, वह नीच जातिके किल्बीषी देवोमें उत्पन्न होता है ।

३—रूवे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवइ तुट्ठि ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥

उत्त० ३२ : २६, ४२, ५५, ६८, ८१, ६४

रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और भाव—इन विषयोंमें गाढ़ आसक्तिवाला मनुष्य तुष्टि—सतोष नहीं पाता और अतृप्तिके दोषसे दुःखी और लोभसे कलुषित वह आत्मा दूसरेकी न दी हुई इष्ट वस्तु को ग्रहण करता—उसकी चोरी करता है ।

४—इच्छामुच्छा तण्हाणेहि असंजमो कंखा ।

हृत्थलहुत्तणं परहळं तेणिककं कूडया अदत्तं ॥

प्रश्न० १, ३ : १०

परधनकी इच्छा, मूर्छा, तृष्णा, गृद्धि, असयम, काक्षा, हस्तलघुता, परधन हरण, अस्तेनक, कूटतोलकूटमाप और विना दी हुए वस्तु लेना ये सब चोरीके ही अन्य नाम हैं ।

५—अदत्तादारणं अकित्तिकरणं अणज्जं साहुगरहणिजं ।

पियजणमित्तजणभेदविप्पीतिकारकं रागदोसवहुलं ॥

प्रश्न० १, ३ : ६

अदत्तादान अपयशका करनेवाला अनार्य कर्म है । यह सभी सन्तो द्वारा निन्द्य है । यह प्रियजन, मित्रजनमें भेद औरअप्रतीति उत्पन्न करता है और राग-द्वेषसे भरा हुआ है ।

६—हरदहमरणभयकलुसतासण परसंतिगऽभेज्जलोभमूलं ।

जप्पूरसमरसंगामडमरकलिकलह्वेहकरणं ॥

प्रश्न० १, ३ : ६

चौर्यकर्म दूसरेके हृदयको दाह पहुँचाता है । यह मरण, भय, और त्रास उत्पन्न कराता है । परधनमें गृद्धिका हेतु औरलोभका मूल है । बडे-बडे समर-संग्राम, डमर—स्वपरचक्रभय, बलेश, कलह, वेध—पश्चात्ताप आदिका हेतु है ।

२६ : ब्रह्मचर्य

१ : ब्रह्मचर्यकी महिमा

१—विणयसीलतवनियमगुणसमूहं तं वभं भगवंतं ।
गहगणनक्षत्रतारगणं वा जहा उडुपत्ती ॥

प्रश्न० २ । ४

ब्रह्मचर्य—विनय, शील, तप, नियम आदि गुण-समूहमें उसी तरह सबसे प्रधान है जिस तरह ग्रह, नक्षत्र, और ताराओंमें उडुपत्ति—चन्द्रमा ।

२—दाणाणं चैव अभयदयाणं, ज्झाणेषु य परमसुक्कज्झाणं ।
णाणेषु य परमकेवलं तु सिद्धं, लेसासु य परमसुक्कलेसा ॥

प्रश्न० २ । ४

ब्रह्मचर्यं सर्वं गुण-समूहमें उसी तरह प्रधान है जिस तरह दानोंमें अभयदान, ध्यानमें परम शुक्लध्यान, ज्ञानमें सिद्धि देनेवाला परम केवलज्ञान और लेश्याओंमें परम शुक्ललेश्या ।

३—एवमणेगा गुणा अहीणा भवंति एप्पकमि वंभचेरे ।
इहलोइयपारलोइयजसे य कित्ती य पच्चओ य ॥
जंमि य आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं ।
सीलं तवो य विणओ य संजमो खंती गुत्ती मुत्ती तहेव ॥

प्रश्न० २ । ४

इस तरह एक ब्रह्मचर्यके पालन करनेसे अनेक गुण अधीन हो जाते हैं। यह व्रत इहलोक और परलोकमें यश कीर्ति और प्रतीतिका कारण है। जिसने एक ब्रह्मचर्य व्रतको आराधना करली—समझना चाहिए उसने सर्व व्रत, शील, तप, विनय, संयम, क्षांति, समिति-गुप्ति—यहां तक कि मुक्तिको भी आराधना कर ली।

४—तम्हा निहुण वंभचेरं चरियव्वं सव्वओ।

विसुद्धं जावज्जीवाए जाव सेवट्टिसंजउत्ति ॥

प्रश्न० २।४

जब तक जीवन कायम रहे और जब तक शरीरमें रक्त और मांस हो तब तक सम्पूर्ण विशुद्धतापूर्वक निश्चल रूपसे ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए।

५—पसत्थं सोमं सुभं सिवं सथा विसुद्धं।

सव्व भव्वजणाणुच्चिन्नं निस्संकिर्यं निव्वभयं ॥

प्रश्न० २।४

ब्रह्मचर्य व्रत सदा प्रशस्त, सौम्य, शुभ और शिव है। वह परम विशुद्धि—आत्माकी महान् नियंलता है। सब भव्य—मुमुक्षु पुरुषों का आर्चिष—उनका जीवन है। यह प्राणीको विश्वासपात्र—विश्वसनीय बनाता है—उससे किसीको भय नहीं रहता।

६—नित्तुसं निरायासं निरुवलेवं निव्वुतिघरं।

नियमनिप्पकंपं तवसंजममूलदलियणेम्मं ॥

प्रश्न० २।४

यह तुस रहित धानकी तरह सार वस्तु है। यह खंद रहित है। यह जीवकी कर्मसे लिप्त नहीं होने देता। चित्तकी स्थिरताका हेतु है। धर्मी पुरुषोका निष्कंप—शाश्वत नियम है। तप सयमका मूल—

धादि भूत द्रव्य है ।

७—भाणवरकवाडसुकयरफखणंमज्जप्पदिन्नफलहं ।

संन्नवद्धोच्छइयदुग्गइपहं सुगतिपह्देसगं च ॥

प्रश्न० २ । ४

आत्माकी अच्छी तरह रक्षा करनेमें उत्तम व्यानरूपी कपाट और आध्यात्मकी रक्षाके लिए अविकार रूप भोगल है, दुर्गतिके पथको रोकनेवाला वस्त्र है, सुगतिके पथको प्रकाशित करनेवाला लोगोत्तम व्रत है ।

८—लोगुत्तमं च वयवयविणं पउमसरतलागपालिभूयं ।

महासगडअरगतुंघभूयं महाविडिमरुक्खस्खंधभूयं ॥

प्रश्न० २ । ४

यह घमें रूपी पद्म सरोवरकी पाल है, गुण रूपी महारथकी घुरा है । व्रत नियम रूपी छायाग्रोसे फंले हुए घमें रूपी बड़ वृक्षका स्कंध है ।

९—महानगरपागारकवाडफलहभूयं ।

रज्जुपिणिद्धो व इदंकेतू विसुद्धणेगगुणसंपिणद्धं ॥

प्रश्न० २ । ४

शील रूपी महानगरकी परिधि (परकोटे) के द्वारकी अंगला— भोगल है । रस्सियोसे बंधी इन्द्रध्वजाके समान अनेक गुणोसे स्थिर धर्मपताका है ।

१०—जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं सभग्गमहियमथिय ।

चुन्निय कुसल्लिय पव्वयपडिय खंडिय परिसडिय विणासियं ॥

प्रश्न० २ । ४

एक ब्रह्मचर्य व्रतके भंग होनेसे सहसा सब गुण भग हो जाते हैं,

मदित हो जाते हैं, मथित हो जाते हैं, क्लृप्त हो जाते हैं, पर्वतसे गिरी हुई वस्तुकी तरह टुकड़े २ हो जाते हैं और विनष्ट हो जाते हैं ।

२ : सबसे बड़ी आसक्ति

११—मोक्ष्वाभिकंखिस्स उ माणवस्स, संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मो ।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए, जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥

उत्त० ३२ : १७

जो पुरुष मोक्षाभिलाषी है, संसारभीरु है, धर्ममें स्थित है—उनके लिए भी भूखके मनको हरनेवाली स्त्रियोंकी आसक्तिको पार पानसे अधिक दुष्कर कार्य इस लोकमें दूसरा नहीं है ।

१२—ए ए संगे समइक्कमित्ता, सुदुत्तरा च्च भवन्ति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाणा ॥

उत्त० ३२ : १८

इस आसक्तिको जीत लेने पर शेष आसक्तियोका पार पाना सरल है । महासागर तैर लेनेपर गङ्गाके समान नदियोंका तैरना क्या दुस्तर है ?

३ : ब्रह्मचर्यकी रक्षाके उपाय

(१) एकान्तवास

१३—जतुकुंभे जहा उवज्जोई
संवासे विदू विसीएज्जा

सू० १, ४।१ : २६

जैसे अग्निके निकट लाखका घड़ा गल जाता है, उसी तरह विद्वान् पुरुष भी स्त्रीके सवाससे विषादको प्राप्त होता है ।

१४—जहा विरालावसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था ।
एमेव इत्थी निलयस्स मज्जे, न वम्भयारिस्स खमो निवासो ॥

उत्त० ३२ : १३

जैसे विल्लियोके वासके मूलमें—समीपमें—चूहेका रहना प्रशस्त
सलामतभरा—नही, उसी तरहसे जिस मकानमें स्त्रियोका वास हो
उस स्थानमें ब्रह्मचारीके रहनेमें क्षेम कुशल नहीं ।

१५—अहसेऽणुतप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं ।
एवं विवेगमायाय, संवासो न वि कप्पए दविए ॥

सू० १, ४। १ : १०

विष मिश्रित खीरके भोजन करनेवाले मनुष्यकी तरह स्त्रियोके
सहवासमें रहनेवाले ब्रह्मचारीको फीछे विशेष अनुताप करना पडता
है । इसलिए पहलेसे ही विवेक रखकर मुमुक्षु स्त्रियोके साथ सहवास
न करे ।

१६—जं विवित्तमणाइन्नं, रहियं इत्थी जणेण य ।
वंभचेरस्सरफ्फवट्ठा, आलयं तु निसेवए ॥

उत्त० १६ : श्लो० १

मुमुक्षु ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिए—विविक्त—खाली, अनाकीर्ण
और स्त्रियोसे रहित स्थानमें वास करे ।

१७—जत्थ इत्थिकाओ अभिक्खणं, मोहदोसरतिरागवद्धणीओ ।
कहिंति य क्हाओ बहुविहाओ, तेऽवि हु चज्जणिज्जा ॥

प्रश्न० २, ४ भा० १

जहा मोह और रति—कामरागको बढानेवाली स्त्रियोका बार-
बार आवागमन हो, और जहा पर नाना प्रकारकी मोहजनक स्त्री
क्याएँ कही जाती हो—ऐसे सब स्थान ब्रह्मचारीके लिए वर्जनीय है ।

१८—जत्थ मणोविट्ठमभो वा भंगो वा भंसणा वा ।

अट्ठं रुद्धं च हुज्ज भाणं तं तं वज्जेज्जवज्जभीरु ॥

प्रश्न० २, ४ भावना १

जिस स्थानमें रहनेसे मन अस्थिरताको प्राप्त होता हो, ब्रह्मचर्यके सम्पूर्ण रूपसे या अश रूपसे भग होनेकी आशका हो और अपध्यान—भार्त्त और रौद्र ध्यान—उत्पन्न होता हो, उस स्थानका पापभीरु ब्रह्मचारी वर्जन करे ।

(२) स्त्री कथा विरति

१६—नारी जणस्स भज्जे न कहेयव्वा क्हा विचित्ता ।

विट्ठोयविलाससंपउत्ता, हाससिगारलोइयकहव्व ॥

ब्रह्मचारी स्त्रियोके बीचमें कामपूर्ण कथा न कहे । वह चित्र-विचित्र, कामुक स्त्रियोकी चेष्टा-प्रचेष्टा युक्त और विलास, हास्य और शृंगारोत्पादक लौकिक कथाएँ न कहे ।

२०—कहाओ सिंगारकलुणाओ तवसंजमवंभचेरघातोवघातियो ।

अणुचरमाणेणं वंभचेरं न कहेयव्वा न सुणेयव्वा न चित्तेयव्वा ॥

शृंगार रसके कारण मोह उत्पन्न करनेवाली तथा तप, संयम और ब्रह्मचर्यका घात-उपघात करनेवाली—कामुक कथाएँ ब्रह्मचारी न कहे, न सुने और न उनका चिन्तन करे ।

(३) नारी-प्रसंग विरति

२१—से णो काहिए, णो पासणिए ।

णो संपसारए, णो ममाए ॥

णो कयकिरिए, वइशुत्ते ।

अज्झपसंवुडे परिवज्जए सदा पावं ॥

आ० १ । ५ : ४

ब्रह्मचारी स्त्री-सम्बन्धी शृंगार कथा न करे । स्त्रियोंके शंको-पाग आदिका निरीक्षण न करे । स्त्रियोंके साथ परिचय न करे, उनसे ममता न करे, उनकी आगत-स्वागत न करे और अधिक क्या स्त्रियोंसे बातचीत करनेमें भी अत्यन्त मर्यादित रहे तथा मनको बशमें कर हमेशा पापाचारसे दूर रहे ।

२२—कुञ्चन्ति सन्थवं तार्हि, पञ्चभट्टा समाहिजोगेहि ।

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कण्ठगं नच्चा ॥

सू० १, ४ । १ : १६, ११

जो स्त्रियोंके साथ परिचय करता है वह समाधि योगसे भ्रष्ट हो जाता है । अतः स्त्रियोंको विष लिप्त कटकके समान जानकर ब्रह्मचारी उनके ससर्गका वर्जन करे ।

२३—जहा बुक्कुडपोयस्स, निच्चं कुल्लओ भयं ।

ए वं खुं वम्भयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥

द० ८ : ५४

जैसे कूकड़ी—मूर्गके वच्चेको दिल्लीसे हमेशा भय रहता है, उसी तरह ब्रह्मचारीको स्त्री-शरीरसे भय रहता है ।

२४—हत्थपायपडिच्छिन्नं, कन्ननासविगप्पिअं ।

अवि वाससयं नारिं, वंभयारी विवज्जए ॥

द० ८ : ५६

अधिक क्या जिसके हाथ पैर प्रतिच्छिन्न हैं, जो नकट्टी और बुची ऐसे विकृत अगवाली सौ वर्षकी डोकरी है, उसके समर्गसे भी ब्रह्मचारी बचे ।

२५—नो तासु चक्खु संघेज्जा, नो वि य साहसं समभिजाणे ।

नो सहियं पि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ॥

सू० १, ४ । १ : ५

ब्रह्मचारी स्त्रियो पर दृष्टि न सांघे, उनके साथ कुकर्मका साहस न करे। ब्रह्मचारी स्त्रियोके साथ विहार अथवा एकांत वास न करे। इस प्रकार स्त्री प्रसंगसे वचनेसे आत्मा नागोसे सुरक्षित होता है।

(४) दर्शन विरति

२६—अंगपच्च्वंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं ।

इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवद्धणं ॥

द० ८ : ५८

स्त्रियोके अङ्ग-प्रत्यग, उनकी मनोहर बोली और चक्षु विनयास— ब्रह्मचारी इन सब पर ध्यान न लगावे। ये सब बातें कामरागकी वृद्धि करनेवाली हैं।

२७—चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंक्रियं ।

भक्खरं पिव दट्ठुणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥

द० ८ : ५५

आत्मगवेपी पुरुष सुअलङ्कृत नारीकी ओर—यहां तक की दीवार पर अङ्कित चित्र तक की ओर गृह-दृष्टिसे न ताके। यदि दृष्टि पड़ भी जाय तो सूर्यकी किरणोके सामनेसे जैसे उसे हटाते हैं उसी तरह हटा लें।

२८—अदंसणं चैव अपत्थणं च, अचित्तणं चैव अक्कित्तणं च ।

इत्थीजणस्सारियक्काणजुगं, हिअं सया वंभचरे रयाणं ॥

उत्त० ३२ : १५

स्त्रियोके रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मञ्जुल भाषण, अङ्ग-विनयास और कटाक्ष आदिको न देखना चाहिए। उनकी इच्छा नहीं करना चाहिए, उनका मनमें चिन्तन नहीं करना चाहिए, उनका कीर्तन नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचर्य व्रतमें रत पुरुषके लिए ये नियम सदा

हितकारी और आर्य ध्यान—उत्तम समाधि प्राप्त करनेमें सहायक है ।

(५) शब्द विरति

२६—कूड्यं रुड्यं गीयं, हसियं थणियकंदियं ।

वंभचेररओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए ॥

उत्त० १६ : श्रो ५

ब्रह्मचारी स्त्रियोके मधुर ध्वनि, रुदन, गीत, हास्य, विलाप, क्रदन अथवा विषय-प्रेमके शब्दोको सुननेसे दूर रहे ।

(६) स्मरण विरति

३०—हासं किडुं रइं दर्पं, सहस्साऽवत्तासियाणी य ।

वंभचेररओ थीण, नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥

उत्त० १६ : श्लो० ६

ब्रह्मचारी पूर्व कालमें स्त्रीके साथ भोगे हुए हास्य, क्रीडा, मंथुन, दर्प और सहसा विवासन आदिके प्रसंगोका कभी भी स्मरण न करे ।

३१—मा पेह पुरा पणामए, अभिकंखे उवहिं घुणित्तए ।

ज दूमण तेहि नो नया, ते जाणन्ति समाहिमाहियं ॥

सू० १, २ : २७

दीन बनानेवाले पूर्व भोग हुए विषय-भोगोका स्मरण मत कर, न उनकी कामना कर । सारी उपाधियो—दुष्प्रवृत्तियोको दूर कर । मनको द्रुष्ट बनानेवाले विषयोके सामने जा नत मस्तक नहीं होता वह जिन-कथित समाधिको जानता है ।

(७) रस विरति

३२—रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराण ।

दित्तं च कामा समभिद्वन्ति, दुमं जहा साउफलं व पषखी ॥

उत्त० ३२ : १०

घी, दूध आदि रसोका बहुत सेवन नहीं करना चाहिए । रस पदार्थ मनुष्योंके लिए दीप्तिकर—उद्दीपक होते हैं । जिस तरह स्वादु फलवाले वृक्षकी ओर पक्षी दलके दल उड़ आते हैं उसी तरहसे दीप्त वीर्यवान पुरुषकी ओर काम वासनाएँ दौड़ी चली आती हैं ।

(८) अति भोजन विरति

३३—जहा द्वगगी पउरिन्धणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्द्रियग्गी वि पगामभोइणो, न वंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥

उत्त० ३२ : ११

जिस तरह प्रचुर काण्डसे भरे हुए वनमें अग्नि लग जाय और साथ ही पवन चलती हो तो दावाग्नि नहीं बुझती उसी तरहसे अति मात्रामें—यथेच्छ आहार करनेवाले मनुष्यकी इन्द्रियाग्नि शान्त नहीं होती । ब्रह्मचारीके लिए अति आहार हितकर नहीं है ।

३४—न बहुसो, न नितिकं, न सायसूपाहिकं न खद्धं ।
तहा भोत्तव्वं जह से जायमाता य भवति ॥

प्रश्न० २ : ४ भा० ५

ब्रह्मचारी एक दिनमें बहु दार आहार न करे, प्रतिदिन आहार न करे, अधिक शाक दाल न खाय, अधिक मात्रामें भोजन न करे । जितना समय यात्राके लिए जरूरी हो उसी मात्रामें ब्रह्मचारी आहार करे ।

३५—न य भवतिविट्भमो न भंसणा य धम्मस्स ।
अंतरप्पा आरतमणविरतगामधम्मो जिइंदिए वंभचेरगुत्ते ॥

प्रश्न० २ : ४ भा० ५

विभ्रम न हो, धर्मसे भ्रम न हो—आहार उतनी ही मात्रामें होना चाहिए । इस समितिके योगसे जो भावित होता है, उसकी अतरात्मा तल्लीन, इन्द्रियोंके विषयसे निवृत्त, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्यके

रक्षाके उपायोसे युक्त होती है ।

(६) शृङ्गार विरति

३६—विभूसावत्ति ए खलु विभूसियसीररे ।
इत्थिजणस्स अहिल्लसण्णिज्जे हवइ ॥

उत्त० १६ : १ । २

विभूषाके स्वभाववाला ब्रह्मचारी निश्चय ही विभूषित शरीरके कारण स्त्रियोका काम्य—उनकी अभिलाषाका पदार्थ हो जाता है ।

३७—तस्सवंबभयारिस्स वंबच्चरे संका वा कंखा वा ।
वित्तिगिच्छा वा समुप्पज्जिजा ॥

उत्त० १६ : १२

जो ब्रह्मचारी स्त्रियोकी अभिलाषाका इस तरह शिकार बनता है, उसके मनमें ब्रह्मचर्य उत्तम है या नहीं—ऐसी शका उत्पन्न होती है । फिर उसके मनमें विषयभोगकी आकांक्षा उत्पन्न होती है और ब्रह्मचर्य के उत्तम फलमें विचिकित्सा—विकल्प—सदेह उत्पन्न होता है और इस तरह वह ब्रह्मचर्य धर्मसे च्युत हो जाता है ।

(१०) कामभोग विरति

३८—सद्दे रूवे य गन्थे य, रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जे ॥

उत्त० १६ श्लो० १०

ब्रह्मचारी शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पांच प्रकारके इन्द्रियोके विषयोको सदाके लिए छोड़ दे ।

३९—विसएसु मणुन्नेसु, पेमं नाभिनिवेसए ।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय, परिणामं पोग्गलाणय ॥

द० ८ : ५६

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पुद्गल्लोके परिणामोको अनित्य जानकर ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयोंमें रागभाव न करे ।

४०—प्रोग्गलाणं परिणामं, तेसिं नञ्चा जहा तथा ।

विणीयत्तण्हो विहरे, सीईभूएण अप्पणा ॥

द० ८ : ६०

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पुद्गल्लोके परिणामोको यथातथ्य जानकर ब्रह्मचारी अपनी आत्माको शीतल कर, तृष्णा रहित हो जीवन् थापन करे ।

४१—वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।

अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥

जे य कन्ते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठीकुव्वइ ।

साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥

द० २ : २, ३

जो वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्रियो और शय्याका केवल परवशतासे—उनके अभावमें सेवन नहीं करता, वह त्यागी नहीं है । पर जो कांत और प्रिय भोग सुलभ होने पर भी उन्हें पीठ दिखाता है—जो स्वामीन भोगोका त्याग करता है—वही सच्चा त्यागी—ब्रह्मचारी है ।

४२—वित्तसेजासणजंतियाणं, ओमासणाणं दमिइं दिय्याणं ।

न रागसत्तू धरिसेइ चिन्तं, पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥

उत्त० ३२ : १२

एकान्त शय्यासनके सेवी, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय पुरुषके चित्त को विषय रूपी शत्रु पराभव नहीं कर सकता । औपघसे जैसे व्याधि पराजित हो जाती है वैसे ही इन नियमोके पालनसे विषय रूपी शत्रु पराजित हो जाता है ।

(११) उपसंहार

४३—आलभो थीजणाइणो, थीकहा य मणोरमा ।
 संथवो चेष नारीणं, तासि इन्दियदरिसणं ॥
 कूइयं रुइयं गीयं, हासभुत्तासियाणि य ।
 पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं ॥
 गतभूसणमिद्धं च, कामभोगा य दुज्जया ।
 नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालज्जं जहा ॥

उत्त० १६ : श्लो० ११-१३

(१) स्त्रियोसे आर्कीण निवास, (२) मनोहर स्त्री कथा, (३) स्त्री सहवास और परिचय, (४) स्त्रियोकी इन्द्रियोका निरीक्षण, (५) उनके कूजन, रुदन, गीत और हास्यका सुनना, (६) उनके साथ एकासन, (७) स्निग्ध रसदार खान पान, (८) अति खान-पान (९) गान विभूषा—शरीर शृंगार तथा (१०) काम भोग—शब्दादि विषयोमें आशक्ति—ये सब वाते प्रिय होती हैं और उनका त्याग बडा कठिन होता है परन्तु आत्मगवेषी ब्रह्मचारीके लिए ये सब तालपुट विषकी तरह हैं ।

४४—दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए ।
 संकाट्टाणाणि सन्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥

उत्त० १६ : श्लो० १४

ब्रह्मचारी दुर्जय कामभोगोका सदा परित्याग करे तथा ब्रह्मचर्यके लिए जो शका—विघ्नके स्थान हो उन्हे एकाग्रसे मनसे वर्जन करे—टाले ।

४५—बम्भयारिस्स बम्भचेरे, संका वा कंखा वा
 विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेअं वा लभेज्जा

उम्मार्यं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा
रोगार्यकं ह्वेज्जा केवलिपन्नन्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा

उत्त० १६ : ४

जो उपर्युक्त समाधि-स्थानोके प्रति असावधान रहता है, उसे धीरे-धीरे अपने ब्रतोंमें शका उत्पन्न होती है, फिर विषयभोगोकी आकाक्षा—कामना उत्पन्न होती है और फिर ब्रह्मचर्यके फलके विषय में चिकित्सा—सदेह उत्पन्न होता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यका नाश हो जाता है। उसके उन्माद और दूसरे बड़े रोग हो जाते हैं और अन्तमें चित्तसमाधिके भङ्ग होनेसे वह केवली भाषित धर्मसे भ्रष्ट—पतित हो जाता है।

४ : परमारी

४६—अवि हत्थपायछे थाए अट्टु वा वद्धमंसउक्कन्ते ।

अवि तेयसाभितावणाणि तच्छिय खारसिचणाइं य ॥

सू० १, ४। १ : २१

जो लोग पर स्त्रीका सेवन करते हैं उनके हाथ पर काट लिए जाते हैं अथवा उनकी चमड़ी और मांस कतर लिए जाते हैं तथा अग्निके द्वारा वे तपाए जाते हैं एवं उनका अङ्ग काटकर सारके द्वारा सिचन किया जाता है।

४७—अट्टु कण्णनासछेयं कण्ठच्छेयणं तिइक्खन्ती ।

इइ एत्थ पावसंतत्ता न वेन्ति पुणो न काहिनन्ति ॥

सू० १, ४। १ : २२

पापी पुरुष इस लोकमें कान, नाक और कण्ठका छेदन सह लेते हैं परन्तु यह नहीं निश्चय कर लेते कि हम अब पाप नहीं करेंगे।

४८—अणांगयमपस्सन्ता पच्चुप्पन्नगंवेसगा ।

ते पच्छा परितप्पन्ति खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥

सू० १, ३।४ : १४

असत् कर्मसे भविष्यमें होनेवाले दुःखोंकी ओर न देख जो केवल वर्त्तमान सुखोंको खोजते हैं वे यौवन और आयु क्षीण होने पर पश्चाताप करते हैं ।

५ . ब्रह्मचारीकी महिमा

४९—घाउ व्व जालमच्चेइ पिया लोंगंसि इत्थियो ।

सू० १, १५ : ८

जैसे वायु अग्निकी ज्वालाको पार कर जाता है वैसे ही महा-पराक्रमी पुरुष इस लोकमें प्रिय स्त्रियोंके मोहको उल्लघन कर जाते हैं ।

५०—इत्थिओ जे न सेवन्ति आईमोक्खां हु ते जणा ।

सू० १; १५ : ९

जो पुरुष स्त्रियोंका सेवन नहीं करते वे मोक्ष पहुचनेमें सबसे अग्रसर होते हैं ।

५१—जे विन्नवणाहिजोसिया, संतिण्णेहि समं वियाहिया ।

तम्हा उद्धं ति पासहा अदप्पवु कामां रोगवं ॥

सू० १, २।३ : २

कामको रोगरूप समझकर जो स्त्रियोंसे अभिभूत नहीं हैं, उन्हें मूक्त पुरुषोंके समान कहा है । स्त्री परित्यागके बाद ही मोक्षके दर्शन सुलभ है ।

५२—नीवारो व न लीएज्जा छिन्नसोए अगाविले ।

अणाइले सया दन्ते, संधि पत्ते अणेलिसं ॥

सू० १, १५ : १२

स्त्री-प्रसंग सूअरको फंसानेवाले चावलके कणकी तरह है । विषय और इन्द्रियोंको जीतकर जो छिन्नस्त्रोत् हो गया है तथा जो राग द्वेष रहित है वह स्त्री-प्रसंगमें न फसे । जो विषयभोगमें अनाकुल और सदा इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला पुरुष है वह अनुपम भावसन्धि (कर्मक्षय करनेकी मॉर्नसिक दशा) को प्राप्त करता है ।

५३—जहाँ नई वैयरणी, दुत्तरा इह संमया ।

एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया ॥

सू० १; ३।४ : १६

जिस तरह सर्व नदियोंमें वंतरणी नदी बुस्तर मानी जाती है; उसी तरह इस लोकमें अदिवेकी पुरुषके लिए स्त्रियोंका मोह जीतना कठिन है ।

५४—जेहि नारीण संजोगा, पूयणा पिट्टओ कया ।

सव्वमेयं निराकिञ्चा, तेठिया सुसमाहिए ॥

सू० १।३।४ : १७

जिन पुरुषोंने स्त्री-ससर्ग और काम-शृंगारको छोड़ दिया है, वे समस्त विघ्नोंको जीतकर उत्तम समाधिमें निवास करते हैं ।

५५—एए ओघं तरिस्सन्ति, समुहं ववहारिणो ।

जत्थ पाणा विसन्नासि, किञ्चन्ती सयकम्मुणा ॥

सू० १,३।४ : १८

ऐसे पुरुष इस सञ्चार-सागरको, जिसमें जीव अपने-अपने कर्मोंसे डुब पाते हैं, उसी तरह तिर जाते हैं जिस तरह वणिक् समुद्र को ।

५६—देवदाणवगंधव्वा, जषखरक्खसकिञ्चरा ।

वभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेन्ति ते ॥

उत्त० १६ : १६

देव, दानव, गंधर्व, राक्षस और किन्नर ये सब दुष्कर करनेवाले (दुष्कर ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले) ब्रह्मचारीको नमस्कार करते हैं ।

५७—एस धम्मे धुव्वे निच्चै, सासए जिणदैसिए ।

सिद्धा सिज्झन्ति चाणेणं, सिज्झिस्सन्ति तहा परे ॥

उत्त० १६ : १७

यह धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिन भगवान्का कहा हुआ है । पूर्वमें इस धर्मके पालनसे अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, अभी होते हैं और आगे भी होंगे ।

२७ : अपरिग्रह

१—कसिणं पि जो इमं लोयं, पड्डिपुण्णं दलेज्ज इक्कत्स ।

तेणाऽवि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥

उत्त० ८ : १६

यदि धनधान्यसे परिपूर्ण यह सारा लोक भी किसी एक मनुष्य को दे दिया जाय तो भी उससे संतोष होनेका नहीं । लोभी आत्माकी तृष्णा इसी तरह दुष्पूर होती है ।

२—वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था ।

दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे, नेयाउर्यं दट्ठमदट्ठमेव ॥

उत्त० ४ : ५

प्रमत्त मनुष्य धन द्वारा न तो इस लोकमें अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोकमें । हाथमे दीपक होनेपर भी जैसे उसके बुझ जाने पर सामनेका मार्ग दिखाई नहीं देता, उसी तरहसे धनके असीम मोहसे मूढ मनुष्य न्यायमार्गको देखता हुआ भी नहीं देख सकता ।

३—जे पावकम्मोहिं धणं मणूसा, समाययन्ती अमयं गहाय ।

पहाय ते पासपयट्ठिए नरे, वैराणुवद्धा नयर्यं उवेत्ति ॥

उत्त० ४ : २

जो मनुष्य धनको अमृत मान अनेक पाप कर्मों द्वारा उसे कमाते हैं, वे अन्तमें कर्मोंके दृढ पाशमें बंधे हुए अनेक जीवोंसे वँर विरोध बाध और सारी धन संपत्ति यही छोड़ नरकवास प्राप्त करते हैं ।

४—सुवर्णरूपस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥

उत्त० ६ । ४८ ॥

कदाच सोने और चांदीके कैलासके समान असख्य पर्वत हो जाय तो भी लोभी मनुष्यके लिए वे कुछ भी नहीं होते । इच्छा आकाशके समान अनन्त है ।

५—परिवृषयन्ते अणियत्तकामे, अहो य राओ परितप्पमाणे ।
अन्नप्रमत्ते धणमेसमाणे, प्रप्पोति म्मच्चुं पुरिसे जरं च ॥

उत्त० १४ : १४

दूसरोकी जरा भी परवाह न कर धनकी खोज करनेवाला, रात-दिन उसके लिए परितप्त रह चुककर लगानेवाला और कामलालसासे अतिवृत्त मनुष्य धनकी कामना करते करते ही मृत्यु और जराको प्राप्त हो जाता है ।

६—वियाणिया दुक्खविवद्धणं धणं, ममतवन्धं च महव्भयावहं ।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं, धारेज्ज निव्वाण गुणावहं महं ॥

उ० १६ : ६८

धनको दुःख बढ़ानेवाला, ममत्व-बन्धनका कारण और महा-भयावह जानकर उस सुखावह, अनुपम और महान् धर्मधुराका धारण करो जो निर्वाण गुणोंकी बहन करनेवाली है ।

७—माहणा खत्तिया वेस्सा, चण्डाला अट्टु चोक्कसा ।

एसिया वेसिया सुहा, जे य आरंभनिस्सिया ॥

परिग्रहनिविट्टाणं, वेरं तेसिं पवड्डई ।
आरंभसंभिया कामा, न ते दुक्खविमोयगा ॥

सू० १; ६ : ३

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, वोकस, एषिक, वैशिक, शूद्र—
जो भी आरम्भ—यन्त्रपीडन, निर्लाञ्छन आदि जीवोपमर्दकारी कार्यों
में आसक्त हैं—उन परिग्रही जीवोका—हिरण्य सुवर्ण, घन धान्य,
क्षेत्रवास्तु, द्विपद-चतुष्पद तथा घरसामानमें ममत्व करनेवाले जीवोका
—दूसरे जीवोके साथ वैर ही बढ़ता है । आरम्भमें भरे हुए—परिग्रहमें
आसक्त—वे विषयी जीव दुःखोंका मोचन नहीं कर सकते ।

८—पुढवी अगणी वाऊ, तणरुवख सवीयगा ।

अण्डया पोयजराऊ, रससंसेयउत्थिया ॥

एएहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया ।

मणसा कायवक्केणं, नारम्भी न परिगही ॥

सू० १, ६ : ८, ६

पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल तथा तृण-वृक्ष-धान्य आदि वनस्पति—ये
और अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, स्वेदज और उद्भिज्ज—
ये त्रस—

इन छः ही प्रकारके जीवोको भलीभांति जानकर विज्ञ पुरुष मन,
वचन और कायासे इनके प्रति आरभी और परिग्रही न हो—वह
इनके प्रति आरम्भ और परिग्रह भावनाका त्याग करे ।

६—आउक्खर्यं चेव अवुज्झमाणे, ममाइ से साहसकारिमंदे ।

अहो य राओ परितप्पमाणे, अट्टेसु मूढे अजरामरे व्व ॥

सू० १, १० : १८

आयु पल-पल क्षीण हो रहा है, यह न समझ कर मूर्ख मनुष्य

विना विचारे ममता करता रहता है। मूर्ख मनुष्य धनमें आसक्त होकर अजर अमर पुरुषकी तरह रात-दिन उसके लिए परिताप करता है। यह उसका कितना बड़ा दुःसाहस है।

१०—थावरं जंगमं चैव, धनं धनं उवक्स्वरं।

पचमाणस्स कम्मोहिं, नालं दुक्खाओ भोजणे ॥

उत्त० ६ : ६

धन, धान्य और घर-सामान—स्थावर और जगम कोई भी सम्पत्ति कर्मोंसे दुःख पाते हुए प्राणीको दुःखसे मुक्त करनेमें समर्थ नहीं है।

११—खेत्तं वत्थं हिरण्णं च, पुत्तदारं च बन्धवा।

चइत्ता णं इमं देहं, गन्तव्वमवसस्स मे ॥

उत्त० १६ : १७

मनुष्यको सोचना चाहिए—क्षेत्र—भूमि, घर, सोना-चादी, पुत्र, स्त्री और बान्धव तथा इस देहको भी छोड़ कर मुझे एक दिन अवश्य जाना पड़ेगा।

१२—भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिचोच्चत्ये।

बाले य मंदिए मूढे, बज्जमई मच्छिया व खेलम्मि ॥

उत्त० ८ : ५

भोग रूपी आमिसमें गृद्ध, हित और निश्चयसमें विपर्यय बुद्धिवाला अज्ञानी, मन्द और मूर्ख जीव उसी तरह कर्मपासमें बध जाता है जिस तरह मक्खों श्लेष्ममें।

१३—नो रक्खसीसु गिज्जेज्जा, गडं वच्छासुण्णेगचित्तासु।

जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेल्लन्ति जहा व दासेहिं ॥

उत्त० ८ : १८

जिनके वक्षस्थलमें मासके कुच हैं और अनेक जिनके चित्त हैं ऐसी राक्षसी स्त्रियोंमें मुमुक्षु मूर्छित न हो । ऐसी राक्षसी स्त्रियां पहले पुरुषको प्रलोभनमें डाल बादमें उसके साथ दासके समान क्रीड़ा करती—व्यवहार करती हैं ।

१४—चित्तमन्तमचित्तं वा, परिगिञ्ज्म किसामवि ।

अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुःस्वा न मुचई ॥

सू० १, १।१ : २

जब तक मनुष्य (कामिनी काचन वर्गरह) सचित्त या अचित्त पदार्थोंमें परिग्रह—आसक्ति रखता है या जो ऐसा करते हैं उनका अनुमोदन करता है तब तक वह दुःखसे मुक्त नहीं हो सकता ।

१५—जस्सि कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे ।

ममाइ लुप्पई बाले अन्ने अन्नेहि मुच्छिए ॥

सू० १, १।४ :

मुखं मनुष्य जिस कुलमें उत्पन्न होता है अथवा जिनके साथ निवास करता है—उनमें ममत्व करता हुआ अपनेसे भिन्न वस्तुओं में इस मूर्च्छाभाव—मोहभावसे अन्तमें बहुत पीडित होता है ।

१६—वित्तं सोयरिया चेव, सब्वमेयं न ताणइ ।

संखाए जीवियं चेव, कम्मणा उ तिउट्टइ ॥

सू० १, १ : ५

धन और सहोदर—ये सब रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होते । यह जानकर तथा जीवन अल्प है—यह जानकर (विरक्त होनेवाला) कर्मसे छूट जाता है ।

: २ :
निर्ग्रन्थ पद

१ : वैराग्य और प्रव्रज्या

१—सुयाणि मे पंच महव्वयाणि,
नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु ।
निध्विण्णकामो मि महण्णवाओ,
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो ॥

उत्त० १६ : ११

वैरागी बोला

‘हे माता ! मैंने पाच महाव्रत सुने हैं । नरक और तिर्यक् योनिके दुखोको सुना है । मैं इस संसार-रूपी समुद्रसे निवृत्त होनेकी कामना वाला हो गया हूँ । हे माता ! मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा । मुझे आज्ञा दें ।

२—अम्मताय ! मए भोगा, मुत्ता विपफलोवमा ।
पच्छा कडुयधिवागा, अणुबन्धदुहावहा ॥

उत्त० १६ : १२

‘हे माता पिता ! मैं कामभोग भोग चुका । ये कामभोग विप-फलके समान हैं । बादमें इनका फल बड़ा कटु होता है । ये निरन्तर दुःखावह हैं ।

३—असासए सरीरंमि, रइं नोचलभामहं ।

पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणवुच्चुयसन्निभे ॥

उत्त० १६ : १४

“यह शरीर फेनके बुद्बुद्की तरह क्षणभंगुर है । इसे पहले या पीछे अवश्य छोड़ना पड़ता है । इस अशाश्वत शरीरमें मुझे जरा भी आनन्द नहीं मिलता ।

४—एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण थ ।

अप्पाणं तारइस्सामि, तुव्वेहिं अणुमन्निओ ॥

उत्त० १६ : २४

“जरा और मरण रूपी अग्निसे जलते हुए इस लोकसे मैं अपनी आत्माका उद्धार करूंगा । हे माता-पिता ! आप मुझे आज्ञा दें ।”

५—त्वं विन्तस्मापियरो, सामणं पुत्त दुच्चरं ।

गुणाणं तु सहस्साइं, धारेयव्वाइं भिप्पुणा ॥

उत्त० १६ : २५

माता पिता बोले :

“हे पुत्र ! भिक्षुको सहस्रों गुण धारण करने पड़ते हैं । आमण्य बड़ा दुश्चर है ।

६—जावज्जीवमविस्सामो, गुणाणं तु महव्वभरो ।

गुरुओ लोहभारु व्व, जो पुत्ता ! होइ दुव्वहो ॥

उत्त० १६ : ३६

“हे पुत्र ! इस आमण्य वृत्तिमें जीवन पर्यन्त विश्राम नहीं है । भारी लोहभारकी तरह यह गुणोका बडा बोझा है जिसे वहन करना बड़ा दुष्कर है ।

७—समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे ।

पाणाइवायविरइ, जावज्जीवाए दुक्करं ॥

उ० १६ : २६ ॥

‘शत्रु मित्र—ससारके सभी प्राणियोंके प्रति समभाव और याव-
ज्जीवनके लिए प्राण तिपातसे विरति—यह दुष्कर है ।

८—निच्चकालप्पमत्तेणं, मुसाचायविवज्जणं ।

भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाउत्तेण दुक्करं ॥

उ० १६ : २७

‘सदैव अप्रमत्तभावसे मृपावाद—झूठका विवर्जन करना और सदा
उपयोग—सावधानी—पूर्वक हितकारी सत्य बोलना—यह दुष्कर है ।

९—दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।

अणवज्जेसणिज्जस्स, गिणहणा अवि दुक्करं ॥

उ० १६ : २८

‘दत्त शोधनकी शली जैसे पदार्थका भी बिना दिए ग्रहण न करना
तथा निरवद्य और निर्दोष पदार्थ ही ग्रहण करना—यह दुष्कर है ।

१०—विरइ अवंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा ।

उमां महव्वयं वंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥

उ० १६ : २९

‘कामभोगके रसको जो जान चुका उसके लिए अब्रह्मचर्यसे विरति
और यावज्जीवनके लिए उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्यका धारण करना अत्यन्त
दुष्कर है ।

११—धणधन्नपेसवग्गेसु, परिग्गाहविवज्जणं ।

सव्वारम्भपरिच्चागो, निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥

उ० १६ : ३०

“धन, धान्य, प्रेक्ष्य वर्ग आदि परिग्रहका यावज्जीवनके लिए विवर्जन तथा सर्व आरम्भका त्याग—ऐसा निर्ममत्व भाव दुष्कर है ।

१२—चउन्विहेऽवि आहारे, राईभोयणवज्जणा ।

सन्निहीसंचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥

उ० १६ : ३१

“चारो ही प्रकारके आहारका रात्रि भोजन छोडना तथा दूसरे दिनके लिए सचयकर रखनेका परिहार करना—दुष्कर है ।

१३—कावोया जा इमा वित्ती, केसलोओ अ दाहणो ।

दुक्खं वंभव्वयं घोरे, धारेउं य महप्पणो ॥

उ० १६ : ३४

“मुनि जीवन कापोत वृतिके समान है । केशलोचन अत्यन्त दाहण है और कठिन ब्रह्मचर्य व्रतका धारण करना भी कष्टकर है । महात्मा को ये ही गुण धारण करने पड़ते हैं ।

१४—बालुयाकव्वले चेव, निरस्साए उ संजमे ।

असिभारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो ॥

उ० १६ : ३८

“सयम बालूके कवलकी तरह निरस है । तथा तपका आचरण असिधार पर चलनेके समान दुष्कर है ।

१५—जहादुक्खं भरेउं जे, होइ वायस्स कोत्थलो ।

तहा दुक्खं करेउं जे, कीवेणं समणत्तणं ॥

उ० १६ . ४१

“जं वायुसे कोथला—यँला—भरना कठिन है उसी प्रकार क्लीब (मत्वहीन) पुरुषके लिए सयमका पालन करना कठिन है ।

१३—जहा भुयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणायरो।

तहा अणुवसन्तेणं, दुक्करं दमसागरो ॥

उ० १६ : ४३

“जिस तरह भुजाओसे रत्नाकर—समृद्धका तिरना दुष्कर है उसी तरह अनुपशांत आत्मा द्वारा दम रूपी समृद्धका तिरना दुष्कर है।

१७—अहीवेगन्तदिट्ठीए, चरित्ते पुत्त दुच्चरे।

जवा लोहमया चेष, चावेयव्वा सुदुक्करं ॥

उत्त० १६ : ३६

“हे पुत्र ! सर्पकी तरह एकान्त दृष्टिसे चारित्र्यका पालन बड़ा कठिन है। जैसे लोहके यवोका चावना दुष्कर है, उसी प्रकार सयम का पालन करना दुष्कर है।

१८—जहा अग्गिसिहा दित्ता, पाउं होइ सुदुक्करं।

तहा दुक्करं करेउं जे, तारुण्णे समणत्तणं ॥

उत्त० १६ : ४०

“जिस तरह प्रज्वलित अग्निशिखाका पीना अत्यन्त दुष्कर है, उसी प्रकार तरुणावस्थामें श्रमणत्वका पालन करना बड़ा दुष्कर है।”

१९—सुहाइओ तुमं पुत्ता, सुकुमालो सुमज्जिओ।

न हुसी पभू तुमं पुत्ता, सामण्णमणुपालिया ॥

उत्त० १६ : ३५

“हे पुत्र ! तू सुखमें रहा है, सुकुमार है और एशोराममें पला है। अतः हे पुत्र तू श्रामण्य पालनमें समर्थ नहीं है।”

२०—सो वितऽम्मापियरो, एवमेयं जहा फुडं।

इह लोए निपिवासस्स, नत्थि किंचिवि दुक्करं ॥

उत्त० १६ : ४५

वैरागी बोला :

“हे माता पिता ! आपने प्रव्रज्याके विषयमे कहा वह सत्य है, पर इस लोकमें जो पिपासा—तृष्णा—रहित हूं, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं ।

२१—अग्नां वणिण्हि आहियं धारेन्ति राईणिया इहं ।

एवं परमा महव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा ।

सू० १, २ । ३ : ३

‘जिस तरह वनियो द्वारा दूर देगसे लाए हुए रत्नादि बहुमूल्य और उत्तम द्रव्योको राजा महाराज आदि धारण करते हैं उसी तरह जानियो द्वारा कहे हुए पाच महाव्रत और छठे रात्रिभोजनविरमण व्रतको आत्मारथी पुरुष ही धारण करते हैं ।

२२—मिगचारियं चरिस्तामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।

तुब्भेहि अम्ब ! ऽणुण्णाओ, गच्छ पुत्त ! जहा सुहं ॥

उत्त० १६ : ८६

‘हे माता-पिता ! आप दोनोकी अनुज्ञा पा मे मूगचर्याका आचरण करुंगा । प्रव्रज्या सव्वं दुखोंसे मुक्त करनेवाली है ।”

माता पिता बोले : “हे पुत्र ! जाओ । यथामुख विचारो ।”

२३—एवं सो अम्मापियरं, अणुमाणित्ता ण बहुविहं ।

ममत्तं छिन्दई ताहे, महानागो व्व कंचुर्यं ॥

उत्त० १६ : ८७

इस प्रकार मातापिताको सम्मत कर वह वैरागी अनेकविध ममत्व को उसी प्रकार छोड़ता है जिस प्रकार महानाग कांचलीको छोड़ता है ।

२४—इदं वित्तं च मित्ते य, पुत्तदारं च नायओ ।
रेणुअं व पडे लग्गं, निद्धणित्ता ण निग्गओ ॥

उत्त० १६ : ८८

जैसे कपडेमें लगी हुई रेणु—रजको भाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार ऋद्धि, वित्त, मित्र, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धीजनोके मोहको छिटकाकर वह वैरागी घरसे निकल पड़ा ।

२५—पंचमहवयज्जुत्तो पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य ।
सन्निभन्तरवाहिरिए, तवोकम्ममि उज्जुओ ।

उत्त० १६ : ८९

पाच महाव्रतोसे युक्त, पाच समितियोसे समिव श्रौर तीन गुप्तियो से गुप्त वह मुनि ब्राह्म और आभ्यन्तर तप कर्ममें उद्यत हो गया ।

२ : छ महाव्रत

१—पढमे भन्ते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वं भंते पाणाइवार्यं पच्चअखामि । से सुहुमं वा वायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणे अइवाइज्जा नेव अन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा पाणे अइवार्यंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते । पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । पढमे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ।^१

द० ४ : १

हे भदन्त ! प्रथम महाव्रतमें सर्व प्राणातिपातसे विरमण करना होता है । हे भदन्त ! मैं सर्व प्राणातिपातका प्रत्याख्यान करता हूँ । सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर—जो भी प्राणी है, मैं उनकी हिंसा नहीं करूँगा, न कराऊँगा और न हिंसा करनेवालेका अनुमोदन करूँगा । त्रिविध-त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे—प्राणातिपात करनेका मूक्षे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है । हे भदन्त ! मैंने अतीतमें जो प्राणातिपात किया, उससे अलग होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपनी आत्माको उस पापसे छुडाता हूँ । हे भदन्त ! सर्व प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रतमें मैं अपनेको अवस्थित करता हूँ ।

१—मिलाइए—आचाराग सूत्र श्रु० २, २४ १०, २९-६४

२—अहावरे दुच्चे भन्ते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं, सव्वं भन्ते । मुसावार्यं पञ्चखामि से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेव सयं मुसं वइज्जा नेवऽन्नेहिं मुसं वायाविज्जा मुसं वयंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । नस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । दुच्चे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ।

द० ४ : २

हे भदन्त ! इसके बाद दूसरे महाव्रतमें मृषावाद—झूठसे विरमण करना ज्ञोरा है । हे भदन्त ! मैं सर्व मृषावादका प्रत्याख्यान करता हूँ । क्रोध से या लोभ से या भय या हँसीमें मैं स्वयं झूठ नहीं बोलूंगा, न बूलाऊंगा और न झूठ बोलनेवालेका अनुमोदन करूँगा । त्रिविध-त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूप से—मृषावादका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है । हे भदन्त ! मैं अतीतमें झूठ बोला हूँ उससे अलग होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पाप सेवन करनेवाओ आत्माका त्याग करता हूँ । हे भदन्त ! मैं सर्व मृषावादमें विरति रूप इस दूसरे महाव्रतमें अवस्थित होता हूँ ।

३—अहावरे तच्चे भन्ते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वं भन्ते ! अदिन्नादाणं पञ्चखामि, से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा वहुं वा अणु वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा अदिन्नं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं

न समणुजाणामि । तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । तच्चे भन्ते । महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ।

द० ४ : ३

इसके बाद तीसरे महाव्रतमे अदत्त—चोरीसे विरमण करना होता है । हे भदन्त ! मैं सर्व अदत्त ग्रहणका प्रत्याख्यान करता हूँ । ग्राममे या नगरमें या अरण्यमे—कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचित्त अथवा अचित्त—किसी भी अदत्त वस्तुको मैं ग्रहण नहीं करूँगा, न कराऊँगा और न अदत्त ग्रहण करनेवालेका अनुमोदन करूँगा । त्रिविध-त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे—अदत्त ग्रहणका यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है । हे भदन्त ! अतीतमे मैंने चोरी की है, उससे अलग हांता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गद्दी करता हूँ और पाप सवन करनेवाली आत्माका त्याग करता हूँ । मैं सर्व अदत्तसे विरति रूप इस तीसरे महाव्रतमे अवस्थित होता हूँ ।

४—अहावरे चउत्थे भन्ते ! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं सव्वं भन्ते ! मेहुणं पच्चस्वामि से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिप्पख जोणियं वा नेव सयं मेहुणं सेविज्जा नेवऽन्नेहिं मेहुण सेवाविज्जा मेहुणं सेवतेऽपि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेण वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण मणेण वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ; चउत्थे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ।

द० ४ : ४

हे भदन्त ! इसके बाद चौथे महाव्रतमें मंथुनसे विरमण करना होता है । हे भदन्त ! मैं सर्व मंथुनका प्रत्याख्यान करता हूँ । देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी, अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी—जो भी मंथुन है मैं उसका स्वयं सेवन नहीं करूँगा, दूसरेसे नहीं कराऊँगा और न मंथुन सेवने करनेवालाका अनुमोदन करूँगा । त्रिविध-त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे मंथुन सेवनका मझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है । हे भदन्त ! मैंने अतीतमें मंथुन सेवन किया उससे अलग होता हूँ । उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पाप सेवन करनेवाली आत्माका त्याग करता हूँ । मैं सर्व मंथुनसे विरति रूप इस चौथे महाव्रतमें अपनेको उपस्थित करता हूँ ।

५—अहावरे पञ्चमे भन्ते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वं भन्ते ! परिग्गहं पञ्चअखामि से अप्पं वा बहुं वा अपुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं परिग्गहं परिग्गिण्हज्जा नेवऽन्नेहिं परिग्गहं परिग्गिण्हविज्जा परिग्गहं परिग्गिण्हं तेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि । पञ्चमे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ।

द० ४ : ५

हे भदन्त ! इसके बाद पाचवें महाव्रतमें परिग्रहसे विरमण करना पड़ता है । हे भदन्त ! मैं सर्व प्रकारके परिग्रहका प्रत्याख्यान करता हूँ । अल्प अथवा बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचित्त अथवा अचित्त—जो भी परिग्रह है मैं उसका ग्रहण नहीं करूँगा, दूसरेसे नहीं कराऊँगा

और न परिग्रह ग्रहण करनेवालेका अनुमोदन करूँगा । त्रिविध त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे परिग्रह ग्रहणका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है । हे भदन्त ! मैंने अतीतमें परिग्रह सेवन किया उससे अलग होता हूँ । उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पाप सेवन करनेवाली आत्माका व्युत्सर्ग करता हूँ । मैं सर्व परिग्रहसे विरति हूँ । इस पाचत्रे महाव्रतमे अपने को उपस्थित करता हूँ ।

६—अहावरे छट्टे भन्ते ! वए राइभोयणाओ वेरमणं, मव्वं भन्ते ! राइभोयणं पच्चक्खामि से असणं वा पाणं वा खामं वा साइमं वा नेव सयं राइं भुंजिज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा राइं भुंजन्तेऽत्रि अन्ते न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भन्ते ! पडिक्कनामि निंदामि गरिहामि आप्पाणं वोसिरामि । छट्टे भन्ते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइ-भोयणाओ वेरमणं ।

इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणछट्टाइं अत्तहिय-
द्वयाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । द० ४ : ६

हे भदन्त ! इसके बाद छट्टे व्रतमे रात्रि भोजनसे विरमण करना होता है । हे भदन्त ! मैं सर्वरात्रि-भोजनका प्रत्याख्यान करता हूँ । अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य—जो भी वस्तुएँ हैं मैं उनका स्वयं रात्रिमें भोजन नहीं करूँगा, न दूसरोंसे कराऊँगा और न रात्रिमें भोजन करने वालोंका अनुमोदन करूँगा । त्रिविध—त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे रात्रिभाजनका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान—त्याग है । हे भदन्त ! मैंने अतीतमें

रात्रिभोजन किया उससे अलग होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पाप सेवन करनेवाली आत्माका त्याग करता हूँ। मैं सर्व रात्रि भोजनसे विरति रूप इस छट्टे व्रतमें अपनेको उपस्थित करता हूँ।

पूर्वोक्त पाच महाव्रत और छट्टे इस रात्रि भोजन विरमण व्रतको आत्महितके लिए ग्रहण कर मैं समयमें विचरण करता हूँ।

३ : आठ प्रवचन माताएँ

१—अट्ट पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य ।
पचेव य समिईओ, तओ गुत्तीव आहिआ ॥

उत्त० २४ : १

समिति और गुप्ति रूप आठ प्रवचन माताएँ कही गई हैं ।
समिति पाच है और गुप्तिया तीन ।

२—इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्टमा ॥

उत्त० २४ : २

ईर्वासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानसमिति और
उच्चारसमिति तथा मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति—ये
आठ प्रवचन माताएँ हैं ।

३—एयाओ अट्ट समिईओ, समासेण वियाहिया ।
दुवालसंगं जिणम्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं ॥

उत्त० २४ : ३

नीचे इन आठ—५ समितियों और ३ गुप्तियोंका संक्षेपसे वर्णन
क्रिया गया है । जिन भाषित द्वादशांग रूप प्रवचन इन्हींके अन्दर
समाया हुआ है ।

(१) ईर्या समिति

४—तत्थ आलम्बणं नाणं, दंसणं चरणं तथा ।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे अप्पह वज्जिए ॥

उत्त० २४ : ५

ज्ञान, दर्शन और चरण—ये ईर्याके हेतु हैं । ईर्याका काल दिन
है गया है । ईर्याका मार्ग—उत्पथवर्जन—सुपथ है ।

५—दब्बओ चप्पलुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ ।
कालओ जाव रीइज्जा, उवउत्ते य भावओ ॥

उत्त० २४ : ७

द्रव्यसे—आखोंसे देखकर चले । क्षेत्रसे—युग—चार हाथ प्रमाण
मार्गको देखकर चले । कालसे—जब तक चलता रहे यत्न रखे ।
भावसे—सदा उपयोग पूर्वक चले ।

६—इन्द्रियत्थे विवज्जित्ता, सज्झार्यं चैव पञ्चहा ।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते रियं रिए ॥

उत्त० २४ : ८

इन्द्रियोंके विषयो और पाच प्रकारके स्वाध्यायको छोड़, चलनेमें
ही तन्मय हो और उसीको सम्मुख रख—प्रधान कर मार्गमें उपयोग-
पूर्वक चले ।

(२) भाषा समिति

८—कोहे माणे य मायाए, लोभे य उवउत्तया ।
हासे भए मोहरिए, विकहासु तहेव य ॥

उत्त० २४ : ६

क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्य, भय, मुखरता और विक्रिया
वाणोमे ये दोष न आय इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए ।

६—एयाइ' अट्ट ठाणाइ', परिवज्जित्तु संजए ।

असावज्जं भिर्यं काले, भासं भासिज्ज पन्नवं ॥

उत्त० २४ : १०

प्रज्ञावान् सयमी इन आठ स्थानोका वर्जन करता हुआ यथासमय
परिमित और असावद्य भाषा बोले ।

१०—तहेव सावज्जणुमोअणी गिरा,ओहारिणी जा य परोवघाइणी ।

से कोह लोह भय हास माणवो, न हासमाणो वि गिरं वइज्जा ।

द० ७ : ५४

जो भाषा सावद्य—भाषकार्यकी अनुमोदना करनेवाली हो, जो
निश्चयात्मक हो, जो परकी घात करनेवाली हो, ऐसी भाषा मुनि क्रोध
से, लोभसे, भयसे या हास्य परिहस्यसे न बोले ।

११—सुवक्खुद्धिं समुपेहिया मुणी, गिर चं दुट्ठं परिवज्जए सया ।

मिअं अदुट्ठं अणुवीइ भासए, सयाण मज्जे लहई पसंसणं ॥

द० ७ : ५५

जो मुनि सुवाक्यशुद्धिकी आलोचना कर दुष्ट गिराको सदाके लिए
छोड़ देता है और जो विचार कर मित्त और अदुष्ट भाषा बोलता है
वह सत्पुरुषोमे प्रशंसा प्राप्त करता है ।

१२—भासाइ दोसे य गुणे य जाणिया, तीसे अदुट्ठे परिवज्जए सया ।

छसु संजए सामणिए सया जए, वइज्ज वुट्ठे हियमाणुलोमियं ॥

द० ७ : ५६

पट्कायके जीवोके प्रति सयत तथा श्रामण्यमे सदा यत्नशील बुद्ध
पुरुष भाषाके गूण और दोषोको भली भाँति जानकर दुष्ट भाषाको
सदाके लिए छोड़ दे और हितकारी तथा सुमधुर भाषा बोले ।

(३) एषणा समिति

१३—जाइं चत्तारिऽभुज्जाइं, इसिणाऽऽहारमाइणि ।

ताइं तु विवज्जंतो, संजमं अणुपालए ॥

द० ६ : ४७

जो आहारादि चार पदार्थ मुनियोके लिए अवल्पनीय—अभोग्य है उन सबका निश्चयपूर्वक त्याग करता हुआ साधु समयका यथाविधि पालन करे ।

१४—पिंडं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव च ।

अकपियं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कपियं ॥

द० ६ : ४८

पिण्ड-आहार, शय्या, वस्त्र और पात्र ये चार पदार्थ अकल्पनाय हो तो साधु उन्हें ग्रहण न करे और कल्पनीय हो तो ग्रहण करे ।

१५—जे नियागं ममायंति कीयमुहेसियाहडं ।

वहं ते समणुजाणंति इइ वुत्तं महेसिणा ॥

द० ६ : ४९

जो साधु नित्य आमन्त्रित आहार, साधुके लिए सोल लिया हुआ आहार, उसके लिए बनाया हुआ—औद्देशिक आहार तथा सम्मुख लाया हुआ आहार ग्रहण करते हैं वे प्राणी-वधकी अनुमोदन करते हैं, ऐसा महर्षिने कहा है ।

१६—तम्हा असणपाणाइं कीयमुहेसियाहडं ।

वज्जयंति ठिअप्पाणो, निर्गंथा धम्मजीविणो ॥

द० ६ : ५०

इसलिए जो स्थिर तमा धर्मजीवी निर्द्वन्द्व्य है वे ऋत-कृत, औद्देशिक

और आहत अशन पानादि पदार्थोंका हमेशा वर्जन करते है—उन्हे कभी भी ग्रहण नहीं करते ।

(४) आदान समिति

१७—ध्रुवं च पडिलेहिज्जा, जोगसा पायकंबलं ।

सिज्जमुच्चारभूमिं च, संथारं अदुवाऽऽसणं ॥

द० ८ : १७

साधको नित्य प्रति यथाकाल वस्त्र, पात्र, शय्या, वासस्थान, उच्चार भूमि, सस्तारक और आसन आदिकी सावधानी पूर्वक प्रनि लेखना करनी चाहिए ।

१८—पुढवी आउक्काए तेऊ वाऊ वणस्सइ तसाणं ।

पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहो होइ ॥

उत्त० २६ : २०

प्रतिलेखनामे प्रमाद करनेवाला पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायु-काय, वनस्पतिकाय और व्रसकाय इन छओका ही विराधक होता है ।

१९—पुढवी आउक्काए तेऊ वाऊ वणस्सइ तसाणं ।

पडिलेहणाआउत्तो छण्हं संरक्खओ होइ ॥

उत्त० २६ : ३१

प्रतिलेखनामें जो प्रमादी नहीं होता वह साधु पृथ्वीकाय आदि छहोका ही सरक्षक होता है ।

२०—चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई ।

आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओवि समिए सया ॥

उत्त० २४ : १४

यतनादाल, साधु आखोसे देखकर दोनो प्रकारकी उपधिका

प्रमार्जन करे तथा उपविके उठाने और धरनेमें सदा समिति—चीकसी वाला हो ।

२१—संधारं फलंगं पीढं, निसिज्जं पायकम्बलं ।

अप्पमज्जियमारुहइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

उत्त० १७ : ७

सस्तारक, फलक, पीठ, पादपुच्छन और स्वाध्यायभूमि—इन पर जो विना प्रमार्जन किए बैठता है, वह पापी श्रमण कहा जाता है ।

२२—पडिलेहेइ पमत्ते अघउज्झइ पायकम्बलं ।

पडिलेहणाअणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

उत्त० १७ : ६

जो प्रमादपूर्वक प्रतिलेखना करता है, जो पात्र और कम्बल जहाँ तहा रख देता है—इस तरह प्रतिलेखनामें जिसका विलकुल उपयोग नहीं वह पापी श्रमण कहलाता है ।

(५) उत्सर्ग समिति

२३—उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाणजल्लियं ।

आहारं उवहि देहं, अन्नं वावि तहाविहं ॥

अणावायमसंलोए, परस्सऽणुवघाइए ।

समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकालकयस्मि य ॥

विच्छिण्णं दूरमोगाढे, नासन्ने विलवज्जिए ।

तसपाणबीयरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे ॥

उत्त० २४ : १५, १७, १८

तीर्थंकर वर्द्धमान

मल, मूत्र, खंखार, नासिका का मल, शरीरका मैल, आहार, उपधि, देह—शव तथा और इसी प्रकारके फँकने योग्य अन्य पदार्थ जहां न कोई आता हो, न कोई देखता हो, दूसरे जीवोंकी घात न होती हो, जो समभूमि हो, जो तृण पत्रादिसे अनाच्छादित हो तथा कुछ कालसे अचित्त हो, जो स्थान विस्तृत हो, काफी नीचे तक अचित्त हो, ग्रामादिके अति समीप न हो, मूषकादिके बिल तथा अस प्राणी और बीजोंसे रहित हो—ऐसे ही स्थानको प्रमाजित कर वहा विसर्जित करने चाहिए ।

(६) मन गुप्ति

२४—संरम्भसमारम्भे, आरम्भस्मि य तहेव य ।

मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥

उत्त० २४ : २१

यतनावाला यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भमें प्रवृत्त होते हुए मनको निवृत्त करे—हटावे ।

(७) वचन गुप्ति

२५—संरम्भसमारम्भे, आरम्भस्मि य तहेव य ।

वयं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥

उत्त० २४ : २३

यतनावाला यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भमें प्रवृत्त होते हुए वचनको निवृत्त करे—हटावे ।

(८) काय गुप्ति

२६—ठाणे निसीयणं चेष, तहेव य तुयट्टणे ।

उल्लंघणपल्लंघणे , इन्द्रियाण य जुंजणे ॥

संरम्भसमारम्भे , आरम्भन्मि तहेव य ।
 कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥

उत्त० २४ : २४, २५

यतनावाला यति स्थानके विषयमें, बैठनेके विषयमें, शयनके विषयमें, उल्लघन प्रलघनके विषयमें तथा इन्द्रियोंके प्रयोगमें कायाको समयमें रखे तथा सरम्भ, समारम्भ, और आरम्भमें प्रवृत्त होती हुई कायाको निवृत्त करे—हटावे ।

२७—एयाओ पञ्च समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।
 गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभन्त्थेसु सव्वसो ॥

उत्त० २४ : २६

ये पाचो समितिया चरित्रकी प्रवृत्तिके विषयमें कही गई हैं और तीनों गुप्तिया सर्व प्रकारके अशुभ अर्थोंसे—मनोयोगादिसे निवृत्तिके विषयमें कही गई हैं ।

२८—एयाओ पवयणमाया, जे सम्म आयरे मुणी ।
 से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥

उत्त० २४ : २७

जो मुनि इन प्रवचन माताओंका सम्यक् भावसे आचरण करता है, वह पण्डित सब ससारचक्रसे शीघ्र छुट जाता है ।

४ : अखण्ड नियम

सखुङ्गवियत्तार्णं, वाहियाणं च जे गुणा ।
अखंडफुडिया कायव्वा, तं सुणेह जहा तथा ॥

द० ६ : ६

जो गुण बालक, युवक एव वृद्ध, स्वस्थ एव अस्वस्थ मवको,
अखंड रूपसे पालन करने चाहिए, उनका जैसा स्वरूप है, वह सुनो ।

(१) छ कायके जीवोकी हिंसाका वर्जन

१—पुढविकायं न विहिंसन्ति, मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया ॥

द० ६ : २७, ३०, ४१, ४४

सुसमाधिवत साधु मन, वचन और काया रूप तीन योगोसे और
कृत्, कारित और अनुमोदना रूप तीन करणसे पृथ्वीकाय, अप्काय,
अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकायकी हिंसा नहीं करते,
दूसरोसे नहीं करवाते और न करनेवालोकी अनुमोदना करते हैं ।

पुढविकायं विहिंसन्तो, हिंसई उ तयस्सिए ।

तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

द० ६ : २८, ३१, ४२

पृथ्वीकायादि जीवोकी हिंसा करता हुआ प्राणी उन प्रत्येकके

आश्रयमें रहे हुए चक्षुओ द्वारा दिखाई देनेवाले या नहीं दिखाई देनेवाले अनेक प्रकारके त्रस और स्थावर प्राणियोकी हिंसा करता है ।

तस्मा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्डणं ।

पुढविकाय समारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥

द० ६ : २६, ३२, ३६, ४०, ४३, ४६

इसलिए दुर्गति रूप दोषको बढ़ानेवाली इन हिंसाओको जानकर मुमुक्षु यावज्जीवनके लिए पृथ्वीकायादि जीवोके समारम्भको टाले ।

२—पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिन्दे न संलिहे ।

तिविहेण करण जोएण, संजए सुसमाहिए' ॥

द० ८ : ४

सुसमाधिवत सयमी, सचित्त पृथ्वी, भीत, शिला, या मिट्टीके ढंकेको तीन करण तीन योगसे न भेदे और न घिसे ।

सुद्ध पुढवी न निसीए, ससरक्खम्मि य आसणे ।

पमज्जित्तु निसीइज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥

द० ८ : ५

शास्त्रसे अपरिणत—सचित्त पृथ्वी पर और सचित्त रजसे भरे हुए आसनादि पर मुनि न बैठे । अचित्त भूमि हो तो मुनि स्वामीकी श्राद्ध लेकर रजोहरणसे पूज कर बैठे ।

३—सीओदगं न सेविज्जा, सिलाबुद्धं हिमाणि य ।

सिणोदगं तत्तफासुयं, पडिगाहिज्ज संजए' ॥

द० ८ : ६

१—इस गायत्राके भावोके विस्तारके लिए देखिए दस० अ० ४ : ७

२—इस गायत्राके भावोके विस्तारके लिए देखिए दस० अ० ४ : ८

साधु, नदी, कुएँ, तालाबादिके सचित्त जल, झोले, बरसातके जल और बर्फ—इन सबका सेवन न करे किन्तु तप्त प्रासुक उष्ण जलको ग्रहण करे ।

उदुल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे ।

समुप्पेह तहाभूयं, नो णं संघट्टए मुणी' ॥ ६० ८ : ७

अपना शरीर कदाचित् जलसे भीग जाय तो मुनि अपने शरीरको न पोछे और न मले किन्तु अपनेको भीगा देख अपने शरीरका स्पर्श भी न करे ।

४—जायतेर्यं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए ।

तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं ॥

६० ६ : ३३

साधु अग्निको सुलगानेकी कभी भी इच्छा नहीं करता । यह बड़ा ही पापकारी शस्त्र है । यह लोहके अस्त्रशस्त्रोकी अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण है और सब ओरसे दहन करनेवाला है ।

भूयाणमेसमाघाओ, हव्ववाहो न संसओ ।

तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि नारभे ॥

६० ६ : ३५

यह अग्नि प्राणियोके लिए घात स्वरूप है—इसमें जरा भी सदेह नहीं । इसलिए सयमी मुनि प्रकाश व शीत निवारण आदिके लिए किंचित् मात्र भी अग्निका आरम्भ न करे ।

इंगालं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजोइयं ।

न उंजिज्जा न घट्टिजा, नो णं निव्वावए मुणी ॥

६० ८ : ८

१—इस गाथाके भावोके विस्तारके लिए देखिए—दस० अ० ४ . ९

मुनि, अंगारको, अग्निको, ज्वालाको या ज्योति सहित अघजले काठको न जलावे, न सघटा करे और न बुभावे ।

५—अणिलस्स समारंभं, बुद्धा मन्नंति तारिसं ।

सावज्ज बहुलं चयेयं, नेयं ताईहिं सेवियं ॥

द० ६ : ३७

बुद्ध पुरुष वायुकायके समारम्भको अग्निके जैसा ही अत्यन्त पा रकारी मानते है अन. छ. कायके रक्षक मुनि वायुकायका समारम्भ न करे ।

तालियंटेण पत्तेण, साहाविहुयणेण वा ।

न ते वीइउमिच्छंति, वीयावेऊण वा परं' ॥

द० ६ : ३८

छ कायके त्रायी मुनि ताड वृक्षके पखेसे, पत्तोसे, अथवा शाखासे वह अन्य वस्तुको हिलाकर अपने शरीरको हवा पहुँचानेकी इच्छा नहीं करते और न दूसरेसे हवा करवाना चाहते है । मुनि अपने शरीर पर हवा न करे और न अन्य पदार्थों पर (गर्म दूधादिको ठडा करनेके लिए) हवा करे ।

६—तणरुक्खं न ख्खिदिज्जा, फलं मूलं च कस्सइ ।

आमगं विविहं वीयं, मणसा वि न पत्थए' ॥

द० ८ : १०

साधु, तृण-घास-वृक्षादि तथा किसी वृक्षादिके फल और मूलको न काटे तथा नाना प्रकारके सचित्त बीजोके भेदनकी मनसे भी इच्छा न करे ।

१—इस गाथाके भावके विस्तारके लिए देखिए—दस० अ० ४ . १०

२—द० ८ ९

गहणेसु न चिद्विज्ञा, वीणसु हरिसु वा ।
उदगम्मि तथा निच्चं, उत्तिगपणगेसु वा' ॥

द० ८ : ११

वृक्षोके कुजमे, एव गहन वनमें, बीजो पर अथवा दूब आदि हरितकाय पर, तथा उदक पर, सर्पच्छत्रा पर तथा पनक एव लीलन-फूलन पर साधु कभी भी खड़ा न रहे ।

७—अट्ट सुहुमाइं पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए ।
दयाहिगारी भूणसु, आस चिद्व सएहि वा' ॥

द० ८ : १३

सयमी मुनि आठ प्रकारके सूक्ष्म जीवोको जाननेसे सर्व जीवोके प्रति दया—अहिंसाका अधिकारी होता है । इन जीवोको भलीभांति देख कर मुनि बैठे, खड़ा हो और सोवे ।

सिणेहं पुप्फसुहुमं च, याणुत्तिगं तहेव य ।
पणगं वीयहरियं च, अंडसुहुमं च अट्टमं ॥

द० ८ : १५

स्नेह—ओस, बर्फ, घुमर आदि, सूक्ष्म पुष्प, सूक्ष्म प्राणी, कीडी-नगरा; पनग—लीनफूलन; बीज, हरितकाय और सूक्ष्म अण्डे—ये आठ प्रकारके सूक्ष्म जीव हैं ।

एवमेयाणि जाणित्ता, सव्वभावेण संजए ।
अप्पमत्तो जए निच्चं, सन्विदिय समाहिए ॥

द० ८ : १६

सावु इस प्रकार पूर्वोक्त आठ प्रकारके सूक्ष्म जीवोको जानकर

२—इन गाथाओके भावके विस्तारके लिए देखिए—इस० अ० ४ : ११

१—इस गाथाके भावविस्तारके लिए देखिए—इस० अ० ४ : १२

सर्व इन्द्रियोका दमन करता हुआ एवं प्रमादरहित होकर हमेशा सर्व भावोंसे—तीन कारण तीन योगसे—इनकी यतनामें सावधान रहे ।

८—तसे पाणे न हिंसिजा, वाया अद्रुव कम्मुणा ।

उवरओ सन्वभूएसु, पासेज्ज विविहं जगं ॥

द० ८ : १२

मुनि, मन, वचन और कायासे त्रस प्राणियोंकी हिंसा न करे । वह सारे जगत्को—सर्व प्राणियोंको—आत्मवत् देखता हुआ सर्व भूतोंकी हिंसासे विरत हो ।

९—इच्चेयं छज्जीवणियं, सम्मदिट्ठी सया जए ।

दुल्लहं ल्हित्तु सामणं, कम्मुणा न विराहिज्जासि ॥

द० ४ : २६

दुर्लभ श्रमणभावको प्राप्त करके समदृष्टि और सदा यत्नसे प्रवृत्ति करनेवाले मुनि इन षट् जीव-निकायके जीवोंकी मन, वचन और काया से कभी भी विराघना न करे ।

(२) गृहस्थके वर्तनोंका वर्जन .

१—कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो ।

भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ ॥

द० ६ : ५१

जो मुनि गृहस्थ की कासी आदिकी कटोरीमें, कासी आदिकी थालीमें तथा मिट्टीके कुड्डेमें, अशनपान आदिका भोजन करता है, वह अपने आचारसे सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है ।

२—सीओदगसमारंभे, मत्तधोअणछड्डणे ।

जाइं छनंति भूयाइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥

द० ६ : ५२

गृहस्थ वर्तनीको धोते हैं जिसमें सचित्त जलका आरम्भ होता है। वर्तनीके धोनेके जलको यत्रतत्र गिरानेसे बहुतेसे जीवोकी हिंसा होती है। इससे गृहस्थके वर्तनीमें भोजन करनेमें ज्ञानियोने स्पष्टतः असंयम देखा है।

३—पच्छाकर्मं पुरेकर्मं, सिया तत्थ न कप्पइ।

एयमट्ठं न भुंजति, निर्गथा गिहिभायणे ॥

द० द् : ५३

गृहस्थके वर्तनमें भोजन करनेसे पश्चात्कर्म और पुर.कर्म दोष लगनेकी संभावना रहती है अतः साधुको यह नहीं कल्पता। इसलिए निर्ग्रथ मुनि गृहस्थके भाजनोमें भोजन नहीं करते।

(३) पलंगादिका वर्जन :

१—आसंदी पलिअंकेसु, मंचमासालप्सु वा।

अणायरियमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा ॥

नासंदी पलिअंकेसु, न निसिज्जा न पीढए।

निगंथाऽपडिलेहाए, बुद्धवुत्तमहिद्दगा ॥

द० द् : ५४, ५५

कुर्सी और पलंग अथवा खाट और आरामकुर्सी आदिपर बैठना अथवा सोना आर्यो—साधुओंके लिए अनाचार है अतः सर्वज्ञोंके बचनोको माननेवाले निर्ग्रथ, कुर्सी, पलंग, रुईकी गद्दीवाले आसन और पीढ़े पर न बैठे और न सोवे क्योंकि इनका प्रतिलेखन होना कठिन है।

२—गंभीर विजया ए ए, पाणा दुप्पडिलेहगा।

आसंदी पलिअंको च, एयमट्ठं विवज्जिया ॥

द० द् : ५६

कुर्सी, पलंग आदिमें उ डे छिद्र होते हैं अतः प्राणियोंकी प्रति-

लेखना होना कठिन है । अतः मुनियोको ये सब विवर्जित है ।

(४) गृहस्थके घरमें बैठनेका वर्जन .

१—विवृत्ती वंभचेरस्स, पाणाणं च वहे वहो ।
वणीमगपडिग्घाओ, पडिकोहो अगारिणं ॥

द० द् : ५८

गृहस्थके घर बैठनेसे साधुके ब्रह्मचर्यके नाश होनेको तथा प्राणियों के वध होनेसे समयके दूषित होनेकी सम्भावना रहती है । कोई भिखारी भिक्षाके लिए आवे तो उसकी भिक्षामें अन्तराय होनेकी सम्भावना होती है तथा गृहस्थ भी कृत्र हो सकता है ।

२—अगुत्ती वंभचेरस्स, इत्थीओ वावि संकणं ।
कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥

द० द् : ५९

गृहस्थके घर बैठनेसे साधुके ब्रह्मचर्यकी रक्षा नहीं हो सकती । स्त्रियोंके विशेष ससर्गसे ब्रह्मचर्य ब्रतमें शका उत्पन्न हो सकती है । अतः कुशीलकी वृद्धि करनेजाले इस स्थानको साधु दूरसे ही विवर्जित करे ।

(५) स्नानका वर्जन

१—वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए ।
वुक्कंतो होइ आयारो, जढो ह्वइ संयमो ॥

द० द् : ६१

चाहे रोगी हो अथवा निरोगी, जो साधु स्नान करनेकी इच्छा करता है वह निश्चय ही आचारसे भ्रष्ट हो जाता है और उसका समय मलीन हो जाता है ।

२—संतिमे सुहृमा पाणा, घसासु भिलगासु य ।

जे य भिक्खू सिणार्यंतो, वियडेणुप्पलावए ॥

द० ६ : ६२

खारवाली पोली भूमि और फटी हुई दरारोवाली भूमिमें सूक्ष्म प्राणी होते हैं । साधु यदि विकृत—प्रासुक जलसे भी स्नान करे तो भी उन सूक्ष्म जीवोंके उत्प्लानसे—जलकी धारमें वह जानेसे हिंसा हुए बिना नहीं रहेगी ।

३—तम्हा ते न सिणार्यंति, सीएण उसिणेण वा ।

जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्टगा ॥

द० ६ : ६३

अतः शुद्ध समयका पालन करनेवाले साधु ठंडे जलसे अथवा गरम जलसे कभी भी स्नान नहीं करते और जीवन पर्यन्त अस्नान नामक अति कठिन व्रतका पालन करते हैं ।

(६) विभूषाका वर्जन

१—सिणाणं अट्टुवा कक्कं, लोद्धं पडमगाणि य ।

गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइ वि ॥

द० ६ : ६४

सयमी पुरुष, चन्दन लोध्र, कुकुम, केसर आदि सुगन्धित पदार्थों का अपने शरीरके उवटनके लिए कदापि सेवन नहीं करते और न स्नान करते हैं ।

२—विभूसा वत्तिर्यं भिक्खू, कम्मं वंधइ चिक्कणं ।

संसारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥

द० ६ : ६६

विभूषाप्रिय साधुको चीकने कर्मोंका बधन होता है, जिससे वह

इस दुस्तर घोर संसार-सागरमें गिरता है ।

३—विभूसावत्तियं चैर्यं, बुद्धा मन्न्ति तारिसं ।
सावज्जवहुलं चैर्यं, नेर्यं तार्हिं सेविर्यं ॥

द० ६ : ६७

ज्ञानी पुरुष शरीरकी विभूषा चाहनेवाले मनको चीकने कर्मबंधका कारण और बहुत पापोकी उत्पत्तिका हेतु मानते है इसलिए छः कायके जीवोके वाता मुनियोको शरीर विभूषाका सेवन नही करना चाहिए ।

(६) मद्यपानका वर्जन

१—सुरं वा मेरगं वावि, अन्नं वा मज्जगं रसं ।
ससक्खं न पिवे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पव्भे ॥

द० ५१२ : ३६

अपने सयमरूपी निर्मल यशकी रक्षा करनेवाला भिक्षु, आत्म-साक्षीपूर्वक सुरा, मदिरा तथा मद उत्पन्न करनेवाले अन्य किसी भी रसको न पीवे ।

२—पियए एगओ तेणो, न मे कोइ वियाणइ ।
तस्स पस्सह दोसाइं, नियडि च सुणेह मे ॥

द० ५१२ : ३७

मुझे कोई भी नही देखता है—ऐसा मानकर जो भगवान्की आज्ञाका लोप करनेवाला चोर साधु एकान्त स्थानमें—छुक छिपकर मदिरा पीता है, उसके दोषोको देखो और मैं उसके मायाचारका वर्णन करता हूँ सो सुनो ।

३—धड्ढई सुंडिया तस्स, माया मोसं च भिक्खुणो ।
अयसो थ अनिक्खाणं, सययं च असाहुया ॥

द० ५१२ : ३८

मदिरा पान करनेवाले साधुके आसक्ति, माया, झूठ, गपयश और अतृप्ति आदि दोष बढ़ते ही रहते हैं । उसकी असाधुता सतत् बढ़ती रहती है ।

४—निच्छुब्धिगो जहा तेणो, अत्त कम्महेहिं दुम्मई ।

तारिसो मरणंते वि, न आराहेइ संवरं ॥

द० ५।२ : ३६

जैसे चोर अपने कृकर्मोंसे नित्य उद्विग्न रहता है, उसी तरह मद्य पीनेवाला दुर्बुद्धि साधु सदा व्याकुल रहता है । ऐसा साधु मरणात्के समय भी सवर—चारित्र्यकी आराधना नहीं कर सकता ।

५—आयरिए नाराहेइ, समुणे आवि तारिसो ।

गिहत्था वि ण गरिहंति, जेग जाणंति तारिसं ॥

द० ५।२ : ४०

विचार मूढ़ मदिरा पीनेवाला साधु न तो आचार्योंकी आराधना कर सकता है और न साधुओंकी । जब गृहस्थ लोग मदिरापानके दुर्गुणको जान लेते हैं तो वे भी उसकी निंदा करते हैं ।

६—तवं कुव्यड मेहावी, पणीय वज्जए रसं ।

मज्जप्पमायविरओ, तन्नस्सी अइउद्धसो ॥

द० ५।२ : ४२

मेहावी साधु स्निग्ध रसोंको छोटकर तप करता है । वह मद्य और प्रमादसे विरत निराश्रितानी तपस्वी होता है ।

५ : अनगार

१-मणोहरं चित्तघरं, मल्लधूवेण वासिथं ।
सकवाडं पंडुरुल्लोयं, मणसाऽवि न पत्थए ॥

उत्त० ३५ : ४

अनगार, मनोहर, माल्य और धूप द्वारा वासित, कपाट सहित, उज्ज्वल चदवेवाले तथा चित्रवाले घरकी मनसे भी इच्छा न करे ।

२-इ'दियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्सए ।
दुक्कराड' निवारेउं, कामरागविवद्धणे ॥

उत्त० ३५ : ५

क्योकि वैसे कामरागकी वृद्धि करनेवाले उपाश्रयमे वसनेसे साधु के लिए विषयकी ओर जाती हुई इन्द्रियोका निवारण करना दुष्कर हो जाता है ।

३-सुसाणे सुन्नगारे वा, सधम्मूले वा एगगो ।
पइरिषके परकडे वा, वासं तत्थाभिरोयए ॥

उत्त० ३५ : ६

अनगार, स्मशानमें, हून्य घरमें, वृक्षके नीचे अथवा (गृहस्थने निजके लिए बनाया हो, ऐसे) परकृत एकान्त स्थानमें अकेला निवास करना पसन्द करे ॥

४—फासुयम्मि अणावाहे, इत्थीहिं अणुभिद्दुए ।

तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परमसंजए ॥

उत्त० ३५ : ७

परम सयमी अनगार, प्रासुक, किसीको पीड़ा न हो ऐसे स्त्रियो द्वारा अनुपद्रवित उपरोक्त स्मशानादि स्थानोंमें वास करे ।

५—न सयं गिहाइं कुब्बिज्जा, नेव अन्नेहिं कारए ।

गिहकम्मसमारंभे , भूयाणं दिस्सए वहो ॥

उत्त० ३५ : ८

अनगार स्वय गृहादि न बनावे, दूसरोसे गृहादि न बनवावे और गृहादि बनाते हुएका अनुमोदन न करे । गृहकार्यके समारम्भमें अनेक प्राणियोंका बध प्रत्यक्ष दिखाई देता है ।

६—तसाणं थावराणं च, सुहुमाण वायराण य ।

गिहकम्मसमारंभं , संजओ परिवज्जए ॥

उत्त० ३५ : ९

गृहादि बनानेमें त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और वादर जीवोंका बध होता है इससे सयमी अनगार गृहकार्य समारम्भका परिवर्जन करे ।

६ : विनय-समाधि

१—सुस्तूसमाणो उवासेज्जा सुप्पन्नं सुतवस्सियं ।

वीरा जे अत्तपन्नेसी धिइमन्ता जिइन्दिया ॥

सू० १, ६ : ३३

मुष्क पुरुष, प्रज्ञावान, तपस्वी, पुरुषार्थी, आत्माज्ञानी, घृतिमान और जितेन्द्रिय गुरुकी शुश्रूषापूर्वक उपासना—सेवा करे ।

२—जहाहियग्गी जलणं नमंसे, नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं ।

एवायरियं उवचिद्वएज्जा, अणंतनाणोवगओऽवि संतो ॥

द० ६।१ : ११,

अग्निहोत्री ब्राह्मण जिस तरह नाना प्रकारकी आहुतियो और यज्ञो से अभिषिक्त अग्निको नमस्कार करता है उसी तरह अनन्त ज्ञानी होने पर भी शिष्य गुरुकी विनय पूर्वक सेवा करे ।

३—जस्संनिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।

सक्कारए सिरसा पंजल्लीओ, कायगिरा भो मणसा य निच्चं ॥

द० ६।१ : १२

जिसके पास धर्म-पद सीखे हो उसके प्रति विनय भाव रखेंना चाहिए तथा हमेशा सिर नमा, हाथ जोड़, मन-वचन कायासे उसका सत्कार करना चाहिए ।

४—मणोगयं वक्त्रायं, जाणित्तायिरियस्स उ ।
तं परिगिञ्ज्म वायाए, कम्मुणा उववायए' ॥

उत्त० १ : ४३

भाष्यके मन, वचन (और काया) गत भावोको समझ कर,
वचन द्वारा उन्हें स्वीकार कर शरीर द्वारा उन्हें पूरा करना चाहिए ।

५—वित्ते अचोइए निच्चं, खिण्णं हवइ सुचोइए ।
अहोवइइ' सुकयं, किञ्चाइं कुण्वई सया ॥

उत्त० १ : ४४

विनयशील शिष्य बिना प्रेरणा किया हुआ नित्य प्रेरणा किए हुए
की तरह शीघ्र कार्यकारी होता है और गुरुके उपदेशके अनुसार ही
सदा कार्योको अच्छी तरह करता है ।

६—मा गलियस्सु व कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो ।
कसं व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए ॥

उत्त० १ : १२

जैसे दुष्ट घोडा बार बार चाबुककी अपेक्षा रखता है वैसे विनीत
शिष्य बार बार अनुशासनकी अपेक्षा न रखे । जैसे विनीत घोडा
चाबुकको देखकर ही सुमार्ग पर आ जाता है, उसी प्रकार विनयवान
शिष्य गुरुजनोकी दृष्टि आदिको देखकर ही दुष्ट मार्गको छोड दे ।

७—आलवन्ते लवन्ते वा, न निसीएज्ज कयाइवि ।
चइऊणमासणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे' ॥

उत्त० १ : २१

गुरु एक बार बुलावे अथवा बार बार शिष्य कदाचित् भी बैठे

न रहे किन्तु शीर शिष्य आसन छोड़कर गुरुके साथ गुरुके वचन को सुने ।

८—आयरिर्एहि वाहितो, तुसिणीओ न कयाइवि ।

पसायपेही नियागट्टी, उवचिह्ने गुरु सया ॥

उत्त० १ : २०;

आचार्योंके द्वारा बुलाया हुआ शिष्य कदाचित् भी मौनका अवलम्बन न करे किन्तु गुरु कृपा और मोक्षकी अभिलाषा वाला शिष्य सदा उनके समीप ही रहे ।

९—आसणगओ न पुच्छेज्जा, नेव सेज्जागओ कया ।

आगम्मुपकुडुओ सन्तो, पुच्छिज्जा पंजलीउडो ॥

उत्त० १ : २२

आसन पर बैठा हुआ कदाचित् भी न पूछे तथा शय्या पर बैठा हुआ भी कभी न पूछे । समीप आ, उत्कटक आसनमें ही बद्धांजलि पूर्वक जो पूछना हो सो पूछे ।

१०—न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ ।

न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे नो पडिस्सुणे ॥

उत्त० १ : १८

आचार्योंके बराबर न बैठे, आगे न बैठे, उनकी ओर झीठ करके न बैठे, उनके गोड़ेके साथ गोड़ा जोड़ कर न बैठे और शय्यामें पड़ा पड़ा ही उनके वचनको न सुने ।

११—नेव पत्तहत्थियं कुज्जा, पक्खपिण्डं व संजए ।

पाए पसारए वावि, न चिह्ने गुरुणन्तिए ॥

उत्त० १ : १६

विनीत शिष्य गुरुके समीप पल्हाथी मारकर न बैठे, अपनी दोनो भुजाओको जांघो पर रखकर न बैठे, उनके सामने पाव पसाकर न बैठे तथा और भी अविनय सूचक आसनादिसे गुरुके निकट न बैठे ।

१२—आसणे उवचिद्विज्ञा, अणुच्चे अक्कुए थिरे ।

अप्पुट्टाइ निरुट्टाइ, निसीएज्जप्पकुक्कुए ॥

उत्त० १ : ३०

शिष्य चांचल्यरहित होकर ऐसे आसन पर बैठे जो गुरुसे ऊँचा न हो, स्थिर हो, शब्द न करता हो और उक्त प्रकारके आसन पर बैठे हुए भी विना प्रयोजन न उठे तथा प्रयोजन होने पर भी थोडा उठे ।

१३—हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए ।

अल्लीणगुत्तो निसिए, सगासे गुरुणो मुणी ॥

द० ८ : ४५

जितेन्द्रिय मुनि गुरुके समक्ष हाथ, पाव और शरीरको वक्षमे रख, एकाग्र भावसे बैठे ।

१४—नीयं सिज्जं गइं ठाणं, नीयं च आसणाणि य ।

नीयं च पाए वंदिज्जा, नीयं कुज्जा य अंजलिं ॥

द० ६ : २ : १७

विनयी शिष्य अपने शय्या, स्थान और आसन गुरुसे नीचा रखे । चलते समय गुरुसे पीछे घीमी चालसे चले । नीचा झुककर पैरोमें वदना करे और नीचा होकर अञ्जलि करे ।

१५—ना पुट्टो वागरे किंचि, पुट्टो वा नालियं वए ।

कोहं असच्चं कुव्वेज्जा धारेज्जा पियमपियं ॥

उत्त० १ : १४

विना बोलाये थोडा सा भी न बोले, और बोलाने पर झूठ कभी

न बोले, क्रोधको निष्फल बना देवे तथा प्रिय अप्रिय वचनको सम-
भावसे ग्रहण करे ।

१६—न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं ।

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥

उत्त० १ : २५

अपने स्वार्थके लिए अथवा दूसरोके लिए अथवा दोनोमेसे किसीके
भी लिए पूछा जानेपर सावध वचन न बोले । न निरर्थक और न
मर्मभेदी वचन ही कहे ।

१७—मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे ।

कालेण य अहिज्जिता, तओ भाइज्ज एगगो ॥

उत्त० १ : १०

शिष्य क्रोधावेशमे न बोले, झूठ न बोले, न ब्रह्मत बोले । कालके
नियमसे अध्ययनकर बादमें एकान्तमे स्वाध्याय—चिन्तन करे ।

१८—विणयं पि जो उवाएण, चोइओ कुप्पई नरो ।

दिव्वं सो सिरिमिज्जन्ति, दण्डेण पडिसेहए ॥

द० ६ । २ : ४

विविधि उपायोसे मधुरता पूर्वक हित शिक्षा देनेपर भी जो मूर्ख
मनुष्य क्रुपित हो जाता है वह घर भाती हुई दिव्य लक्ष्मीको मानो
दण्डोकी मारसे भगता है ।

१९—अणुसासणभोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं ।

हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो ॥

उत्त० १ : २८

गुरुजनोका पापको दूर करनेवाला, उपाययुक्त—आत्मके लिए
हितरूप—अनुशासन बुद्धिमान् शिष्यको हित कारक लगता है परन्तु

असाधु पुरुषको वही अनुशासन द्वेषका हेतु बन जाता है ।

२०—हियं विरायभया बुद्धा, फरुसं पि अणुसासणं ।

वेसं तं होइ मूढाण, खन्तिसोहिकरं पयं ॥

उत्त० १ : २६

निर्भय बुद्धिमान् शिष्य कठोर अनुशासनको भी अपने लिए हितकर मानते हैं परन्तु मूर्ख जनोके लिए शान्ति और आत्मशुद्धिको प्राप्त करानेवाले वे ही पद—हितवाक्य—द्वेषके कारण हों जाते हैं ।

२१—जं मे बुद्धाणुसासन्ति, सीएण फरुसेण वा ।

मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥

उत्त० १ : २७

ये जो बुद्ध पुरुष मुझे कोमल अथवा कठोर वाक्योसे अनुशासित करते हैं—यह मेरे लाभके लिए ही है—इस प्रकारसे विचार करता हुआ मृगुक्ष पुरुष प्रयत्न पूर्वक उनकी शिक्षाको ग्रहण करे ।

२२—आहञ्च चण्डालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि ।

कडं कडेत्ति भासेज्जा, अकडं नो कडेत्ति य ॥

उत्त० १ : ११

कदाचित् कोपके वशीभूत होकर अकृत्य किया गया हो तो उसे क्रमो भी न छिपावे किन्तु किया हो तो कह दे कि मैंने किया है और यदि न किया हो तो कह दे कि मैंने नहीं किया

२३—पडिणीर्यं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मणा ।

आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइवि ॥

उत्त० १ : १७

ब्रह्मणसे या कायसे प्रगटमें या गुप्तमें ज्ञानी पुरुषोके प्रति कूल आचरण कदाचित् भी न करे ।

२४—न कोवए आयरियं, अप्पाणं पि न कोवए ।

बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए ॥

उत्त० १ : ४७

आचार्यं पर क्रोध न करे, न अपनी आत्मा पर भी क्रोध लावे ।
ज्ञानी पुरुषोकी घात करनेवाला न हो और न केवल छिद्र देखनेवाला
ही हो ।

२५—आयरियं कुवियं नञ्चा, पत्तिएण पसायप ।

विज्झवेज्ज पञ्जलिउडो, वएज्ज न पुण त्ति य ॥

उत्त० १ : ४१

आचार्यको कुपित हुआ जानकर प्रतीतिकारक वचनसे उन्हें
प्रसन्न कर उनकी क्रोधाग्निको शान्त करे और दोनो हाथ जोड़
कर कहे कि मैं फिर आगेको ऐसा कभी न करूंगा ।

२६—विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणियस्स य ।

जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥

द० ६ । २ : २१

अविनीतको विपत्ति प्राप्त होती है, और सुविनीत को
सम्पत्ति—ये दो बातें जिसने जान ली है, वही शिक्षा प्राप्त कर
सकता है ।

२७—जे आयरियववज्झायाणं, सुस्सूसावयणंकरा ।

तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ॥

द० ६ । २ : १२

जो शिष्य आचार्यं और उपाध्यायोकी सेवा करता और उनकी
भाज्ञा अनुसार चलता है उसकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है, जिस
जिस प्रकार जलसे सींचा हुआ वृक्ष ।

२८—नच्चा नमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायइ ।

हवइ किच्चाणं सरण, भूयाणं जगई जहा ॥

उत्त० १ : ४५

विनयके रूपको जानकर जो पुरुष नम्र हो जाता है वह इस लोकमें कीर्ति प्राप्त करता है । जिस तरह पृथ्वी वनस्पति आदि भूतोकी शरण स्थान होती है उसी प्रकार वह सर्व सत्कार्यों—गुणोंका शरणभूत—आश्रय स्थान—बन जाता है ।

२९—थंभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।

सो चेव उतस्स अभूइभावो, फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥

द० ६।१ : १

गर्व, क्रोध, माया और प्रमादके कारण जो गुरुके पास रहकर विनय नहीं सीखता, उसकी यह कमी उसीका पतन करती है, जिस तरह कि बासका फल उसीके नाशके लिए होता है ।

३०—मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाउ पच्छा समुवेति साहा ।

साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओ य से पुप्फ फलं रसो य ॥

द० ६।२ : १

वृक्षके मूलसे सबसे पहले स्कंध पैदा होता है । स्कन्धके बाद शाखाएँ और शाखाओंसे दूसरी छोटी छोटी शाखाएँ निकलती हैं । उनसे पत्तें निकलते हैं । इसके बाद क्रमशः फूल, फल और रस उत्पन्न होते हैं ।

३१—एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो ।

जेण कित्ति सुयं सिग्धं, निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥

द० ६।२ : २

इसी तरह धर्मका मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम रस है । विनयके द्वीरा ही मनुष्य बड़ी जल्दी शास्त्र ज्ञान तथा कीर्ति संपादन करता है । अन्तमें निश्चयस् (मोक्ष) भी इसीके द्वारा प्राप्त होता है ।

७ : भिक्षा और भोजनके नियम

१—तद्देव भक्तपाणेषु, पयणपयावणेषु य ।

पाणभूयदयट्ठाए, न पए न पयावए ॥

उत्त० ३५ : १०

भात-पानीके राघने रंधानेमें जीववध प्रत्यक्ष दिखाई देता है । अत प्राणियो और भूतोकी दयाके लिए अनगार न स्वय राघे और न रघावे ।

२—जलधन्ननिस्सिआ पागा, पुढविकठुनिस्सिआ ।

हम्मंति भक्तपाणेषु, तम्हा भिक्खू न पयावए ॥

उत्त० ३५ : ११

भात-पानी रांधनेके समय जल और धान्यके आश्रयमें रहे हुए तथा पृथ्वी और ई धनकी निश्रायमें रहे हुए जीवोका हनन होता है । अतः भिक्षु भात-पानी न रांधे, (न रंधावे और न राघनेकी अनुमोदना करे ।)

३—भिक्खिअब्बं न केअब्ब, भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा ।

कयविक्रओ महादोसो, भिक्खावित्ती सुहावहा ॥

उत्त० ३५ : १५

भिक्षा वृत्तिवाले भिक्षुको भिक्षा करनी चाहिए । उसे आहारादि

खरीदना नहीं चाहिये । क्योंकि क्रय-विक्रयमें महान् दोष है और भिक्षा वृत्ति सुखावह है ।

४—सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारियं ।

अलामुत्ति न सोइज्जा, तवत्ति अहियासए ॥

द० ५ । २ : ६

भिक्षु भिक्षाका काल होने पर गोचरीके लिए जाय और यथोचित पुरुषार्थ करे । यदि भिक्षा न मिले तो शोक न करे किन्तु सहज ही तप होगा—ऐसा विचार कर क्षुधा आदि परिषहको सहन करे ।

५—समुआणं उल्लंभेसिज्जा, जहामुत्तमणिदिअं ।

लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिंडवायं चरे मुणी ॥

उत्त० ३५ : १६

मुनि सूत्रके नियमानुसार निर्दोष, भिन्न भिन्न घरसे थोड़ी थोड़ी और सामुदायिक भिक्षाकी गवेषणा करे और लाभालाभमें संतुष्ट रहता हुआ पिंडचर्या करे ।

६—कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्खे ।

अकालं च विवज्जिता, काले कालं समायरे ॥

उत्त० १ : ३१, द० ५ । १ : ४

साधु समय पर भिक्षाविके लिए जावे और समय पर वापिस आ जाय । अकालको टालकर नियत कालपर कार्य करे ।

७—संपत्ते भिक्खकालम्मि, असंभंतो अमुच्छिओ ।

इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥

द० ५ । १ : १

भिक्षाका काल होने पर साधु उद्वेग रहित और आहारादिमें मूर्च्छित न होता हुआ इस आगे बताई जानेवाली विधिसे आहार पानी

की गवेषणा करे ।

८—एसणासमिओ लज्जू गामे अणियओ चरे ।

अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिण्डवायं गवेसए ॥

उत्त० ६ : १७

एषणा समितिसे युक्त समयशील साधु अनियन रूपसे ग्राममें फिरे और प्रमाद रहित रह प्रमत्तोसे—गृहस्थोसे—पिण्डपात—आहारादि की गवेषणा करे ।

९—से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गओ मुणी ।

चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥

द० ५ । १ : २

गावमें अथवा नगरमें गोचरीके लिए गया हुआ मुनि उद्वेगरहित, वान्त चित्त और मदगतिसे चले ।

१०—पुरओ जुगमायाए, मेहमाणो महि चरे ।

वज्जंतो वीय हरियाइं, पाणे य दग्गमट्टियं ॥

द० ५ । १ : ३

मुनि सामने बूसर—चार हाथ—प्रमाण पृथ्वीको देखता हुआ तथा बीज, हरो वनस्पति, प्राणी, सचित्त जल तथा मिट्टीको टालता हुआ चले ।

११—न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए वा पडंतिए ।

महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥

द० ५ । १ : ८

वर्षा वर्ष रही हो, धूसर निर रहा हूं, आधी चल रही हो या पतगिया आदि—अनेक प्रकारके जीव उड़ रहे हो उस समय साधु बाहर न जावे ।

१२—अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं ।

हुज्ज वयाणं पीला, सामणम्मि य संसओ ॥

द० ५ । १ : १०

वेश्याओके मोहल्लेमें गोचरीके लिए जानेवाले साधुके उनसे बार-बार ससर्ग होता है जिससे महाव्रतको पीडा होती है और लोग उसके साधुपनमें सदेह करने लगते हैं ।

१३—तम्हा एयं बियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।

वज्जए वेस सामंतं, मुणी एगंतमस्सिए ॥

द० ५ । १ : ११

इसलिए दुर्गंतिको बढानेवाले इन उपरोक्त दोषोको जानकर एकांत मोक्षकी कामनावाला मुनि वेश्याओके मोहल्लेका वर्जन करे—उसे टाले ।

१४—अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले ।

इ'दियाइ' जहाभार्गं, दमइत्ता मुणी चरे ।

द० ५ । १ : १२

मुनि न ऊपरकी ओर और न नीचेकी ओर ताकता हुआ चले । वह न हर्षित न व्याकुल इन्द्रियोको यथाक्रमसे दमन करता हुआ चले ।

१५—इवद्वस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो य गोथरे ।

हंसतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावरं सया ॥

द० ५ । १ : १४

गोचरीके लिए साधु दडवड दडवड—दौडता हुआ—न जावे और हसता हुआ तथा बोलता हुआ जावे किन्तु हमेशा ऊच नीच कुलमें ईर्ष्यासिमिति पूर्वक गोचरी जावे ।

१६—समुयाणं चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया ।
नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए ॥

द० ५ । २ : २७

भिक्षु सदा ऊंच और नीच—धनी और गरीब—कुलोमें सामु-
दानिक रूपसे भिक्षाके लिए जावे । नीच—गरीब—कुलको लांघकर
धनवानके घर पर न जावे ।

१७—पडिकुट्टं कुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए ।
अचियत्तं कुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं ॥

द० ५ । १ : १४

साधु शास्त्रनिषिद्ध कुलमें गोचरीके लिए न जावे, स्वामीने ना
कर दी हो उस घरमें न जावे तथा प्रतीतिरहित कुलमे प्रवेश न करे ।
वह प्रतीतिवाले घरमें जावे ।

१८—अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीइज्ज पंडिए ।
अमुच्छिओ भोयणंभि, मायण्णे एसणा रए ॥

द० ५ । २ : २८

आहार पानीकी मात्राको जाननेवाला और आहारकी शुद्धिमें
तत्पर पंडित साधु भोजनमें गृद्धिभाव न रखता हुआ अदीनभावमें
आहार आदिकी गवेपणा करे । यदि आहारदि न मिले तो खेद
न करे ।

१९—असंसत्तं पलाइज्जा, नाइदूरावलोयए ।
उप्फुल्लं न विनिज्भाए, निअट्टिज्ज अयंपिरो ॥

द० ५ । १ : २३

गोचरीके लिए गया हुआ साधु किसीकी तरफ आसक्तिसे न देखे,
दूर तक लम्बी दृष्टि डालकर न देखे, आखे फाड फाडकर न देखे ।

यदि भिजा न मिले तो बडबड़ाहट न करता हुआ वापिस लौट आवे ।

२०—नाइदूरमणासन्ने, नन्नेसि चक्खु फासओ ।

एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा, लंघित्ता तं नइक्कमे ॥

द० १ : ३३

यदि गृहस्थके घरमें पहलेसे ही कोई निम्न भिजाके लिए खड़ा हो तो साधु वहाँसे हटकर न अति दूर न अति नजदीक एकान्तमें खड़ा रहे जहाँ सूचरोंका दृष्टि स्पर्श न हो । वह भिजाके लिए उपस्थित ननुष्यको उल्लंघन कर उसने पहले घरमें प्रवेश न करे ।

२१—अइभूमिं न गच्छेज्जा, गौघरग्गओ मुणी ।

इल्लत्स भूमिं जाणित्ता, भियं भूमिं परक्कमे ॥

द० ५ । १ : २४

गौघरीके लिए गया हुआ मुनि गृहस्थकी मर्दान्ति भूमिसे जाने न जाय किन्तु कुलकी भूमिको जानकर परिमित भूमिमें ही रहे ।

२२—दग्गनइय आयाणे, वीयाणि हरियाणि च ।

परिवज्जंतो चिट्ठिज्जा, सच्चिदियत्तमाहिण ॥

द० ५ । १ : २६

सर्ष इन्द्रियोंको बधनें रखता हुआ समाधिबत मुनि सचित्त जल और सचित्त मिट्टी युक्त जगहको, बीजोंको और हरितकायको टालकर यत्नापूर्वक खड़ा रहे ।

२३—पविसित्तु परागारं, पाणट्ठा भोवणत्स वा ।

जयं चिट्ठे भियं भासे, न च रुवेसु मणं करे ॥

द० ८ : १६

पानीके लिए अथवा भोजनके लिए गृहस्थके घरमें प्रवेश करके साधु यत्नापूर्वक खड़ा रहे, घोड़ा बोलै, स्त्रियोंके रूपमें मनको न लगावे ।

२४—तत्थसे चिद्धमाणस्स, आहरेपाणभोयणं ।

अकप्पियं न गिण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ॥

द० ५ । १ : २७

वहाँ मर्यादित भूमिमें खड़े हुए साधुको गृहस्थ आहार पानी देवे और वह कल्पनीय हो तो साधु उसे ग्रहण करे और अकल्पनीय हो तो ग्रहण न करे ।

२५—नाइउच्चे व नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ ।

फासुयं परकडं पिण्डं, पडिगाहेज्ज संजए ॥

उत्त० १ : ३४

गृहस्थके घरमें जाकर सयमी न अति ऊंचेसे, न अति नीचसे, न अति समीपसे और न अति दूरसे प्रासुक—अचित्त और परकृत—दूसरोके निमित्त बने हुए पिण्ड—आहारको ग्रहण करे ।

२६—जहा दुमस्स पुफ्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।

ण य पुफ्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥

एमे ए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो ।

विहंगमा व पुफ्फेसु, दाणभत्तेसणे रया ॥

द० १ : २, ३

जिस प्रकार भ्रमर वृक्षके फूलोंसे रस पीता हुआ भी उन्हें पींडित नहीं करता और अपनी आत्माको सतुष्ट कर लेता है, उसी प्रकार लोकमें जो मुक्त—परिग्रह रहित—भ्रमण—साधु है वे दाता द्वारा दिए हुए दान, आहार और एषणामें उतने ही रत होते हैं जितना कि भ्रमर पुष्पो में ।

२७—अतितिणे अचचले, अप्पभासी मियासणे ।

ह्विज्ज उअरे दंते, थोवं लद्ध न खिसए ॥

द० ८ : २६

साधु तिनहिनाहट न करनेवाला, चपलता रहित, अल्पभापी, परि-
मित आहार करनेवाला और उदरका दमन करनेवाला हो । तथा
थोडा आहार मिलने पर क्रोधित न हो ।

२८—वहुं परधरे अत्थि, विविहं खाइमं साइमं ।

न तत्थ पंडिलो कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा ॥

द० ५।२ : २६

गृहस्थके घरमें खाद्य स्वाद्य अनेक प्रकारके बहुतसे पदार्थ होते हैं ।
यदि गृहस्थ साधुको न दे तो वृद्धिमान साधु उस पर कोप न करे पर
विचार करे कि वह गृहस्थ है उसकी इच्छा है वह दे या नही ।

२६—दुण्हं तु भुंजमाणानं एगो तत्थ निमंतए ।

दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छंदं से पडिलेहए ॥

द० ५।१ : ३७

गृहस्थके घर दो व्यक्ति भोजन कर रहे हो और उनमेंसे यदि
एक व्यक्ति निमंत्रण करे तो साधु लेनेकी इच्छा न करे । हमारेके
श्रुतिप्रायको देखें ।

३०—गुच्चिणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोर्यणं ।

भुज्जमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए ॥

गर्भवती स्त्रीके लिए बनाए हुए विविध आहार पानीको यदि वह
खा रही हो तो साधु उन्हे न ले किन्तु यदि उसके खा चुकनेके उपरांत
कुछ बचा हो तो साधु उसे ग्रहण करे ।

३१—सिया य समणट्ठाए, गुच्चिणी कालमासिणी ।

उट्ठिआ वा निसीइज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥

तं भवे भक्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइस्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

द० ५ । १ : ३६-४१

यदि कदाचित् आसन्न प्रसवा गर्भवती स्त्री खड़ी हो और साधुको आहारादि देनेके लिये बैठे अथवा पहले बैठी हो और फिर खड़ी हो तो वह आहार पानी साधुके लिए अकल्पनीय होता है । अतः देनेवाली बाईसे कहे इस प्रकार लेना मुझे नहीं कल्पता ।

३२—थणगं पिज्जमाणी, दारगं वा कुमारियं ।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं, आहरे पाणभोयणं ॥
तं भवे भक्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइस्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

द० ५ । १ : ४२, ४३

बालकको अथवा बालिकाको स्तन पान कराती हुई बाई रोते हुए बच्चेको अलग कर आहार पानी देवे तो वह आहार पानी साधुके लिए अकल्पनीय होता है । अतः उस देनेवाली बाईसे साधु कहे इस तरहका आहार मुझे नहीं कल्पता है ।

३३—असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तथा ।
जंजाणिज्जा सुणिज्जा वा, दाण्हा पगडं इमं ॥
तं भवे भक्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पियं ।
दितियं पडियाइस्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

द० । ५ । १ : ४७, ५४

जिस आहार, जल, खाद्य, स्वाद्यके विषयमें साधु इस प्रकार जान ले अथवा सुन ले कि यह दानके लिए, पुण्यके लिए, याचकोके लिए तथा श्रमणो—भिक्षुओके लिए बनाया गया है तो वह भक्तपाण

साधुके लिए अकल्पनीय होता है। अतः साधु दातासे कहे इस प्रकारका आहारादि मुझे नहीं कल्पता।

३४—कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं च सन्निरं।
तुंबागं सिंगवेरं च, आमगं परिवज्जए॥

द० ५।१ : ७०

कच्चा कद—जमीकन्द, मूल, तालफल अथवा काटी हुई भी सचित्त वथुए आदि पत्तोकी भाजी, घीया और अदरख आदि सब प्रकार की सचित्त वनस्पति—जिसे अग्निका शस्त्र न लगा हो उसे साधु न ले।

३५—न य भोयणम्मि गिद्धो, चरे उंछं अयंपिरो।
अफासुयं न भुंजिज्जा, कीयमुहेसियाहडं॥

द० ८ : २३

भोजनमे गृह्य न होकर साधु गरीब घनवान् सब दाताओके घरमें भिक्षाके लिए जाय। सतुष्ट रहकर दाताकी निंदा न करे। अप्रासुक, साधुके लिए क्रीत—खरीदा हुआ, औदेशिक—साधुके लिए बनाया हुआ तथा आहृत—साधुके लिए सामने लाया हुआ आहार ग्रहण न करे। यदि कदाचित् भूलसे ग्रहण कर लिया हो तो उसे न भोगे।

३६—बहुं सुणेइ कन्नेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छई।
न य दिट्ठं सुयं सर्व्वं, भिक्खू अफखाउमरिहइ॥

द० ८ : २०

साधु कानोसे बहुत बातें सुनता है, आंखोंसे बहुत बातें देखता है। परन्तु देखी हुई, सुनी हुई सारी बातें किसीसे कहना साधुको उचित नहीं है।

३७—निद्राणं रसनिज्जुदं, भद्दं पावगं ति वा ।

पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा, लाभालाभं न निदिसे ॥

द० ८ : २२

किसीके पूछने पर अथवा बिना पूछे, साधु सरस आहार मिला हो तो आहार अच्छा मिला है इस प्रकार न कहे, नीरस आहार मिला हो तो आहार बुरा मिला है ऐसा न कहे । वह लाभालाभकी चर्चा न करे ।

३८—विणएण पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी ।

इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे ॥

द० ५।१ : ८८

भिक्षासे वापिस आने पर मुनि विनयपूर्वक अपने स्थानमें प्रवेश करे और गुरुके पास आकर ईर्याविही का पाठ पढकर प्रतिक्रमण करे ।

३९—आभोइत्ताण निसेसं, अइयारं जहक्कर्म ।

गमणागमणे चेव, भत्तपाणे य संजए ॥

उज्जुप्पन्नो अणुव्विगो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ।

आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहियं भवं ॥

द० ५।१ : ८६, ६० ।

आने-जानेमें और आहारादि ग्रहण करनेमें लगे हुए सब अतिचारो को तथा जो आहार-पानी जिसप्रकारसे ग्रहण किया हो उसे यथाक्रमसे उपयोगपूर्वक याद कर वह सरल बुद्धिवाला मुनि उद्वेग रहित एकाग्र चित्तसे गुरुके पास आलोचना करे ।

४०—अहो जिणेहि असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया ।

मोक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥

द० ५।१ : ६२

कायोत्सर्गमें स्थित मुनि इस प्रकार विचार करे कि अहो !
जिनेश्वर देवोंने मोक्ष-प्राप्तिके साधनभूत साधुके शरीरको धारण
करनेके लिए कौसी निर्दोष भिक्षावृत्ति बताई है ।

४१—णमुक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं ।

सञ्झायं पटुवित्ताणं, वीसमेज्ज खणं सुणी ॥

द० ५ । १ : ६३

मुनि 'णमो अरिहताण' पाठका उच्चारण कर, कायोत्सर्गको पार,
जिन स्तुति करके स्वाध्याय कर्ता हुआ कुछ समयके लिए विश्राम करे ।

४२—वीसमंतो इमे चित्ते, हियमट्ठं लाभमट्ठिओ ।

जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ ॥

द० ५ । १ । ६४

निर्जरारूपी लाभका इच्छुक साधु विश्राम करता हुआ अपने
कल्याणके लिए इस प्रकार चिंतन करे कि यदि कोई साधु मुझ पर
अनुग्रह करे—मेरे आहारमें से कुछ आहार ग्रहण करे तो मैं इस ससार-
समुद्रसे पार हो जाऊँ ।

४३—साहवो तो चियत्तेणं, निमंतिज्ज जहकमं ।

जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा, तेहिं सट्ठि तु भुंजए ॥

द० ५ । १ : ६५

इस प्रकार विचार कर मुनि सब साधुओको प्रीतिपूर्वक यथ क्रमसे
निमंत्रण करे । यदि उनमेंसे कोई साधु आहार करना चाहे तो
उनके साथ आहार करे ।

४४—अह कोइ न इच्छिज्जा, तओ भुंजिज्ज एकओ ।

आलोए भायणे साहू, जयं अप्परिसाडियं ॥

द० ५ । १ : ६६

इस प्रकार निमन्त्रण करने पर यदि कोई साधु आहार लेना न चाहे तो फिर वह साधु अकेला ही चौड़े मुखवाले प्रकाशयुक्त पात्रमें नीचे नहीं गिराता हुआ यतनापूर्वक आहार करे ।

४५—तित्तगं व कडुअं व कसायं, अंवलं व महुरं लवणं वा ।

एयलद्धमन्नदृपउत्तं , महुघयं व भुंजिज्ज संजए ॥

द० ५ । १ : ६७

गृहस्थके द्वारा अपने लिए बनाया हुआ तथा शास्त्रोक्त विधिसे मिला हुआ वह आहारादि तीखा, कड़वा, कसैला, खट्टा, मोठा या नमकीन चाहे जैसा भी हो साधु उस आहारको घी शक्करकी तरह प्रसन्नता पूर्वक खावे ।

४६—अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भादंते अमुच्छिए ।

न रसट्टाए भुंजिज्जा, जवणट्टाए महामुणी ॥

उत्त० ३५ : १७

लोलुपता रहित, रसमें गूढ़ि रहित, जिह्वा-इन्द्रियको दमन करने वाला और आहारके सग्रहकी मूर्च्छासे रहित महा मुनि रसके लिए—स्वादके लिए—आहार न करे परन्तु समयके निर्वाहके लिए ही आहार करे ।

४७—अरसं विरसं वा वि, सूइयं वा असूइयं ।

उल्लं वा जइ वा सुफकं, मंथु कुम्मास भोयणं ॥

उप्पणं नाइ हीलिज्जा, अप्पं वा बहु फासुयं ।

मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोसविज्जयं ॥

द० ५ । १ : ६८, ६९

शास्त्रोक्त विधिसे प्राप्त हुआ आहार चाहे रस रहित हो या विरस, बघार—छोक दिया हुआ हो अथवा बघार रहित, गोला हो अथवा

सूखा, मथुका आहार ही या उडदके वाकलोका, सरस आहार अल्प हो अथवा नीरस आहार बहुत हो, चाहे जैसा भी आहार हो साधु उसकी निन्दा न करे। यह निःस्पृहभावसे केवल समय-यात्राके निर्वाहके लिए दाता द्वारा निःस्वार्थ भावसे दिए हुए प्रासुक आहारका दोष ढाल कर भोजन करे।

४८—सुकडि त्ति सुपक्कि त्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे ।

सुणिट्ठिए सुलट्ठि त्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥

उत्त० १ : ३६

मुनि भोजन करते समय ऐसे सावद्य वचन न कहे कि यह अच्छा किया हुआ है, अच्छा पकाया हुआ है, अच्छा काटा हुआ है, इसका कडवापन अच्छी तरह दूर किया हुआ—मारा हुआ—है, यह अच्छे मसालोसे बना हुआ है या मनोहर है।

४९—पड्डिग्गहं संलिहित्ताणं, लेवमायाए संजए ।

दुग्गं वा सुग्गं वा, सव्वं भुंजे न छड्ढए ॥

द० ५ : २ : १

साधु पात्रमें लगे हुए लेपमात्रको भी—चाहे वह दुर्गंधयुक्त हो अथवा सुगंधयुक्त—अगुलीसे पोछकर सब खा जाय और कुछ न छोड़े।

५०—दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा ।

मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सोग्गइ ॥

द० ५ : १ : १००

मुघादायी निश्चय ही दुर्लभ है और इसी तरह मुघाजीवी भी दुर्लभ है। मुघादायी और मुघाजीवी दोनों ही सुगतिको जाते हैं।

८ : गली गर्दभ

१—वहणे वहमाणस्स, कन्तारं अइवत्तइ ।

जोए य वहमाणस्स, संसारे अइवत्तइ ॥

वाहनमें जोड़े हुए विनीत वृषभ आदि को चलाता हुआ पुरुष
अरण्यको सुखपूर्वक पार करता है, उसी तरह योग—संयम—यानमें
जोड़े हुए मुशिष्योको चलाता हुआ आचार्य इस संसारको सुखपूर्वक
पार करता है ।

२—खलुंके जो उ जोएइ, विहम्माणो क्खिलिस्सइ ।

असमाहिं च वेएइ, तोत्तओ से य भज्जइ ॥

जो वाहनमें दुष्ट वृषभोको जोतता है, वह उनको मारते-मारते
क्लेश को प्राप्त होता है । वह असमाधिका अनुभव करता है । उसका
तोत्रक—चाबुक तक टूट जाता है ।

३—एगं डसइ पुच्छम्मि, एगं विन्धइऽभिक्खणं ।

एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पहपट्ठिओ ॥

वह एक की पूछमें दश देता है और दूसरे को बार-बार आरेसे
बीधता है । (तो भी) एक जुएको तोड़ डालता है तो दूसरा उन्मार्ग की
ओर दौड़ने लगता है ।

४—एगो पडइ पासेणं, निवेसइ निवज्जइ ।

उपकुइइ उप्फिइइ, सढे वालगवी वए ॥

एक, एक बगल से जोमन पर गिर पडता है, बैठ जाता है, सो जाता है तो दूसरा शठ कूदता है, उछलता है और तरुण गायके फंछे दीडता है ।

५—माई मुद्धेण पडइ, कुद्धे गच्छइ पडिपहं ।

मयलमखेण चिद्धाइ, वेगेण य पहावइ ॥

एक वृषभ माया कर मस्तक से गिर पडता है, तो दूसरा क्रोध-युक्त होकर उल्टा चलता है, एक मृतक की तरह पड़ जाता है तो दूसरा जोरसे दीडने लगता है ।

६—छिन्नाले छिन्नई सल्लिं, दुहन्ते भञ्जई जुगं ।

से वि य सुस्सुयाइत्ता, उज्जहिन्ता पलायइ ॥

छिन्नाल वृषभ राक्षको छेदन कर देता है, दुर्दान्त जुए को तोड डालता है और सू सू कर वाहन को उजड़में ले भागता है ।

७—खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा ।

जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जन्ति धिइहुव्वला ॥

उत्त० २७ : २-८

यानमें दुष्ट वृषभो को जोतने पर जो हाल होता है वही हाल धर्मयानमें दु शिष्यो को जोडनेसे होता है । दुर्बल घृतिवाले शिष्य दुष्ट वृषभ की तरह धर्मच्युत होने की चेष्टा करते है ।

८—अह सारही विचिन्तेइ, खलुंकेहिं समागओ ।

किं मज्झ दुद्धसीसेहिं, अप्पा मे अवसीयइ ॥

१—इस उपमाके विस्तारके लिए देखिये—उत्त० अ० २७ . ९-१४

जारिसा मम सीसा उ, तारिसा गलिगद्दा ।

गलिगद्दे चइत्ताणं, दढं पणिण्द्दे तवं ॥

उत्त० २७ : १५-१६

उन दुष्ट वृषभों द्वारा श्रम को प्राप्त हुआ सारथी जैसे सोचता है कि इन दुष्ट वृषभोंसे मुझे क्या प्रयोजन जिनके ससर्गसे मेरी आत्मश्रवसाद—खेदको प्राप्त होती है उसी तरह घर्माचार्य सोचते हैं—जैसे गलि गर्दभ होते हैं वैसे ही ये मेरे दुर्बल दुष्ट शिष्य हैं। इनको छोड़ कर मैं नपको ग्रहण करता हूँ ।

६—रमए पंडिए सासं, हयं भदं व वाहए ।

वालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए ॥

उत्त० १ : ३७

पण्डितों को शासन करता हुआ गुरु उसी प्रकार आनन्दित होता है जिस प्रकार भद्र घोड़ेका शासन करनेवाला वाहक—चाबुक सवार । मूर्ख शिष्योंको शिक्षा करता हुआ गुरु उसी प्रकार कष्ट पाता है जिस प्रकार अडियल घोड़ेका वाहक—चाबुक सवार ।

९ : समभाव

१—ण सक्का ण सोउं सद्दा, सोतविसयमागया ।

रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

शब्द श्रोतेन्द्रियका विषय है । कानमें पड़े हुए शब्दो को न सुनना शक्य नहीं । भिक्षु कानमें पड़े हुए शब्दोंमें राग द्वेष का परित्याग करे ।

२—ण सक्का रूवमद्दट्ठुं, चक्खु विसयमागयं ।

रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

रूप चक्षुका विषय है । आँखोंके सामने आये हुए रूपको न देखना शक्य नहीं । भिक्षु आँखोंके सामने आए हुए रूपमें राग द्वेषका परित्याग करे ।

३—ण सक्का गंधमग्घाउं, णासाविसयमागयं ।

रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

गंध नाक का विषय है । नाकके समीप आई गंधको न सूघना शक्य नहीं । भिक्षु नाकके समीप आई हुई गंधमें राग द्वेषका परित्याग करे ।

४—ण सक्का रसमस्साउं, जीहाविसयमागयं ।

रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

रस जिह्वा का विषय है । जिह्वा पर आए हुए रसका अम्बुद न लेना शक्य नहीं । भिक्षु जिह्वा पर आए हुए रसमें राग द्वेषका परित्याग करे ।

५—ण सक्का फासमवेएउं, फासं विसयमागरयं ।

रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिषखू परिवज्जए ॥

आ० २३ : १-५

स्पर्श शरीरका विषय है । स्पर्श विषयके उपस्थित होने पर उसका अनुभव न करना शक्य नहीं । स्पर्श विषयके उपस्थित होने पर भिक्षु उसमें राग द्वेषका परित्याग करे ।

१० : मुनि और परिषद्

१—सूरं मण्णइ अप्पाणं, जावं जेयं न पस्सई ।
जुज्झंतं दढधम्मणं, सिंसुपालो व महारहं ॥

सू० १, ३-१ : १

कायर मनुष्य भी जब तक विजयी पुरुषको नहीं देखता तब तक अपनेको शूर मानता है परन्तु वास्तविक सन्नामके समय वह उसी तरह क्षोभको प्राप्त होता है जिस तरह युद्धमे प्रवृत्त दृढधर्मी महारथी कृष्णको देख कर शिशुपाल हुआ था ।

२—पथाया सूरा रणसीसे, संगामम्मि उवट्टिए ।
माया पुत्तं न जाणाइ, जेएण परिचिच्छए ॥

सू० १, ३-१ : २

अपने को शूर माननेवाला पुरुष सन्नामके अग्र भागमें चला तो जाता है परन्तु जब युद्ध छिड़ जाता है और ऐसी घबड़ावट मचती है कि माता भी अपनी गोदसे गिरते हुए पुत्रकी सुख न रख सके तब शत्रुओके प्रहारसे क्षतविक्षत वह अल्प पराक्रमी पुरुष दीन बन जाता है ।

३—एवं सेहे वि अप्पुट्ठे, भिक्खायरियाअकरोविए ।

सूरं मन्नइ अप्पाणं, जावं ल्हं न सेवए ॥

सू० १, ३-१ : ३

जैसे कायर पुरुष जब तक शत्रु—वीरोसे घायल नहीं किया जाता

तभी तक शूर होता है, इसी तरह भिक्षाचार्यामें अनिपुण तथा परिपहोके द्वारा अस्पर्शित अभिनव प्रव्रजित साधु भी तभी तक अपनेको वीर मानता है जब तक रुक्ष संयमका सेवन नहीं करता ।

४—जया हेमंतमासम्भि, सीयं फुसइ सव्वगं ।

तत्थ मन्दा विसीयंति, रज्जहीणा व खत्तिया ॥

सू० १, ३-१ : ४

जब हेमंत ऋतुके महीनोमें शीत सब अङ्गोंको स्पर्श करता है उस समय मन्द जीव उसी तरह विपादका अनुभव करते हैं, जिस तरह राज्य भ्रष्ट क्षत्रिय ।

५—पुट्ठे गिम्हाहितावेणं, विमणे सुपिवासिए ।

तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥

सू० १, ३-१ : ५

शीष्म ऋतुके अतितापसे पीड़ित होने पर जब अत्यन्त तृषणाका अनुभव होता है उस समय अल्प पराक्रमी पुरुष उदास होकर उसी तरह विपाद को प्राप्त होते हैं जैसे थोड़े जलमें मच्छलिया ।

६—सया दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोद्धिया ।

कम्मत्ता दुवभगा चेव, इच्चाहंसु पुढोजणा ॥

सू० १, ३ । १ : ६

भिक्षु जीवनमें दी हुई वस्तु को ही लेना—यह दुःख सदा रहता है । याञ्चाका परिपह दुःसह्य होता है । साधारण मनुष्य कहते हैं कि ये भिक्षु कर्मका फल भोग रहे हैं और भाग्यहीन हैं ।

७—एए सदे अचायन्ता, गामेसु नगरेसु वा ।

तत्थ मन्दा विसीयन्ति, संगामम्भि व भीरुया ॥

सू० १, ३ । १ : ७

ग्रामोमें या नगरोमें कहे जाते हुए इन माक्रंशपूर्ण शब्दोंको सहन नहीं कर सकते हुए मदमति जीव उसी प्रकार विषाद करते हैं जिस तरह भीरु मनुष्य सग्राममें ।

८—अप्येगे खुधियं भियखं, सुणी ढंसइ लूसए ।
नत्थ मन्दा विसीर्यति, तेउपुट्ठा व पाणिणो ॥

सू० १, ३-१ : ८

भिक्षाके लिए निकले हुए क्षुधित साधुको जब कोई क्रूर प्राणी कुत्ता आदि काटता है तो उस समय मदमती पुरुष उसी तरह विषाद को प्राप्त होना है जिस तरह अग्निसे स्पर्श किए हुए प्राणी ।

९—पुट्ठो य दंसमसगोहिं, तणफासमचाइया ।
न मे दिट्ठे परे लोए, जइ परं मरणं सिया ॥

सू० १, ३-१ : १२

दश और मच्छडोसे काटा जाकर तथा तृणकी शय्याके रक्ष स्पर्शको सहन नहीं कर सकता हुआ मदमति पुरुष यह भी सोचने — लगता कि मैंने परलोक तो प्रत्यक्ष नहीं देखा है परन्तु इस कष्टसे मरण तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है ।

१०—संतत्ता केसलोएण, वस्मभ्वेरपराइया ।
तत्थ मन्दा विसीर्यन्ति, मच्छा विट्ठा व केयणे ॥

सू० १, ३-१ : १३

केशलोचसे पीडित और ब्रह्मचर्यं पालनमें हारे हुए मदमति पुरुष उसी तरह विषादका अनुभव करते हैं जिस तरह जालमें फँसी हुई मच्छली ।

११—आयदण्डसमायारे, मिच्छासंठियभावना ।
हरिसप्पओसमावन्ना, केई लूसन्ति नारिया ॥

सू० १, ३। १ : १४

कई अनार्य पुरुष अपनी आत्माको दण्डका भागी बनाते हुए मिथ्यात्व की भावना में सुस्थित हो रागद्वेष पूर्वक साधुको पीड़ा पहुँचाते हैं ।

१२—अप्पेगे पलियन्तेसिं, चारो चोरो त्ति सुव्वयं ।

बन्धन्ति भिक्षुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥

सू० १, ३।१ : १५

कई अज्ञानी पुरुष, पर्यटन करते हुए सुव्रती साधुको यह 'चर है' 'चोर है' ऐसा कहते हुए रस्सी आदिसे बांधते हैं और कट्ट वचन से पीड़ित करते हैं ।

१३—अप्पेगे पडिभासंति, पडिपंथियमागया ।

पडियारगया एए, जे एए एव जीविणो ॥

सू० १, ३-१ : ६

कोई सतोंके द्वेषी मनुष्य साधुको देख कर कहते हैं कि भिक्षा माग कर इस तरह जीवन निर्वाह करने वाले ये लोग अपने पूर्वकृत पापका फल भोग रहे हैं ।

१४—तत्थ दंढेण संवीते, मुट्ठिणा अट्टु फलेण वा ।

नार्इणं सरई चाले, इत्थी वा कुट्टगामिणि ॥

सू० १, ३-१ : १६

अनार्य देशमें अनार्य पुरुष द्वारा लाठी मुक्का अथवा फलकके द्वारा पीटा जाता हुआ मन्दमति पुरुष उसी प्रकार अपने बन्धुबान्धवोंको स्मरण करता है जिस तरह क्रोधवश घरसे निकलकर भागी हुई स्त्री ।

१५—एए भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया ।

इत्थी वा सरसंवित्ता, कीवावस गया गिहं ॥

सू० १, ३-१ : १७

शिष्यो । पूर्वोक्त सभी परिषह कष्टदायी श्रीर दुसह है ।
वाणोके प्रहार से घायल हुए हाथी की तरह कायर पुरुष इनसे घबरा
कर फिर गृहवासमें चला जाता है ।

१६—जहा संगामकालम्भि, पिट्टओ भीरु वेहइ ।

वलर्यं गहणं नूमं, को जाणइ पराजयं ॥

सू० १, ३-३ : १

जैसे युद्धके समय कायर पुरुष, यह शका करता हुआ कि किसकी
विजय होगी, पीछेकी ओर ताकता है और गड्ढा, गहन और छिपा
हुआ स्थान देखता है ।

१७—एवं उ समणा एगे, अबलं नञ्चाण अप्पगं ।

अणागर्यं भयं दिस्स, अवकर्प्पंतिमं सुयं ॥

सू० १, ३-३ : ३

इसी प्रकार कई श्रमण अपनेको समय पालन करनेमें अबल
समझ कर तथा अनागत भयकी आशकासे व्याकरण तथा ज्योतिष
आदि की शरण लेते हैं ।

१८—जे उ संगामकालम्भि, नाया सूरपुरंगमा ।

नो ते पिट्टमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया ॥

सू० १, ३-३ : ६

परन्तु जो पुरुष लड़नेमें प्रसिद्ध और शूरोमें अग्रगण्य होते हैं वे
पीछेकी बात पर ध्यान नहीं देते हैं । वे समझते हैं कि मरण से भिन्न
और क्या होगा ?

१९—कण्णसोक्खेहिं सहेहिं, पेमं नाभिनिवेसए ।

दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहियासए ॥

द० ८ : २६

मुमुक्षु कानोको प्रिय लगनेवाले शब्दोंसे प्रेम न करे तथा दारुण और कंकश स्पर्शोंको कायासे समभावपूर्वक सहन करे ।

२०—खुहं पिवासं दुस्सेज्जं, सीडण्हं अरई भयं ।
अहियासे अन्वहिओ, देहदुयखं महाफलं ॥

द० ८ : २७

क्षुधा, प्यास, दृ शय्या, सर्दी, गर्मी, अरति, भय—इन सब कष्टों को मुमुक्षु अदीनभावसे सहन करे । समभावसे सहन किए गये दहिक कष्ट महाफलके हेतु होते हैं ।

२१—न वि ता अहमेव लुप्पए, लुपन्ती लोगंसि पाणिणो ।
एवं सहिएहि पासए, अनिहे से पुट्टे हियासए ॥

सू० १, २।१:१३

“मैं ही इन सब कष्टोंसे पीडित नहीं हूँ परन्तु दुनियामें अन्य भी पीडित हैं”—यह सोचकर ज्ञानी कष्ट पडने पर अम्लान मनमें सहन करे ।

११ : स्नेह-पाश

१—अहिमे सुहृमा संग्ता, भिक्खूण जे दुरुत्तरा ।

जत्थे एगे विसीयंति, ण चर्यंति जवित्तए ॥

सू० १, ३-२ : १

बन्धु-बाँधवोके स्नेह रूप उपसर्ग बड़े सूक्ष्म होते हैं । ये अनुकूल परिषह साधु पुरुषो द्वारा भी दुर्लभ्य होते हैं । ऐसे सूक्ष्म—अनुकूल—परिषहोके उपस्थित होने पर कई खेदखिन्न ही जाते हैं और सयमी जीवनके निर्वाहमें समर्थ नहीं रहते ।

२—वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।

भुंजाहिमाइं भोगाइं, आउसो ! पूजयामु तं ॥

स० १, ३-२ : १७

हे आयुष्मान् ! वस्त्र, गंध, मलकार, स्त्रिया और दाय्या इन भोगो को आप भोगें । हम आप को पूजा करते हैं ।

३—जो तुमे नियमो चिण्णो, भिक्खुभावम्मि सुव्वया ।

आगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा ॥

सू० १, ३-२ : १८

हे सुन्दर व्रतवाले साधु ! आपने जिन महाव्रत आदि रूप नियमोका पालन किया है, वे सब गृहवास करने पर भी उसी तरह बने रहेंगे ।

४—चिरं दृङ्गमाणस्स, दोसो दाणिं कुओ तव ।
इच्चेव णं निमंतेन्ति, नीवारेण व सूयरं ॥

सू० १, ३-२ : १६

हे मुनिवर ! बहुत कालसे समयपूर्वक विहार करते हुए आपको इस समय दोष कैसे लग सकता है ? इस प्रकार भोग भोगनेका धामत्रण देकर लोग साधु को उसी तरह फँसा लेते हैं जैसे चावलके दानोसे सूअर को ।

५—अचर्यता व ल्ह्हेणं, उवहाणेण तज्जिया ।
तत्थ मन्दा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा ॥

सू० १, ३-२ : २१

रुक्ष समय पालन करनेमें असमर्थ और बाह्याभ्यन्तर तपस्या से भय पाते हुए मन्द पराक्रमी जीव समय-मार्गमें उसी प्रकार क्लेश पाते हैं, जिस प्रकार ऊँचे मार्गमें बूढा बँल ।

६—तत्थ मन्दा विसीयन्ति, वाहच्छिन्ना व गहभा ।
पिट्ठओ परिसप्पन्ति, पिट्ठसप्पी य संभमे ॥

सू० १, ३-४ : ५

अनुकूल परिपह के उपस्थित होने पर मन्द पराक्रमी मनुष्य भारसे पीडित गड़हेकी तरह खेदखिन्न होते हैं । जैसे अग्निके उपद्रव होने पर पृष्ठसर्पी भागनेवालोके पीछे रह जाता है, उसी तरह मूर्ख भी समयियों की श्रेणीसे पीछे रह जाते हैं ।

७—इच्चेव णं सुसेहन्ति, कालुणीयसमुट्ठिया ।
विवद्धो नाइसंगेहिं, तओ गारं पहावइ ॥

सू० १, ३-२ : ६

करुणासे भरे हुए बन्धुवान्धव एव राजादि साधुको उक्त रीति

से शिक्षा देते हैं। पश्चात् उन ज्ञातियोंके सग से बंधा हुआ पामर साधु प्रव्रज्या छोड़ घरकी ओर दीटता है।

८—जहा रूपखं वणे जायं, मालुया पडिबंधइ ।
एवं णं पडिबंधंति, नाइओ असमाहिणा ॥

सू० १, ३-२ : १०

जैसे वनमें उत्पन्न वृक्ष को मालुका लता घेर लेती है, उसी तरह असमाधि उत्पन्न कर ज्ञातिवर्ग साधु को बाध लेते हैं।

९—विबद्धो नाऽसंगेहि, हत्थी वा वि नवगहे ।
पिट्ठओ परिसप्पंति, सुय गो व्य अदूरए ॥

सू० १, ३-२ : ११

ज्ञातियोंके स्नेह-पाशमें बंधे हुए साधु की स्वजन उसी तरह चीकसी रखते हैं, जिस तरह नए पकड़े हुए हाथी की। जैसे नई व्याई हुई गाय, अपने बच्चे से दूर नहीं हटती, उसी तरह परिवार वाले उमके पीछे चलते हैं।

१०—एए संग्गा मणूसाणं, पायाला व अतारिमा ।
कीवा जत्थ य किस्संति, नाइसंगेहि मुच्छिया ॥

सू० १, ३-२ : १२

यह माता-पिता आदिका स्नेह-सम्बन्ध, मनुष्योंके लिए उसी तरह दुस्तर है, जिस तरह अथाह समुद्र। इस स्नेहमें मूर्छित—आसक्त—शक्तिर्ह न पुरुष ससारमें क्लेश भंगते हैं।

११—तं च भिक्खू परिज्जाय, सव्वे संग्गा महासवा ।
जीविथं नावकंखिज्जा, सोक्खा धम्ममणुत्तरं ॥

सू० १, ३-२ : १३

साधु ज्ञाति-ससर्ग को ससारका कारण जानकर छोड़ देवे।

सर्व संग—सम्बन्ध-कर्मों के महान् प्रवेश द्वार है । सर्वोत्तम धर्मको सुन कर साधु असयम जीवनकी इच्छा न करे ।

१२—अणुसुओ उरालेसु, जयमाणो परिञ्चए ।

चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थ हियासए ॥

सू० १, ६ : ३०

उदार भोगोंके प्रति अनासक्त रहता हुआ मृमृक्ष, यत्नपूर्वक सयममें रमण करे । धर्मचर्चामें अप्रमादी हो और कष्ट आ पड़ने पर अदीन भावसे—हर्षपूर्वक सहन करे ।

१३—अह णं वयमावन्नं, फासा उच्चावया फुसे ।

न तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण च महागिरी

सू० १, ११ : ३७

जिस तरह महागिरी वायुके झोंकेसे डोलायमान नहीं होता, उसी तरह व्रतप्रतिपन्न पुरुष सम-विपम, ऊँच-नीच, अन्कूल-प्रतिकूल परिपहोंके स्पर्श करने पर धर्म-च्युत नहीं होता है ।

१२ : स भिक्षुः स पूज्यः

१—निषखम्ममाणाइ य बुद्धवयणे, निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा ।

इत्थीण वसं न यावि गच्छे, वंतं नो, पडिआयइ जे स भिक्खू ॥

द० १० : १

जो जिनपुरुषोंके उपदेशसे निष्क्रमण कर—प्रब्रज्या ले—बुद्ध वचनो मे सदा चित्तसमाधिवाला होता है, जो स्त्रियोंके दक्षीभूत नहीं होता और जो वमन किये हुए भोगोंको पुन ग्रहण नहीं करता—वह सच्चा भिक्षु है ।

२—चत्तारि वमे सया कसाए, धुवजोगी हविज्ज बुद्धवयणे ।

अहणे निज्जायरुवरयए, गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥

द० १० : ६

जो क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कपायोंका सदा परित्याग करता है, जो बुद्ध—तीर्थंकरोंके वचनोमे धृन्नयोगी—स्थिर श्रद्धावाला—होता है, जो चादी-सोना आदि किसी प्रकारका परिग्रह नहीं रखता और जो सदा गृहस्थोंके साथ योग—स्नेह-सम्बन्धका * परिवर्जन करता है—वह सच्चा भिक्षु है ।

३—सम्मदिट्ठी सया अमूढे, अत्थि हु नाणे तवे संजमे य ।

तवसा धुणइ पुराणपावर्गं, मणवयकायसुसंबुढे जे स भिक्खू ॥

द० १० : ७

जो सम्यग् दृष्टि है, जो सदा अमूढ है—कर्त्तव्य विमूढ नहीं है, जो ज्ञान, तप और सयममें सदा विश्वासी है, जो मन, वचन और शरीरको अच्छी तरह सवृत कर रखनेवाला है, जो तप द्वारा पुराने पाप-कर्मोंको धुन डालता है—नष्ट कर देता है वह सच्चा भिक्षु है ।

४—न य दुग्गहियं कहं कहिज्जा, न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते ।
संजमे धुवं जोगेणजुत्ते, उवसंते अविहेइए जे स भिक्खू ॥

द० १० : १०

जो कलह उत्पन्न करनेवाली कथा नहीं कहता, जो किसी पर क्रोध नहीं करता, जो इन्द्रियोको सदा वशमें रखता है, जो मनसे उपशान्त है, जो सयममें सदा धुन्नयोगी—स्थिर मन है, जो कष्टके समय आकुल-व्याकुल नहीं होता और जिसकी कर्त्तव्यके प्रति उपेक्षा नहीं होती, वह सच्चा भिक्षु है ।

५—असइं वोसट्टुचत्तदेहे, अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा ।
पुढविसमे मुणी हविज्जा, अनियाणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू

द० १० : १३

जो मुनि सदा त्यक्तदेह होता है, जो आक्रोश किये जाने, पीटे जाने या घायल किये जाने पर भी पृथ्वीके समान क्षमाशील होता है, जो निदान—फलकी कामना नहीं करता तथा जो नाच-गान आदि में उत्पुक्ता नहीं रखता वही सच्चा भिक्षु है ।

६—अभिमूय काएण परीसहाइं, समुद्धरे जाइपहाउअप्पयं ।
विइत्तु जाईमरणं महच्चभयं, तवे एए सामणिए जे स भिक्खू ॥

द० ११ : १४

जो शरीरसे परिपहोको जीतकर, जाति-पथ—विविध योनिरूप ससारसे अपनी आत्माका समुद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरणको

महाभयंकर जानकर समय और तपमें रत रहता है वह सच्चा भिक्षु है ।

७ हृत्थसंजए पायसंजए, वायसंजए संजए इंदिए ।

— अज्मप्परए सुसमाहिअप्पा, सुत्तत्थं च विआणइ जेस भिक्खू ॥

द० ११ : १५

जो हाथोंसे सयत है, पैरोंसे सयत है, बाणोंसे संयत है, इन्द्रियोंसे सयत है, जो आध्यात्ममें रत है, जो आत्मासे सुसमाहित है और सूत्रार्थको यथार्थ रूपसे जानता है वह सच्चा भिक्षु है ।

८— न जाइमत्ते न य ख्वमत्ते, न लाभमत्ते न सुएणमत्ते ।

मयाणि सच्चाणि विचज्जइत्ता, धम्मज्जाण ए जे स भिक्खू ॥

द० ११ : १६

जो जातिका मद नहीं करता, रूपका मद नहीं करता, लाभका मद नहीं करता, श्रुत—ज्ञानका मद नहीं करता—इस प्रकार सब मदोंको विवर्जन कर जो धर्मध्यानमें सदा रत रहता है वह सच्चा भिक्षु है ।

९— गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिणहाहि साहू गुणमुञ्चऽसाहू ।

वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥

द० ६ । ३ : ११

गुणोंसे साधु होता है और अगुणोंसे असाधु । सद्गुणोंको ग्रहण करे और दुर्गुणोंको छोड़े । जो अपनी ही आत्मा द्वारा अपनी आत्माको जानकर राग और द्वेषमें समभाव रखता है वह पूज्य है ।

१०— सक्का सहेउं आसाइ कंटया, अओमया उच्छहया नरेणं ।

अणासए जो उ सहेज्ज कंटए, वईमए कणसरे स पुज्जो ॥

द० ६ । ३ : ६

उच्च कामनाकी आशासे मनुष्य लोहके तीक्ष्ण वाणोको सहन रनेमें समर्थ हो सकता है किन्तु कानोमे वाणोकी तरह चुभनेवाले कठोर वचन रूपी वाणोको जो सहन कर लेता है वह पूज्य है ।

११—समावययंता वयणाभिघाया, कन्नं गया दुम्मणियं जणंति ।
धम्मु त्ति किञ्चा परमगसूरे, जिडंदिए जो सहई स पुज्जो ॥

द० ६। ३ : ८

समूहरूपसे आते हुए कठोर वचन रूपी प्रहार कानमें पड़ते ही दीर्घनस्यभाव उत्पन्न कर देते हैं किन्तु 'क्षमा करना परम धर्म है' ऐसा मानकर जो इन्हे समभावपूर्वक सहन कर लेता है, वह क्षमासूर और जितेन्द्रिय पुरुष पूज्य है ।

१२—संथारसिज्जासणभत्तपाणे, अप्पिच्छया अइलाभे वि संते ।
जो एवमप्पाणभित्तोसएज्जा, संतोसपाहन्नरए स पुज्जो

द० ६। ३ : ५

जो सस्तारक, घय्या, आसन और भोजन-पान आदिके अधिक मिलने पर भी अल्प इच्छावाला होता है और सतोषकी प्रधानता रखता है—इस प्रकार जो साधु अपनी आत्माको सदा तुष्ट रखता है—वह पूज्य है ।

१३ : मार्ग

छन्दनिरोहेण उवेइ मोक्खं, आसे जहा सिक्खियवम्मधारी ।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्तो, तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥

उत्त० ४ : ८

स्वच्छन्दताके निरोधते जीव उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करता है जिस प्रकार शिक्षित कवचधारी घोड़ा युद्धमें विजय । अतः मुनि अप्रमत्त होकर रहे । ऐसा करनेसे पूर्व वर्षोंके संचित कर्मोंसे छटकारा पाकर वह शीघ्र मोक्षको प्राप्त करता है ।

मन्दा य फासा बहुलोहणिज्जा, तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा ।
रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं, मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं ॥

उत्त० ४ : १२

वृद्धिको मन्द करनेवाले और बहुत लुभानेवाले स्पर्शोंमें साधु अपने मनको न लगावे । क्रोधसे अपनी रक्षा करे, मानको टाले, कपटका सेवन न करे और लोभको छोड़ दे ।

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयन्तं, अणेगरूवा समणं चरन्तं ।
फासा फूसन्ति असमंजसं च, न तेसि भिक्खु मणसा पडस्से ॥

उत्त० ४ : ११

बार बार मोह गुणको जीतकर चलनेवाले भ्रमणको जीवनमें अनेक प्रकारके दुःखद यी स्पर्श स्पर्श करते हैं । भिक्षु उनके स्पर्श करने पर मनसे भी द्वेष न करे ।

विजहित्तु पुव्वसंजोयं, न सिणेहं कर्हिचि कुव्वेज्जा ।
असिणेह सिणेहकरेहिं, दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू ॥

उत्त० ८ : २

पूर्व सयोगको छोड़ चुकने पर फिर किसी भी वस्तुमें स्नेह न करे ।
स्नेह—मोह करनेवालोंके बीच जो नि.स्नेही—निर्मोही हांता है, वह
भिक्षु दोष प्रदोषसे छुट जाता है ।

दुपरिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।

अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरन्ति अतरं वणिया वा ॥

उत्त० ८ : ६

ये काम दुस्त्यज है । अधीर पुरुषों द्वारा सहज में त्याज नहीं ।
सुव्रती साधु इन दुस्तर कामभागोंको उसी तरह तैर जाते हैं, जिस
तरह वणिक् समुद्रको ।

समणा मु एगे वयमाणा, पाणवहं भिया अयाणन्ता ।

मन्दा नरयं गच्छन्ति, वाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ॥

उत्त० ८ : ७

‘हम साधु है’—ऐसा कहनेवाले पर प्राणिवधमें पाप नहीं जानने
वाले मृगके समान मन्दबुद्धि पुरुष अपनी पापपूर्ण दृष्टिसे तरक
जाते हैं ।

न हु पाणवहं अणुजाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं ।

एवं आयरिएहिं अषखायं, जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नतो ॥

उत्त० ८ : ८

जिन आचार्योंने इस साधु-वर्मका कथन किया है, उन्होंने कहा है
कि प्राणिवधका अनुमोदन करनेवाला अवश्य ही कभी भी सर्व दु.खोंसे
नहीं छुट सकता ।

इह जीवियं अणियमेत्ता, पञ्चमहा समाहिजोएहिं ।

ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काए ॥

उत्त० ८ : १४

जो इस जीवनको वशमे न कर, समाधियोगसे परिभ्रष्ट होते हैं,
वे कामभोग और रसमे गृह जीव अमुरकायमें उत्पन्न होते हैं ।

तत्तो वि य उव्वट्ठिता, संसारं वहुं अणुपरियडन्ति ।

वहुकम्मलेवलित्तार्णं, बोही होई सुदुल्लहा तेसिं ॥

उत्त० ८ : १५

वहाने भी निकल वे ममारने बहु परंठन करते हैं । बहुत
कर्मके लेपने लिप्त उन्हें पुन बोधिका पाना अत्यन्त दुर्लभ होता है ।

नारीसु नोवगिज्झेज्जा, इत्थी विप्पज्जे अणगारे ।

धम्मं च पेसलं णच्चा, तत्थ ठविज्ज भिक्खु अत्थाणं ॥

उत्त० ८ : १६

अनगार स्त्रियोके ससर्गको छोडे और जनमें मूर्च्छित न हो ।
भिक्षु धर्मको सुन्दर जानकर उसमें अपनी आत्माको स्थापन करे ।

चत्तपुत्तकलत्तस्स, निव्वाचारस्स भिक्खुणो ।

पियं न विज्जई किचि, अप्पियं पि न विज्जई ॥

उ० ९ : १५

जो भिक्षु पुत्र-कलत्रको छोड़ चुका और जो व्यापारसे रहित
है, उसके लिए कोई चीज प्रिय नहीं होती और न कोई अप्रिय होती है ।

वहुं खु मुणिणो भई, अणगारस्स भिक्खुणो ।

सन्वओ विपमुक्कस्स, एगन्तमगुपस्सओ ॥

उ० ९ : १६

जो एकान्त रूपसे आत्म-गवेषी है, जो सर्व प्रकारसे बन्धनोसे मुक्त
अणगार और भिक्षु है, उस मुनिको सदा ही भद्र—कल्याण—क्षेम है ।
अहिंस सच्चं च अतेणगं च, तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च ।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाइं, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥

उ० २१ : १२

विद्वान, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्म और परिग्रह इन पाच महा-
व्रतोंको ग्रहण कर जिनोपदिष्ट धर्मका आचरण करे ।

सञ्चेहि भूएहि दयाणुकंपी, खंतिक्खमे संजयवंभयारी ।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो, चरेज्ज भिक्खू सुसमाहिइं दिए ॥

उ० २१ : १३

भिक्षु सर्व भूतोंके प्रति दयानुकंपी हो । वह क्षमाशील हो, सयमी
हो, ब्रह्मचारी हो । सर्व सावद्य योगका वर्जन करता हुआ भिक्षु
इन्द्रियोंको अच्छी तरह दमन करता हुआ रहे ।

१४ : निस्पृहता

१—निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो ।

समो अ सच्चभूणसु, तसेसु थावरेसु अ ॥

उत्त० १६ : ६०

अनगार निर्मम—ममता रहित, अहंकार रहित, बाह्य और
अन्यन्तर संग रहित तथा त्यक्तगौरव होता है । वह नर्वभूतो—अम
और स्वावर प्राणियोंके प्रति समभाववाला होता है ।

२—लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तथा ।

समो निन्दापसंसासु, समो माणावमाणओ ॥

उत्त० १६ : ६१

अनगार लाभ-अलाभ, सु-ख-दु-ख, जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा
और मान-अपमान सबमें समभाववाला होता है ।

३—गारवेसु कसाणसु, दंडसल्लभणसु थ ।

निअत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अवंधणो ॥

उत्त० १६ : ६२

अनगार गारव (ऋद्धि, रस, सुख का गर्व), कपाय (क्रोध-मान-
माया-लोभ), दण्ड (मन, वचन, काया की दुष्प्रवृत्ति), शल्य (माया,
निदान, मिथ्यात्व), भय और हर्ष-शंकासे निवृत्त होता है । यह
फलकी कामना नहीं करता और बधन रहित होता है ।

४—अणित्सिओ इहं लोए, परलोए अणित्सिओ ।

वासीचन्दणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा ॥

उत्त० १६ : ६३

वह इहलोकके (सुखो) की इच्छा नहीं करता, न परलोकके (सुखो) की इच्छा करता है । वसीलासे छेदा जाता हो या चदनसे लेपा जाता, आहार मिलता हो या न मिलता हो, वह समभाववाला होता है ।

५—अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहिआसवो ।

अज्झप्पज्झाणजोगेहिं, पसत्थदमसासणो ॥

उत्त० १६ : ६४

अनगार अप्रशस्त द्वार—कर्म आनेके हेतु—हिंसादिको चारो ओर से रोकर अनासव होता है तथा आध्यात्मिक ध्यानयोगसे प्रशस्त दम और शासनवाला होता है ।

६—सुक्कज्जाणं भियाएज्जा, अनियाणे अकिंचणे ।

वोसट्टकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥

उत्त० ३५ : १६

अनगार शकल ध्यान ध्याता रहे । जीवन-पर्यन्त फलकी कामना न करता हुआ अकिंचन और त्यक्तदेह होकर रहे ।

७—एवं नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य ।

भावणाहि अ सुद्धाहिं, सम्मं भावित्तु अप्पयं ॥

उत्त० १६ : ६५

निज्जूहिऊण आहारं, कालधम्मो उवट्टिए ।

जहिऊण माणुसं वोदि, पभू दुक्खे विमुच्चई ॥

उत्त० ३५ : २०

अनगार इस तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप और शुद्ध भावनासे आत्माको भावित करता हुआ कालधर्म—मृत्युके उपस्थिति होने पर आहारका परित्याग कर, इस मनुष्य शरीरको तज, विशेष सामर्थ्यवाला होता हुआ सर्व दुखोंसे मुक्त होता है।

८—निम्ममे निरहंकारे, वीयरगो अणासवे।

सपत्ते केवलं नाणं, सासयं परिणिव्वुए ॥

उत्त० ३५ : २१

ममता रहित, अहकार रहित, आलस्य रहित वीतराग अनगार केवलज्ञानको प्राप्त कर हमेशाके लिए परिनिवृत्त होता—मुक्त होता है।

१५ : अनुस्रोत

१—अणुसोयसुहो लोओ, पडिसोओ आसवो सुविहिआणं ।

अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥

द० चू० २ : ३

लोगोको अनुस्रोतमे—विषयोके साथ वहनेमे—ही सुख प्रतीत होता है । साधु पुरुषोका समय प्रतिस्त्रोत है—विषयोसे अलग होना है । अनुस्रोत ससार-समृद्धमें वहना है । प्रतिस्त्रोत ससार-समृद्धसे पारहूँहोना है ।

२—अणुसोयपट्टिय बहुजणम्मि, पडिसोय लद्ध लक्ष्खेणं ।

पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होड कामेणं ॥

द० चू० २ : २

बहुतसे मनुष्य अनुस्रोतगामी होते हैं, पर जिनका लक्ष्य किनारे पहुँचना है, वे प्रतिस्त्रोतगामी होते हैं । जो ससार-समृद्धसे मुक्ति पानेकी इच्छा करते हैं, उन्हें अनुस्रोत—विषयपराङ्मुखतामें आत्माको स्थिर करना चाहिए ।

३—जो पुण्वरत्तावररत्तकाले, संपेहए अप्पगमप्पणं ।

कि से कडं कि च मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरासि ॥

कि मे परो पासइ कि च अप्पा, किं वाहं खलियं न विवज्जयासि ।

इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो, अणागयं नो पडिवंधं कुज्जा ॥

द० चू० २ : १२, १३

साधु रात्रिके प्रथम और पिछले पहरमें अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्माको देखे कि मैंने क्या-क्या करने योग्य कार्य किये है, क्या-क्या कार्य करने शेष है, वे कौन-कौनसे कार्य हैं, जिन्हे करनेकी शक्ति तो है किन्तु कर नहीं रहा हूं ।

मुझे दूसरे कौसा पाते हैं, अपनी आत्मा मुझे कौसा पाती है, मैं अपनी किन-किन भूलोको नहीं छोड़ रहा हू ।

इस प्रकार अपने आपको अच्छी तरह देखनेवाला भविष्यमें दोष नहीं लगाता ।

४—जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अट्ट माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा, आइन्नओ खिप्पमि वक्खलीणां ।।

द० चू० २ : १४

जब कभी अपने आपको मन, वचन, कायासे कही भी दुष्प्रवृत्त होते देखे तो धीर पुरुष, जैसे घोड़ेको लगामसे खींच लिया जाता है, उसी तरह उसी क्षण अपने आपको उस दुष्प्रवृत्तिसे हटा ले ।

५—जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स, धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं ।
तमाहु लोए पडिवुद्धजीवी, सो जीयई संजमजीविणं ॥

द० चू० २ : १५

जिस धृतिवान, जितेन्द्रिय सत्पुरुषके मन, वचन, कायाके योग इस प्रकार नित्य वशमें रहते हैं उसे ही लोकमें प्रति बुद्धजीवी—सदा जागृत—कहा जाता है । सत्पुरुष हमेशा संयमी जीवन जीता है ।

६—अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सन्विदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खियो जाइपहं उवेइ, सुरक्खियो सव्वदुहाण मुच्चइ ॥

द० चू० २ : १६

सर्वे इन्द्रियोको अच्छी तरह वशमें कर आत्माकी (पापोसे)
 अवश्य ही सतत् रक्षा करनी चाहिए । जो आत्मा सुरक्षित नहीं होती,
 वह जाति-पथमें—भिन्न-भिन्न योनियोमें—जन्म-मरण ग्रहण करती
 है, जो आत्मा सुरक्षित होती है वह सर्व दुःखोसे मुक्त हो जाती है ।

१६ : अप्रमाद

१—असंख्यं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते, कं नु विहिंसा अजया गहिंति ॥

उत्त० ४ : १

यह जीवन साधा नहीं जा सकता, अतः जरा भी प्रमाद मत करो ।
जराक्रान्तके लिए कोई शरण नहीं, ऐसा जानो । जो प्रमत्त, हिंसक
और अजितेन्द्रिय हैं वे मरण-कालमें किसकी शरण ग्रहण करेंगे ?

२—सुत्तेसु या वि पड्ढिबुद्धजीवी, न वीससे पण्डिए आसुपन्ने ।
घोरा मुहुत्ता अचलं सरिरं, भारंडपक्खी व चरेऽपमत्ते ॥

उत्त० ४ : ६

पण्डित सोयेहुओमें जागृत रहे । वह एक क्षणका भी विश्वास न
करे । मूहत्तं—काल निर्दय है और शरीर निर्बल । आशुप्रज्ञ पुरुष
भारडपक्षी की तरह हमेशा अप्रमत्त रहे ।

३—चरे पयाइं परिसंक्रमाणो, जं किंचि पासं इह मण्णमाणो ।
लाभंतरे जीवियं वूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावर्थसी ॥

उत्त० ४ : ७

वे भी पाप हैं, उन्हें पाश रूप मानता हुआ मनुष्य पद-पद पर
ढरता हुआ चले । जीवनसे धर्मरूपी लाभ दिखाई दे तब तक उसकी

१—इन पक्षियोंके दो ग्रीवा और तीन टांगे होती हैं ।

रक्षा करे फिर उसे त्याग कर कर्मरूपी मलका नाश करनेवाला हो ।

४—स पुण्यमेवं न लभेज्ज पच्छा, एसोवमा सासयवाइयाणं ।
विसीयई सिद्धिले आउयम्मि, कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥

उत्त० ४ : ६

‘अब नहीं किया तो क्या ? आगे कर लेंगे’—यह तर्क शाश्वत-वादीयों की है । जो पहले अप्रमादी नहीं होता वह पहलेकी तरह पीछे भी अप्रमादी नहीं होता । कालके आ पहुँचने पर जब शरीरका भेद होने लगता है तो शिथिल आयु—मात्रवाला वह केवल विषाद करता है ।

५—खिपं न सक्केइ विवेगमेउं, तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।
समिच्च लोयं समया महेसी, अप्पाणुरक्खी चरमप्पमत्तो ॥

उत्त० ४ : १०

नर-जन्म बीत जानेके बाद प्राणी शीघ्र विवेक नहीं प्राप्त कर सकता । अतः कामभोगको छोड़, धर्मके लिए जागृत हो । महर्षि लोकके जीवोको समभावसे देखे और आत्माकी रक्षा करता हुआ अप्रमत्तभावसे चले ।

६—जे संखया तुच्छ परप्पवाई, ते पिज्जदोसाणुगया परज्झा ।
एए अहम्मो त्ति दुगंछमाणो, कंखे गुणे जाव सरीरमेओ ॥

उत्त० ४ : १३

जो सत्कारहीन हैं, तुच्छ हैं, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले हैं—
सेसे लाचार मनुष्य राग द्वेषसे युक्त हैं । इन अधर्मों—
दुर्गणोंसे घृणा करता हुआ सुमूक्षु शरीर-भेद पर्यन्त सदगुणोक्ती
भाकाक्षा—आराधना करता रहे ।

१७ : मुनि और चित्तसमाधि

१—जया य चयई धम्मं, अणज्जो भोगकारणा ।
से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नाववुज्झइ ॥

द० चू० १ : १

जब अनार्य साधु, भोगलिप्सासे धर्मको छोड़ता है, उस समय कामभोगमें मूर्छित मूर्ख अपने भविष्य को नहीं समझता ।

२—जया य पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो ।
राया व रज्जपव्भट्टो, स पच्छा परितप्पइ ॥

द० च० १ : ५

जब सयमी रहता है तब साधु पूज्य होता है, किन्तु सयमसे भ्रष्ट होने पर वह अपूज्य हो जाता है । राज्यच्युत राजाकी तरह वह पीछे अनुताप करता है ।

३—देवलोगसमाणो य, परियाओ महेसिणं ।
रयाणं अरयाणं च, महानरयसारिसो ॥

द० चू० १ : १०

संयममें रत बहुषियोके लिए चरित्रपर्याय देवलोकके समान (सुखकारक) होती है । जिन्हे संयममें रति नहीं, उनके लिए वही चरित्रपर्याय महानरकके सदृश कष्टदायक होती है ।

४—धम्माड भट्टं सिरिओ अवेयं, जन्नग्गिविज्जाअमिवप्पतेयं ।
हीलंति णं दुब्बिहियं कुसीला, दाढुद्धियं धोरविसं व नागं ॥

द० चू० १ : १२

जिस तरह अल्पतेज बुभी हुई यज्ञाग्नि और उखड़े हुए दाढ़वाले विषधर सर्पकी हर कोई अवहेलना करते हैं, उसी तरह जो धर्मसे भ्रष्ट और चरित्र रूपी लक्ष्मीसे रहित होता है उस साधु की दुष्ट और कुशील भी निन्दा करते हैं ।

५—इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती, दुन्नामधिज्जं च पिहुज्जणंमि ।
च्युत्स धम्माड अहम्मसेविणो, संभिन्नवित्तस्स य हिट्ठओ गई ॥

द० चू० १ : १३

जो धर्मसे च्युत होता है और अधर्मका सेवन करता है उसका इस लोकमें साधारण लोगोमें भी दुर्नाम होता है । वह अधर्मी कहा जाकर अयश और अकीर्तिका पात्र बनता है । व्रत भंग करनेवालेकी परलोकमें अधम गति होती है ।

६—भुंजित्तु भोगाइं पसज्फ च्चेयसा, तहाविहं कट्टु असंजमं वहुं ।
गइं च गच्छे अणभिज्जियंदुहं, वोही य से नो सुलहा पुणो पुणो ॥

द० चू० १ : १४

सयमभ्रष्ट मनुष्य दत्तचित्तसे भोगोंको भोगकर तथा अनेक प्रकारके असंयमका सेवन कर दुःखद अनिष्ट गतिमें जाता है । बार-बार जन्म-मरण करने पर भी उसे बोधि सुलभ नहीं होती ।

७—इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो, दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो ।
पल्लिओवमं म्मिज्फइ सागरोवमं, किमंग पुण मज्फ इमं मणोटुहं ॥

द० चू० १ : १५

नरकमें गये हुए दुःखसे पीडित और निरन्तर क्लेशवृत्ति वाले जीवकी जब नरक सम्बन्धी पत्योपम और सागरोपमकी आयु भी समाप्त हो जाती है तो फिर मेरा यह मनो दुःख तो कितने कालका है ?
 ८—न मे चिरं दुःखमिणं भविस्सइ,असासया भोगपिवास जंतुणो ।
 न चे सरीरेण इमेणऽविस्सइ, अविस्सई जीवियपज्जवेण मे ॥

द० चू० १ : १६

यह मेरा दुःख चिरकाल तक नहीं रहेगा । जीवो की भोगपिपासा अशाश्वती है । यदि विषयतृष्णा इस शरीरसे न जायगी तो मेरे जीवन्तके अन्तमें तो अवश्य जायगी ।

९—जस्सेवमप्पा ळ ह्विज्ज निच्छिओ,चइज्जदेहं न हु धम्मसासण ।
 तं तारिसं नो पइलंति इंदिया, उर्वितवाया व सुदंसण गिरिं ॥

द० चू० १ : १७

जिसकी आत्मा इस प्रकार दृढ़ होती है, वह देह को त्यज देता है पर धर्म-शासन को नहीं छोड़ता । इन्द्रियाँ—विषय सुख—ऐसे दृढ़ धर्मी मनुष्य को उसी तरह विचलित नहीं कर सकती जिस तरह महाबायु सुदर्शन गिरि को ।

१८ : निर्ग्रन्थ

१—पंचासव परिणयाया, तिगुत्ता छसु संजया ।

पंचनिग्गहणा धीरा, निर्गन्था उज्जुदंसिणो ॥

द० ३ : ११

निर्ग्रन्थ, पचाश्रवको जाननेवाले, तीन गुप्तियोसे गुप्त, छ ही प्रकारके जीवोके प्रति संयमी, पांचो ही इन्द्रियोको निग्रह करनेवाले तथा धीर और ऋजुदर्शी होते हैं ।

२—आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवालडा ।

वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥

द० ३ : १२

सुसमाविस्य संयमी निर्ग्रन्थ, ग्रीष्मकालमें सूर्यकी आतापना लेते हैं, शीतकालमें अल्पान्छन्न होते हैं, और वर्षामें प्रतिसंलीन—इन्द्रियो को वशमें कर अन्दर रहते हैं ।

३—परीसहरिउदंता, धूअमोहा जिइंदिया ।

सव्वदुक्खलपहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥

द० ३ : १३

महर्षि निर्ग्रन्थ, परिषहरूपो शत्रुओको जीतनेवाले, धुतमोह और जितेन्द्रिय होते हैं तथा सर्व दुखोके नाशके लिए पराक्रम करते हैं ।

४—दुष्कराईं करिणां, दुत्सहाईं सहिसु य ।
केइत्य दैवलोल्लु, केइ सिज्जन्ति चोरया ॥

इ० ३ : १४

दुष्कर करनी कर और दुःसह काष्ठोंको सहन कर कई देवलोको जाते हैं और कई सम्पूतः निरज—वनरजसे रहित जाते हैं ।

५—खवित्ता पुव्वकन्माईं, संजनेण तणेण य ।
सिद्धिमग्गनणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुडे ॥

इ० ३ : १५

छः काष्ठके त्रायी निर्वास्य, संयम और तप द्वारा पूर्व उचित कर्मोंका फल कर, सिद्धिमार्गको प्राप्त हो, परिनिवृत्त—मृत होते हैं ।

६—तयो गुणपहाणत्स, उज्जुमइ खंतिसंजसरयत्स ।
परोसहे जिणंतत्स, सुलहा सुगई वारिसगत्स ॥

इ० ४ : २७

जिसके जीवनमें तपस्वी गुणको प्रधानता है, जो ऋजुनति है, जो सांति और संयममें लदलौन है, जो परिपहोको जितनेबला है—ऐसे साधुके लिए मुक्ति सुलभ है ।

७—सुहसायगत्स सनणत्स, सायाउल्लगत्स निगान्साइत्स ।
उच्छोलणा पहीयत्स, दुल्लहा सुगई वारिसगत्स ॥

इ० ४ : २६

जो श्रमण सुखका स्वादी होता है, साक्षात्के लिए बाकूल होता है, जो अत्यन्त निद्राशील होता है और जो हाथ पैर आदि चीजोंके लिए उठा रहता है—ऐसे साधुके लिए मुक्ति दुर्लभ है ।

१९ : कौन संसार-भ्रमण नहीं करता ?

१—रागहोसे अ दो पावे, पावकम्मपत्रत्तणे ।
जे भिक्खू रुं भइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥

उत्त० अ० ३१ : ३

राग और द्वेष—ये दो पाप हैं, जो ज्ञानावरणीय आदि पाप कर्मोंके प्रवर्तक हैं । जो भिक्षु इन्हे रक्षता—रोकता है, वह संसारमें भ्रमण नहीं करता ।

२—दुंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तिर्यं तिर्यं ।
जे भिक्खू चयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥

उत्त० अ० ३१ : ४

तीन दंड^१, तीन गौरव^२ तथा तीन शल्य^३—इन तीन-तीनका जो भिक्षु नित्य त्याग करता है, वह संसारमें चक्कर नहीं काटता ।

३—विगहाकसायसण्णाणं, म्हाणाणं च दुअं तथा ।
जे भिक्खू वज्जई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥

उत्त० अ० ३१ : ६

१—मन दंड, वचन दंड और काया दण्ड ।

२—ऋद्धिका गर्व, रसका गर्व और साता—सुखका गर्व ।

३—माया, निदान (फल-कामना), और मिथ्यात्व ।

चार विकथा^४, चार कपाय^५, चार सज्ञा^६ और चार ध्यानमेंसे दो ध्यान^७—जो भिक्षु इन्हे नित्य टालता है, वह ससारमें चक्कर नहीं काटता ।

४—मणसु वंभगुत्तीसु, भिक्खुधम्मम्मि दसविहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥

उत्त० अ० ३१ : १०

आठ प्रकारके मद^८ त्याग, ब्रह्मचर्यकी नौ गुप्ती^९ और दश प्रकारके भिक्षु-धर्म^{१०} के प्रति जो भिक्षु यत्न करता है—वह ससारमें चक्कर नहीं काटता ।

४—राज कथा, देश कथा, भाजन कथा और स्त्री कथा ।

५—क्रोध, मान, माया और लोभ ।

६—आहार सज्ञा, भय सज्ञा, मैथून सज्ञा और परिग्रह सज्ञा ।

७—मार्त्तंध्यान और रौद्रध्यान ।

८—जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, ऐश्वर्यमद, श्रुतमद,
और लाभमद ।

९—देखिये पीछे पृ० २३९-५०

१०—ज्ञाति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति (निर्गमता), तप, समय, सत्य,
शौच, आकिचन्य और ब्रह्मचर्य ।

२० : विनयी बनाम अविनयी

१—खड्गुया मे चवेडा मे, अक्कोसा य वहा य मे ।

कल्लाणमणुसासन्तो, पावदिट्ठि त्ति मण्णइ ॥

उत्त० १ : ३८

पाप दृष्टि शिष्य गुरु द्वारा हितके लिए किए गए अनुशासनको इस प्रकार मानता है जैसे कोई ठोकरे मारता है, चपेटा मारता है, कोमता है और उसका वध करता है ।

२—पुत्तो मे भाय णाइ त्ति, साहु कल्लाण मण्णइ ।

पावदिट्ठि उ अप्पाणं, सासं दास त्ति मण्णइ ॥

उत्त० १ : ३६

विनीत शिष्य गुरुके अनुशासनको पुत्र, भ्राता और ज्ञाति जनोको दिए गए शिक्षणके समान हितकारी मानता है और पापदृष्टि मूर्ख शिष्य उसी हितकारी अनुशासनको अपने लिए दासत्वकी शिक्षाके समान मानता है ।

३—अणासवा थूलवया कुसीला, मिउं पि चण्डं पकरंति सीसा ।

चित्ताणुया लहु दक्खोववेया, पसायए ते हु दुरासयं पि ॥

उत्त० १ : १३

गुरुके वचनको न माननेवाले और बिना विचारे बोलनेवाले कुर्बल शिष्य मृदु स्वभाववाले गुरुको भी क्रोधो कर देते हैं । गुरुके चित्तके

अनुसार चलनेवाले और थोड़े बोलनेवाले चतुर शिष्य अतिक्रोधी गुरु
 ो भी अपने गुणोंसे प्रसन्न कर लेते हैं ।

४—आणाणिहेसकरे, गुरुणमुववायकारए ।

इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति बुच्चई ॥

उत्त० १ : २

गुरुके आज्ञा और निर्देशका पालन करनेवाला, उसके समीप
 रहनेवाला तथा गुरुके इङ्गित और आकारको भली-भांति समझनेवाला
 शिष्य विनयी कहलाता है ।

५—आणाऽणिहेसकरे, गुरुणअणुववायकारए ।

पडिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति बुच्चई ॥

उत्त० १ : ३

जो गुरुके आज्ञा और निर्देशका पालन करनेवाला नहीं होता, उसके
 समीप नहीं रहता तथा जो प्रतिकूल चलनेवाला और बोध रहित होता
 है, वह अविनयी कहलाता है ।

२१ : साधु-धर्म

१—मुसावायं वहिद्धं च, उगहं च अजाइया ।
सत्थादाणाइ लोर्गंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥

सू० १, ६ : १०

झूठ बोलना, मैथन सेवन करना, परिग्रह रखना तथा विना दिया हुआ लेना—ये सब लोकमें दानके समान और कर्मबन्धनके कारण हैं । विद्वान् इन्हे जानकर इनका प्रत्याख्यान करे ।

२—पलिउं चणं च भयणं च, थंढिल्लुत्सयणाणि या ।
धूणादाणाइं लोर्गंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥

सू० १, ६ : ११

माया और लोभ तथा क्रोध और मान, ससारमें कर्मबन्धनके कारण हैं । विज्ञ इनका त्याग करे ।

३—अकुसीले सया भिक्खू, णेव संसगिर्यं भए ।
सुहरूवा तत्थुवस्सगा, पडिवुज्जेज्जे ते विऊ ॥

सू० १, ६ : २८

भिक्षु स्वयं सदा अकुशील होकर रहे । वह कुशल—दुराचारियों का ससर्ग न करे । कुशीलोकी सगतिमें सुखरूप—अनुकूल उपसर्ग—विषय दर्शती है—यह विद्वान् पुरुष जाने ।

४—गिहे दीवमपासन्ता, पुरिसादाणिया नरा ।
ते वीरा वन्धणुम्मुक्का, नावकंखन्ति जीवियं ॥

सू० १, ६ : ३४

गृहमें ज्ञानरूपी दीपक न देख जो पुरुष प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, वे बड़ेसे बड़े हो जाते हैं । ऐसे पुरुष वन्दनसे मुक्त होते हैं । वे वीर पुरुष असयममय जीवनकी इच्छा नहीं करते ।

५—नानारुइं च छन्दं च, परिवज्जेज्ज संजए ।

अणट्ठा जे य सव्वत्था, इइ विज्जासणुसंचरे ॥

उत्त० १८ : ३०

सयमी, नाना प्रकारकी रुचि, स्वच्छताएँ और सारी अनर्थकारी क्रियाओंको छोड़ कर विद्या—ज्ञानका अनुसरण करे ।

६—विर्गिच कम्मणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए ।

सरीरं पाढवं हिच्चा, उद्धं पक्कमई दिसं ॥

उत्त० ३ : १३

परम दुर्लभ अङ्गोंको रोकनेवाले कर्मोंके हेतुओंको दूर कर, क्षमा से संयमरूपी यशका सचय कर । ऐसा करनेसे जीव इस पार्थिव शरीरको छोड़ ऊर्ध्व दिशा—स्वर्ग या मोक्ष—को पाता है ।

७—अइ माणं च मायं च, तं परिन्नाय पण्डिए ।

सव्वमेयं निराकिच्चा, निव्व्राणं संधए मुणी ॥

सू० १, ११ : ३४

पण्डित मुनि अति मान और मायाको जानकर तथा इनको त्याग कर चिर्वाण—मोक्षकी खोज करे ।

८—संधए साहुधम्मं च, पावधम्मं निराकरे ।

उवहाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं न पत्थए ॥

सू० १, ११ : ३५

भिक्षु क्षान्ति आदि साध-धर्मकी वृद्धि करे। पाप धर्मका त्याग करे। तप करनेमें यथाशक्य पराक्रमी भिक्षु क्रोध और मानका वजन करे।

६—लद्धेकामे न पत्येज्जा, विवेगे एवमाहिए।

आयरिचाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ॥

सू १, ६ : ३२

कामभोग प्राप्त हो, तो भी उनकी कामना न करे। ज्ञानियोने त्यागियोके लिए ऐसा ही विवेक बतलाया है। बुद्ध पुरुषके समोप रह कर मुनि सदा सदाचार सीखे।

१०—अगिद्धे सदफासेसु, आरम्भेसु अणिस्सिए,

सव्वं तं समयातीतं, जमेयं लवियं बहु ॥

सू० १, ६ : ३५

सत्य मार्गकी गवेषणा करनेवाले पुरुष, शब्द, रपर्श प्रमुख विषयोमे अनासन्न रहते है तथा छ. कायकी हिंसावाले कार्योमें प्रवृत्ति नही करते। जो सब बाते निषेध की गई है वे समय—जैन दर्शनसे विरुद्ध होनेके कारण निषेध की गई है।

२२ : समाधि

१—आदीणवित्तीव करेइ पावं, मंता उ एगंतसमाहिमाहु ।
बुद्धे समाहीय रए विवेगे, पाणाइवाया विरए ठियप्पा ॥

सू० १, १० : ६

दीन वृत्तिवाला मनुष्य पाप कर्म करता है । मतिवान् पुरुषोने आहारादिके सन्बन्धमें भी एकान्त अदीन भाव रूप समाधिको ही ठीक बतलाया है । बुद्ध पुरुष समाधिमें रत रह कर विवेक पूर्वक प्राणातिपात से बचे और सत्यमें स्थिरात्मा बने ।

२—न कम्मणा कम्म खवेन्ति वाला, अकम्मणाकम्म खवंति धीरा ।
मेहाविणो लोभभयावर्द्धया, संतोसिणो नो पकरेंति पावं ॥

सू० १, १२ : १५

मिथ्यामति जीव सावद्य—पापानुष्ठानसे सचित्त कर्मोंका क्षय नहीं कर सकता । धीर पुरुष सावधानुष्ठानसे विरत होकर पूर्व कर्मोंका क्षय करता है । प्रज्ञावान पुरुष परिग्रह—लोभ भाव—से सम्पूर्ण विरहित हो, सन्तोषभाव धारण कर पाप कर्म नहीं करता ।

३—डहरे य पाणे बुद्धे य पाणे, ते अत्तओ पासइ सब्वलोए ।
उव्वेहई लोगमिणं महंतं, बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएजा ॥

सू० १, १२ : १८

इस जगत्में छोटे शरीरवाले भी प्राणी हैं और बड़े शरीरवाले

भी । इन सबको—सारे जगत्को—आत्मवत् देखना चाहिए । इस लोक के सर्व प्राणियोंको महान् देखता हुआ तत्त्वदर्शी पुरुष प्रमत्तोमे अप्रमत्त होकर चले ।

४—ते णेव कुञ्चन्ति ण कारवन्ति, भूयाहिसंकाइ दुगुंछमाणा ।
सया जया विप्पणमन्ति धीरा, विण्णत्तिवीरा य भवन्ति एणे ॥

सू० १, १२ : १७

पापोंसे घृणा करनेवाले पुरुष, भूतोंके घातकी शकासे कोई पाप नहीं करते और न करवाते हैं । कई ज्ञानमात्रसे वीर बनते हैं क्रियासे नहीं, परन्तु धीर पुरुष सदा समयममें पराक्रम करते हैं ।

५—सहेसु रुवेसु असज्जमाणे, गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे ।
णो जीवियं णो मरणाहिकंखी, आयाणगुत्ते वलया विमुक्के

सू० १, १२ : २२

मनोहर शब्द और रूपमें आसक्त न होता हुआ, बुरे गन्ध और रसमें द्वेष न करता हुआ तथा जीने और मरणकी इच्छा न करता हुआ साधु समयसे गुप्त और मायासे रहित होकर रहे ।

६—न य संखयमाहु जीवियं, तह वि य वालजणो पगव्भई ।
बाले पावेहि मिज्जई इइ, संखाय मुणी न मज्जई ॥

१, २ । २ : २१

यह जीवन सांघा नहीं जा सकता—ऐसा कहा गया है, तो भी मूर्ख प्राणी प्रगल्भतावश पाप करते रहते हैं । मूर्ख पापोंसे ढक जाता है—यह जानकर मुनि मद न करे ।

७—सखणी जह पंसुगुण्डिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं ।
एवं दवियोवहाणं कम्मं, खवइ तवस्सि माहणे ॥

१, २-१-१५

जिस तरह धूलसे भरी हुई शकुनिका अपने शरीरमें लगी हुई षलको पंख हिला कर झाड़ देती है, उसी तरह तपस्वी माहन अनशन आदि तपसे अपने कर्मको झाड़ देते हैं ।

२३ : निर्वाण मार्ग

१—अरइरइसहे पहीणसंथवे, विरए आयहिए पहाणवं ।
परमहपएहिं चिट्ठई, छिन्नसोए अममे अकिंचणे ॥

उत्त० २१ : २१

जो रति और अरतिको सहन करनेवाले हैं, जो गृहस्थके परिचय को नाश कर चुके, जो पापोसे विरत हैं, आत्महित ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, जो छिन्न स्त्रोत हैं तथा जो ममत्व रहित और बर्किचन है— वे ही परमार्थके पथ पर अवस्थित हैं ।

२—सीओसिणा दंसमसाय फासा, आयंका विविहा फुसन्ति देहं ।
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा, रयाइं खेवेज्ज पुराकडाइं ॥

उत्त० २१ : १८

सर्दी, गर्मी, दशमनाक, कठोर तीक्ष्ण स्पर्श, तथा विविध आतक आदि अनेक परिषह मनुष्य शरीरको स्पर्श करते हैं । साधु इन सबको विना किसी विकृतिके सहन करे । ऐसा करनेसे वह पूर्व सचित रजका क्षय करता है ।

३—उवेहमाणो उ परिठ्वएज्जा, पियमप्पियं सव्व तित्थिखएज्जा ।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोयइज्जा, न यावि पूयं गरहं च संजए ॥

उत्त० २१ : १५

साधु विरोधियोकी उपेक्षा करता हुआ समयमें विचरण करे ।
प्रिय और अप्रिय सब सहन करे । जहा जो हो सबमें अभिरुचि न करे ।
न पूजा एवं गर्हाकी स्पृहा करे ।

४—अणोग छन्द मिह साणवेहिं, जे भावओ संपकरेइ भिक्खू ।

भयभेरवा तत्थ उइन्ति भीसो, दिव्वा साणुस्ता अदुवा तिरिच्छा ॥

उत्त० २१ : १६

इस लोकमें मनुष्यके अनेक अभिप्राय होते हैं । यहा देवताओंके,
मनुष्योंके और तीर्थञ्चोंके अनेक भयकर भय उदयमें आते—उत्पन्न
होते हैं । भिक्षु उन सबको समभावसे ले और सहन करे ।

५—परीसहा दुव्विसहा अणोगे, सीयन्ति जत्था वहु कायरा नरा ।

से तत्थ पत्ते न वहिज्ज पंडिए, संगामसीसे इव नागराया ॥

उत्त० २१ : १७

ऐसे अनेक दुःसह परिपह है, जिनके सम्मुख कायर पुरुष व्यथित
हो जाते हैं । पर पण्डित उनके उपस्थित होने पर उसी तरह व्यथित
नहीं होते, जिस तरह सशामके अग्र मुख पर रहा हुआ नागराज ।

६—पहाय रागं च तहेव दोसं, मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणो ।

मेरु व्व वाएण अकम्पमाणो, परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा ॥

उत्त० २१ : १६

विचक्षण भिक्षु, राग, द्वेष तथा मोहको सतत् छोड़े तथा जिस
तरह मेरु वायुसे कम्पित नहीं होता है उसी तरह वह आत्मगुप्त
परिपहोको अकम्पित भावसे सहन करे ।

७—अणुन्नए नावणए महेसी, न यावि पूयं गरिहं च संजए ।

से उज्जुभावं पडिवज्ज संजए, निव्वाणमगं विरए उवेइ ॥

उत्त० २१ : २०

जो न अभिमानी है और न दीनवृत्तिवाला है, जिसका पूजामें उन्नत भाव नहीं और न निन्दामें अवनत भाव है, वह ऋजुभावको प्राप्त सयमी महर्षि पापोसे विरत होकर निर्वाणमार्गको प्राप्त करता है ।

२४ : जीवन सूत्र

(१) नव प्रव्रजितके लिए

गन्थं विहाय इह सिक्खमाणो, उट्ठाय सुवम्भचेरं वसेज्जा ।
ओवायकारी विणयं सुसियखे, जे छेय से विप्पमायं न कुज्जा ॥

सू० १, १४ : १

आत्मार्थी इस ससारके स्वरूपको जान, आत्म-कल्याणके लिए
उद्यत हो ग्रन्थ—धनधान्यादिका त्याग करे। (नव प्रव्रजित साधु)
धर्म-शिक्षाका बोध पाता हुआ, ब्रह्मचर्यका अच्छी तरह पालन
करे। वह गुरुकी आज्ञाका पालन करता हुआ दिनय सीखे।
निपुण साधु, कभी भी प्रमाद न करे।

सद्दाणि सोच्चा अट्टु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा ;
निदं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहंकहं वा वित्तिगिच्छत्तिण्णे ॥

सू० १, १४ : ६

मधुर या भयंकर शब्दोको सुन कर शिष्य उनमें राग-द्वेष रहित
होकर विचरे। साधु निद्रा और प्रमाद न करे और हर उपायसे
विविकित्सा—मनकी डावाडील स्थितिसे उत्तीर्ण हो।

ढहरेण तुट्ठेणुसासिए उ, राइणिएणावि समव्वएणं ।
सम्मं तयं थिरओ नाभिगच्छे, निज्जन्तए वावि अपारए से ॥

सू० १, १४ : ७

जो बालक या बूढ़, बड़े या समवयस्क साधु द्वारा अनुशासित किये जाने पर—भूल सुधारके लिए कहे जाने पर—अपने को सम्यक् रूप से स्थिर नहीं करता है वह संसार प्रवाहमें वह जाता है और उसे पार नहीं पा सकता ।

विउद्विगणं समयाणुसिद्धे, ढहरेण वुद्धेण उ चोइए य ।
अच्चुद्वियाए घडदासिए षा, अगारिणं वा समयाणुसिद्धे ॥
न तेसु कुज्जेन य पव्वहेज्जा, न यावि किंची फरुसं वएज्जा ।
तहा करिस्सं ति पडिस्सुणेज्जा, सेयं खु मेयं न पमाय कुज्जा ॥
सू० १, १४ : ८, ६

परतीर्थिक आदि द्वारा, किसी दूसरे छोटे, बड़े या समवयस्क द्वारा, अत्यन्त हलका काम करने वाली दासी या घटदासी द्वारा अथवा गृहस्थ द्वारा भी समय—अर्हत दर्शन—की ओर अनुशासित—आक्रुष्ट—किया हुआ साधु उनपर क्रोध न करे और न उन्हें पीड़ित करे । वह उनके प्रति कटु शब्द न कहे । पर मैं अबसे ऐसा ही करूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा करे । वह यह सोचकर कि यह मेरे खुदके भलेके लिए है कभी प्रमाद न करे ।

वर्णासि मूढस्स जहा अमूढा, मग्गाणुसासन्ति हियं पयाणं ।
तेणेव मज्जमं इणमेव सेयं, जं मे वुहा समणुसासयन्ति ॥
सू० १, १४ : १०

वन में दिग्मूढ मनुष्य को दिशा निर्देश करने वाला अमूढ मनुष्य जैसे उसका हित करता है, उसी तरह से मेरे लिए भी यह श्रेयस्कर है जो बूढ़ पुरुष मुझे शिक्षा देते हैं ।

२ : उपदेशके लिए
संखाइ धम्मं च वियागरन्ति, बुद्धा हु ते अन्तकरा भवन्ति ।
ते पारगा दोण्ह वि भोयणाए, संसोधियं पण्हइदाहरन्ति ॥
सू० १, १४ : १८

धर्म को अच्छी तरह जान कर जो बद्ध पुरुष उपदेश देते हैं, वे ही सर्व सशयो का अन्त कर सकते हैं। अपनी ओर दूसरो की—दोनो की मुक्ति साधने वाले पारगामी पुरुष ही गूढ प्रश्नो को हल कर सकते हैं।

नो ह्ययए नो वि य लूसएज्जा, माणं न सेवेज्ज पगासणं च ।
न यावि पन्ने परिहास कुज्जा, न यासियावाय वियागरेज्जा ॥

सू० १, १४ : १६

बुद्ध पुरुष सत्य को नहीं छिपाते, न उसका लोप करते हैं, वे मान नहीं करते, न अपनी बड़ाई करते हैं। बुद्धिमान होकर वे दूसरो का परिहास नहीं करते और न आशीर्वाद देते हैं।

भूयाभिसंकाइ दुगुब्बमाणे, न निव्वहे मन्तपएण गोयं ।
न किच्चिमिच्छे मणुए पयासुं, असाहुधम्माणि न संवेज्जा ॥

सू० १, १४ : २०

साधु प्राणियो के विनाश की शका से सावध वचन से घृणा करता रहे। वह मन्त्रविद्या के द्वारा अपने गोत्र—सयम—को नष्ट न करे। प्रजा—लोगोंमें—धर्मोपदेश करता हुआ उनसे किसी चीज की चाह न करे तथा असाधुओं के धर्मका (वस्तुदान, तर्पण आदि का) उपदेश न दे।

हासं पि नो संघइ पावधम्मै. ओए तईयं फस्सं वियाणे ।
नो तुच्छए नो य विकथइज्जा, अणाइले या अकसाइ भिवखू ॥

सू० १, १४ : २१

साधु, हास्य उत्पन्न हो ऐसा शब्द या मन, वचन काया की चेंबटा न करे। तथ्य होने पर भी दूसरे की कठोर लगने वाले शब्द न बहें। तुच्छ न हो। विकथा न करे। वह लोभ और कपाय रहित हो।

संकेज्ज या संकिय भाव भिष्वू, विभज्जवार्यं च वियागरेज्जा ।
भासादुयं धम्मसमुट्टिण्हि, वियागरेज्जा समयामुपन्ने ॥

सू० १, १४ : २२

अर्थ आदि के विषय में शका रहित भी भिक्षु सभल कर बोले । वह विभज्यवाद—स्याद्वादमय दचन वाले । धर्म में समुपस्थित मनुष्यो में रहता हुआ दो भाषा—सत्य भाषा और व्यवहार का प्रयोग करे । सुप्रज्ञ साधु समभाव से सबका धर्म वहे ।

अणुगच्छमाणे वित्तहं विजाणे, तहा तहा साहु अकक्खसेण ।
न कत्थई भास विहिंसइज्जा, निरुद्धगं वा वि न दीहइज्जा ॥

सू० १, १४ : २३

कई साधु के अर्थ को ठीक समझ लेते हैं और कई उसे विपरीत समझ लेते हैं । साधु अककंश शब्दों से वस्तु तत्व समझावे । कठोर बात न कहे । प्रश्नकर्त्ताकी भाषा का उपहास न करे और न छोटे अर्थ को लम्बा करे ।

अहानुइयाइं सुसिखएज्जा, जइज्जया नाइवेळं वएज्जा ।
से दिट्ठिमं दिट्ठि न लूसएज्जा, से जाणइ भासिउं तं समाहि ॥

सू० १, १४ : २५

उपदेशक बुद्ध वचनों को अच्छी तरह सीखे । गूढार्थ जानने के लिए यत्न करे । मर्यादा उपरान्त न बोले । वह दृष्टिवान् ज्ञानियों की दृष्टिको दूषित न करे । ऐसा उपदेशक ही सच्ची भाव समाधिको कहना जानता है ।

अलूसए नो पच्छन्नभासी, नो सुत्तमत्थं च करेज्ज ताई ।
सत्थारभत्तो अणुवीइ वार्यं, सुयं च सम्मं पडिवाययन्ति ॥

सू० १, १४ : २६

धीर भिक्षु सब सम्बन्धोको छोडकर सब प्रकारके दुःखोको सहन करता हुआ चारित्र्यमे सम्पूर्ण होता है। वह अगृह्य और अप्रतिबन्ध-विहारी होता है। वह प्राणियोको अभय देता हुआ विषयो में अनाकुल रहता है।

भारस्स जाआ मुणि भुल्लएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खु।
दुष्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा, संगामसीसे व परं दमेज्जा ॥

सू० १, ७ : २६

मुनि संयम भारके निर्वाह के लिए आहार करे। वह पूर्व पापो के विनाशकी इच्छा करे। परिपह और उपसर्ग वा पडने पर धर्ममे ध्यान रखे। जैसे सुभट युद्धभूमिमें शत्रुको दमन करता है उसी तरह वह अपनी आत्माका दमन करे।

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी, समागमं कंखइ अन्तगस्स।
निधूय कम्मं न पवञ्चुपेइ, अक्खक्खए वा सगढं ति वेमि ॥

सू० १, ७ : ३०

हनन किया जाता हुआ साधु छिलीजाती हुई लकड़ीकी तरह राग द्वेष रहित होता है। वह शान्त भावसे मृत्युकी प्रतीक्षा करता है। इस प्रकार कर्म क्षय करने वाला साधु उसी प्रकार भव-प्रपञ्चमें नहीं पड़ता जिस प्रकार गाड़ी घुरा टुटने पर भागे नहीं चलती।

२५ : ब्रह्मचर्य और मुनि

१—अवंमचरियं घोरं, पमायं दुरहिद्वियं ।
नायरंति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥

द० ६ : १६

चरित्रको भग करनेवाली बातोंसे सदा सशक रहनेवाला मुनि इस लोकमें प्रमादके घर, घोर दुष्परिणामवाले और असेव्य अन्नहचर्यका सेवन नहीं करते ।

२—मूलमेयमहम्मस्त, महादोससमुस्तयं ।
तम्हा मेहुणसंसगां, निगांथा वज्जयंति णं ॥

द० ६ : १७

अन्नहचर्य अधर्मका मूल और महा दोषोकी जन्म-भूमि हैं । अतः निर्ग्रन्थ मुनि सब प्रकारके मीथुन-ससर्गका त्याग करते हैं ।

३—जउ कुम्भे जोइउवगूढे, आसुभितत्ते नासमुवयाइ ।
एविस्थियाहिं अणगारा, संवासेण नासमुवयंति ॥

सू० १, ४ । १ : २६

जैसे अग्निके पास रखा हुआ लाहका घड़ा शीघ्र तप्त होकर नाशको प्राप्त हो जाता है, उसी तरह स्त्रियोके सहवाससे अनगारका समय रूपी जीवन नाशको प्राप्त हो जाता है ।

४—कामं तु देवीहि विभूसियाहिं, न चाइया खोभइउं तिगुत्ता ।
तहावि एगंतहियं ति नच्चा, विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥

उत्त० ३२ : १६

मन, वचन और कायासे गुप्त जिस परम सयमीको विभूपित देवाङ्गनाएँ भी कामसे विह्वल नहीं कर सकती ऐसे मुनिके लिए भी एकान्तवास ही हितकर जान स्त्री आदिसे रहित एकान्त स्थानमें निवास करना ही श्रेष्ठ है ।

५—मणपल्हायजणणी, कामरागविचड्ढणी ।

बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥

उत्त० १६ श्रो० २

ब्रह्मचर्यमें अनुरक्त मुनि मनको चंचल करनेवाली और विषय रागको बढ़ानेवाली स्त्री-कथा न करे ।

६—समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं ।

बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥

उत्त० १६ श्रो० ३

स्त्रियोकी सगतिसे, उनके साथ परिचय बढ़ानेसे और उनसे बार बार बातचीत करनेसे ब्रह्मचारी हमेशा बचे ।

७—पणिअं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं ।

बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥

उत्त० १६ श्रो० ७

ब्रह्मचारी भिक्षु विषय विकारको शीघ्र बढ़ानेवाले मसालेदार खान पानसे हमेशा दूर रहे ।

८—धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं ।

नाइमत्तं तु भुंजिज्जा, बंभचेररओ सया ।

उत्त० १६ श्रो० ८

ब्रह्मचारी गोचरीमें धर्मानुसार प्राप्त आहार, जीवन यात्राके निर्वाहके लिए ही नियत समय और मित मात्रामें ग्रहण करे। वह कभी भी अति मात्रामें आहारका सेवन न करे।

६—विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं ।

नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥

द० ८ ५७

विभूषा, स्त्री-ससर्गं तथा प्रणीत रसदार भोजन आत्मगवेषी पुत्र्य के लिए तालपुट विषकी तरह होता है।

१०—न रूवलावण्णविलासहासं, न जंपियं इंगिय पेहियं वा ।

इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठं ववस्से समणे तवस्सी ॥

उत्त० ३२ : १४

तपस्वी श्रमण, स्त्रियोके रूप, लावण्य, विलास, हास, प्रिय भाषण, सकेत और कटाक्षपूर्ण दृष्टिपातको चित्तमें स्थान न दे और न स्त्रियो को देखनेकी अभिलाषा करे।

११—विभूसं परिवज्जिज्जा, सरीरपरिमंडणं ।

वंभचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए ॥

उत्त० १६ श्रो० ६

ब्रह्मचारी विभूषा और वनाव ठनावको छोड़ दे। वह वस्त्रादि कोई भी वस्तु शृंगार—शोभा—के लिए धारण न करे।

१२—नगिणस्स वा वि मुंडस्स, दीहरोमनहंसिणो ।

मेहुणा उवसंतस्स, कि विभूसाइ कारियं ॥

द० ६ : ६५

नग्न, मूण्ड, दीर्घरोम और नखवाले तथा मैथुनसे उपशात अन-गारको विभूषासे क्या मतलब ?

२६ : अपरिग्रह और मुनि

१—लोहस्तेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।

जे सिया सन्निही कामे, गिही पव्वइए न से ॥

द० ६ : १६

सग्रह करना लोभका अनुस्पर्श है। जो लवण, तेल, घी, गुड़ अथवा अन्य किसी भी वस्तुके सग्रहकी कामना करता है वह गृहस्थ है—साधु नहीं, ऐसा भे मानता हू।

२—जं पि वत्थं व पायं वा, कंवलं पायपुंछणं ।

तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥

द० ६ : २०

वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि जो भी हैं उन्हे मुनि सयम की रक्षाके लिए ही रखते और उपयोग करते हैं।

३—सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खण परिग्गहे ।

अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं ॥

द० ६ : २२

बुद्ध पुरुष आवश्यक वस्तुओको एक मात्र सयमकी रक्षाके लिए ही रखते हैं। अधिक क्या—वे अपने शरीर पर भी ममत्वभाव नहीं रखते।

४—संनिहिं च न कुविज्ञा, अणुमायं पि संजए ।
मुहाजीवी असंशङ्गे, हविज्ज जगनिस्सिए ॥

द० ८ : २४

नयमी मुनि अप्पुमाय भी मंग्रह न करे । वह मूषाजीवी, गृहस्थों
के साथ प्रमदद और जगन्कुके मयं जीवोंको रक्षा करनेवाला हो ।

५—लूहवित्ती सुसंतुट्ठे, अप्पिच्छे मुहरे सिया ।
आसुरत्तं न गच्छिज्जा, सुत्ताणं जिणसासणं ॥

द० ८ : २५

भिद्धु लूहवृत्ति, मुसंतुट्ट, अल्प इच्छावाला और थोड़े प्राहारसे
तृप्त होनेवाला हो । जिनगासन को मुन वह कभी अमुरवृत्तिको
घास्य न करे ।

६—अणुक्कसाइं अप्पिच्छे, अण्णाएसी अलोलुए ।
रसेसु नाणुगिज्झिज्जा, नाणुतप्पेज्ज पण्णवं ॥

उत्त० २ : ३६

कपाय रहित, अल्पेच्छ, अज्ञातगोचरी करनेवाला, अलोलूप और
प्रज्ञावान् माद्यु रसमें गृद्धिभाव न रखे और न दूसरोके सत्कारको
देख कर अनुताप करे ।

७—वर्यं च वित्तिं लब्धामो, न य कोइ उवहम्मइ ।
अहागडेसु रीचंते, पुप्फेसु भमरा जहा ॥

द० १ : ४

हम इस तरहसे भिक्षा प्राप्त करेंगे जिससे कि किसी जीवका हनन
न हो । जिस तरहसे भ्रमर पुष्पोंके पास जाते और मधुसूचय करते हैं
उसी तरह से गृहस्थोंके घर स्वतः वने आहारमें से हम थोड़ा ग्रहण
करेंगे ।

८—महुकारसमा बुद्धा, जे भवन्ति अणिसिन्ध्या ।
नाना पिण्डरया दंता, तेण बुच्चन्ति साहुणो ॥

द १ : ५

बुद्ध पुरुष मधुकरके समान अनाश्रित होते हैं जो अनेक घरोसे थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करनेमें संतुष्ट और जितेन्द्रिय होते हैं वे अपने इन्ही गुणोंके कारण साधु कहलाते हैं ।

२७ : महा शोल

१—जावन्ति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा ।
ते जाणमजाणं वा, न हणे णो वि घायए ॥

द० ६ : १०

इस लोकमें जो भी त्रस प्रीर स्थावर प्राणी है, निर्ग्रथ उन्हें जान या अजानमें न मारे और न मरावे ।

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निगंथा वज्जयंति णं ॥

द० ६ : ११

सभी जीव जीनेकी इच्छा करते हैं, कोई मरना नहीं चाहता ।
अतः निर्ग्रथ निर्दय प्राणिवधका सर्वथा त्याग करते हैं ।

२—वितहं पि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो ।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं वए ॥

द० ७ : ५

वाह्य रूपमें सत्य बोलनेवाला भी यदि यथार्थमें असत्यभाषा बोलता है, तो इससे भी वह मनुष्य पापसे स्पृष्ट होता है ; फिर जो जानबूझकर झूठ बोलता है, उसके पापबंध हो इसमें कहना ही क्या ?

३—आयाणं नरयं दिस्स, नायइज्ज तणामवि ।
दोगुंछी अप्पणो पाए, दिण्णं भुंजिज्ज भोयणं ॥

उत्त० ६ : ८

बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणमें नरक देखकर, तृणमात्र भी बिना दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए । पापसे घृणा करनेवाला मुनि गृहस्थो द्वारा अपने पात्रमें दिए हुए भोजनका आहार करे ।

४—संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोगम्मि इत्थिओ ।

जस्स एया परिण्णाया, सुकडं तस्स सामण्णं ॥

एअमादाय मेहावी, पंकमूआ उ इत्थीओ ।

नो ताहिं विणिहणेज्जा, चरेज्जत्तगवेसए ॥

उत्त० २ : १६, १७

इस लोकमें स्त्रियां मनुष्यके लिए सग—बन्धन रूप—है, जिसने यह जान लिया उसका श्रामण्य—साधुभाव—सुकृत है—सफल है ।

स्त्रिया पक—कादे—के समान है, यह जानकर बुद्धिवान पुरुष अपने सयमको उनके द्वारा हनन न होने दे । मुनि सदा आत्म-गवेषणा में रत रहे ।

५—संनिहिं च न कुविज्जा, लेवमायाइ संजए ।

पक्खी पत्तं समादाय, निरविक्खो परिव्वए ॥

उत्त० ६ : १६

सयमी मुनि लेश मात्र भी सचय न करे । पात्र रूपी पांखोको ले एक पक्षीकी तरह वह निरपेक्ष होकर विचरे ।

हिरण्णं जायरूवं च, मणसाऽवि न पत्थए ।

समलेट्ठुकंचणे भिक्खू, विरए कयविकए ॥

उत्त० ३५ : १३

अनगार सोने-चादी आदि वस्तुओकी मनसे भी इच्छा न करे । लोष्ठ और काञ्चनको एक समान देखनेवाला भिक्षु क्रय-विक्रयसे विरत हो ।

६—अहो निच्चं तवोकम्मं, सच्च बुद्धेहिं वणिण्यं ।
जाव लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोयणं ॥

द० ६ : २३

अहो ! साधु पुरुषोंके लिए यह कैसा सुन्दर नित्य तपकर्म है जो उन्हें सयम निर्वाह भरके लिए और केवल दिनमें ही भोजन करना होता है । सब ज्ञानियोने इस रात्रि भोजन विरमण रूप व्रतका वर्णन किया है ।

संति मे सुहुमा पाणा, तसा अट्टव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे ॥

द० ६ : २४

संसारमें बहुतसे ब्रह्म और स्थावर प्राणी इतने सूक्ष्म होते हैं कि साधु द्वारा रात्रिमें नहीं देखे जा सकते । फिर वह रात्रिमें किस प्रकार एषणीय—निर्दोष आहारको भोग सकेगा ?

२८ : तितिक्षा

१—छुहा तणहा य सीउण्हं, दंसमसगवेअणा ।
 अक्कोसा दुक्खसिज्जा य, तणफासा जल्लमेव य ॥
 तालणा तज्जणा च्चेव, वहवंधपरिषहा ।
 दुक्खं भिक्खायरिया, जायणा य अलाभया' ॥

उत्त० १६ : ३२-३३

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमच्छरके डंक, आक्रोश—कटुवचन, दुःखदशय्या, तृणस्पर्श, मल, ताड़ना, तर्जना, वध, बन्धन, भिक्षाचर्या, याचना और अलाम—ये सब परिषह दुःसह है ।

२—दिर्गिच्छा परिगए देहे, तवस्सी भिक्खू थामवं ।
 ण छिंदे ण छिंदावए, ण पए ण पयावए ॥
 कालीपच्चंगसंकासे, किसे धमणिसंतए ।
 मायणो असणपाणस्स, अदीणमणसो चरै ॥

उत्त० २ : २-३

१—परिषह २२ माने जाते हैं । देखिये उत्त० अ० २ । निम्न परिषह उपरोक्त गाथाओंमें नहीं आए :—अचेलक परिषह, अरति परिषह स्त्री परिषह, नैषेधिकी, रोग परिषह, सत्कार-पुरस्कार परिषह, प्रज्ञापरिषह, अज्ञान परिषह, और दर्शन परिषह । इन गाथाओंमें आए ताड़न, तर्जन, और बन्धन नामक परिषह उत्त० अ० २ में बताए गये २२ परिषहके उपरांत है ।

शरीर क्षुधासे व्याप्त हो जाय, बाहु जघा आदि अंग कौएकी जाघ के मध्य भागकी तरह पतले—कृश—हो जाय और शरीर नशोंसे व्याप्त दीखने लगें तो भी आहार पानीके प्रमाणको जाननेवाला भिक्षु मनोबल रखे और भदीन भावसे समयका पालन करे। वह स्वयं फलादिका छेदन न करे, न दूसरोसे करावे। न स्वयं अन्नादि पकावे, न दूसरोसे पकावे।

३—तथो पुट्टो पिवासाए, दोगुंछी लज्जसंजए ।
 सीओदगं ण सेविज्जा, विअडस्सेसणं चरे ॥
 छिण्णाचाएसु पंथेसु, आउरे सुपिवासिए ।
 परिसुक्कमुद्देऽदीणे, तं तितियखे परिषहं ॥

उत्त० २ : ४, ५

निर्जन पथमें अत्यन्त तृपासे आतुर—व्याकुल—हो जाने और जिह्वाके सूख जाने पर भी भिक्षु प्यासपरिषहको भदीन मनसे सहन करे। ऐसी तृपामे व्याप्त होने पर भी अनाचारसे भयभीत और संयममें लज्जाशील भिक्षु शीतोदकका सेवन न करे। विकृत—अचित्त—जलकी गवेपणा करे।

४—ण मे णिवारणं अत्थि, छवित्ताणं ण विज्जए ।
 अहं तु अरिगं सेवामि, इइ भिक्खू ण चित्तए ॥
 उस्सिणप्परिआवेणं, परिदाहेण तज्जिए ।
 धिसु वा परिआवेणं, सायं णो परिदेवए ॥
 उण्हाहित्तो मेहावी, सिणाणं णो वि पत्थए ।
 गायं णो परिसिंचेज्जा, ण वीएज्जा य अप्परयं ॥

उत्त० २ : ७, ८, ९

श्रीत निवारणके लिए मेरे घरादि नही तथा शरीरके त्राणके लिए

वस्त्रादि नहीं, अतः भे अग्निका सेवन करू—भिक्षु ऐसा कभी भी न सोचे ।

ग्रीष्म ऋतु, वायू आदि उष्ण पदार्थोंके परिताप, अन्तरदाह और सूर्यके आताप द्वारा तर्जित साधु, मज्ञे वायु आदिका सुख कब होगा, ऐसी इच्छा न करे ।

गर्मासे परितप्त होने पर भी मेघादी भिक्षु स्नानकी इच्छा न करे । शरीरको जलादिसे न सींचे—और न पखी आदिसे जग भी हवा ले ।

५—पुट्टो अ दंसमसएहिं, समरेव महामुणी ।
गागो संगामसीसे वा, सूरुो अभिहणे परं ॥
ण संतसे ण वारिज्जा, मणं पि ण पओसए ।
उवेह ण हणे पाणे, भुंजंते मंससोणिअं ॥

उत्त० अ० २ : १०, ११

डास और मच्छरो द्वारा स्पृष्ट होने—पीडित किए जाने—पर भी महामुनि समभाव रखे । सग्रामके मोर्चे पर जिस तरह नाग शत्रु का हनन करता है, उसी तरह शूरवीर साधु राग-द्वेष रूपी शत्रुका हनन करे ।

मुनि डास मच्छर आदिको भय उत्पन्न न करे, उन्हें दूर न हटावे और न मनमें भी उनके प्रति द्वेषभाव आने दें । मास और शोणितको खा रहे हो तो भी उपेक्षा करे और उन्हें न मारे ।

६—अक्कोसिज्ज परो भिक्खु, न तेसिं पडिसंजले ।
सरिसो होई वालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥
सोच्चा णं फरुसा भापा, दाहणा गामकंदया ।
तुसिणीओ उवेहिज्जा, न ताओ मणसी करे ॥

उत्त० अ० २ : २४, २५

दूनरोसे दुर्वचन द्वारा आक्रोश किए जाने पर—तिरस्कार किए जाने पर—भिक्षु उन पर कोप न करे। कोप करनेसे भिक्षु भी उस मूर्खके समान हो जाता है; अतः भिक्षु प्रज्वलित—कूपित न हो।

भिक्षु कानोमें कांटोके समान चुभनेवाली अत्यन्त कठोर भाषाको सुनने पर मौन रह उपेक्षा करे, और उसे मनमें स्वान न दे।

७—उच्चावयाहिं सिज्जाहिं, तवस्ती भिस्सु धामव्वं ।
नाइवेलं णिहण्जेज्जा, पावदिट्ठी विहण्णाइ ॥
पहरिपकुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणं अदुव पावगं ।
किमेगराइं करिस्सइ, एवं तत्थ हिआसए ॥

उत्त० २ : २२, २३

तपस्वी भिक्षु अच्छे-दुरे स्थानके मिलने पर उसे सह ले। समभाव रूपी मर्यादाका उल्लघन कर समयकी घात न करे। पापदृष्टि भिक्षु समय-रूपी मर्यादाका उल्लघन कर देता है।

अच्छे हो या दुरे रिक्त उपाश्रयको पाकर भिक्षु यह विचार करता हुआ कि एक रातमें यह मेरा क्या कर लेगा, उसे समभावसे सहन करे।

८—किलिण्णगाए मेहावी, पंकेण व रएण वा ।
धिसु वा परितावेणं, सायं नो परिदेवए ॥
वेएज्ज निज्जरापेही, आरिअं धम्ममणुत्तरं ।
जाव सरीरभेओ त्ति, जल्लं काएण धारए ॥

उत्त० २ : ३६, ३७

ग्रीष्मादिमें अति गरमीसे पत्तीनेके कारण शरीर मँल अथवा रज्जसे लिप्त हो जाय तोभी मेघावी साधु सुखके लिए धीनभाव न लावे। सर्वोत्तम आर्य धर्मको प्राप्त कर निर्जराका अर्थी भिक्षु इस पक्षिको

सहन करे और शरीर छोड़ने तक मँलको शरीर पर समभावपूर्वक धारण करे ।

६—हओ न संजले भिक्षू, मणं पि न पओसए ।
 तित्तिक्खं परमं नच्चा, भिक्षुधम्मं विचित्तए ॥
 समणं संजय दंतं, हणेज्जा को वि कत्थइ ।
 नत्थि जीवस्स नासो त्ति, एवं पेहिज्ज संजए ॥

उत्त० २ : २६, २७

मारे जाने पर साधु क्रोध न करे । मनमें भी द्वेष न लावे । तितिक्षा परम धर्म है, ऐसा सोचकर वह भिक्षुधर्मका चिंतन करे । यदि कोई कहीं पर सयत दमेन्द्रिय श्रमणको मारे तो वह संयमी भिक्षु इस प्रकार विचार करे कि जीवका कभी नाश नहीं होता ।

१०—दुक्करं खलु भो निच्चं, अणगारस्स भिक्षुणो ।
 सच्चं से जाइवं होई, नत्थि किंपि अजाइवं ॥
 गोअरगपविट्ठस्स, पाणी नो सुप्पसारए ।
 सेओ अगारवासो त्ति, इह भिक्षू न चित्तए ॥

उत्त० २ : २८, २९

हे शिष्य ! घर रहित भिक्षुके पास सब कुछ मांगा हुआ होता है । उसके पास कुछ भी अयाचित नहीं होता । निश्चय ही नित्य की याञ्चा दुष्कर है ।

भिक्षाचरीके लिए गृहस्थके घरमें प्रविष्ट भिक्षुके लिए हाथका पसारना सहज नहीं होता, इससे 'गृहवास ही अच्छा है'—भिक्षु ऐसा चिंतन न करे ।

११—परेसु घासमेसिज्जा, भोअणे परिणिट्ठिए ।
 लद्धे पिंडे अलद्धे वा, नाणुतप्पिज्ज संजए ॥

अज्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुवे सिआ ।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ॥

उत्त० २ : ३०, ३१

गृहस्थोके घर भोजन तैयार हो जाने पर भिक्षु आहारकी गवेपणा करे । आहारके मिलन या न मिलने पर विवेकी भिक्षु हर्ष शोक न करे । 'आज मुझे नहीं मिला तो क्या ? कल मिलेगा'—जो भिक्षु इस प्रकार विचार करता है, उसे अलाभ परिपह कष्ट नहीं देता ।

१२—परिजुण्णेहिं वस्थेहिं, होपखामि त्ति अचेलए ।
अदुवा सचेलए होषखं, इइ भिक्खु ण चिंतए ॥
एगया अचेलए होइ, सचेले आवि एगया ।
एअं धम्महिअं णच्चा, णाणी णो परिदेवए ॥

उत्त० २ १२, १३

जोणं वस्त्रोके कारण मं अचेलक हो जाऊ गा अथवा मं वस्त्र सहित सचेलक बनूगा—भिक्षु ऐसा चिंतन—हर्ष-शोक—न करे । भिक्षु एकटा—कभी—अचेलक हो जाता है और कभी सचेलक । इन दोनों अवस्थाओको धर्ममे हितकारी जानकर ज्ञानी मुनि चिंता न करे ।

१३—णच्चा उप्पइअं दुषखं, वेअणाए दुहट्टिए ।
अदीणो ठावए पण्णं, पुट्ठो तत्थ हिआसए ॥
तेगिच्छं नाभिणंदिज्जा, संचिक्खत्तगवेसए ।
एअं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे ॥

उत्तराध्ययन अ० २ : ३२, ३३

रोगको उत्पन्न देखकर उसकी वेदनासे दुखार्त्त भिक्षु अदीनभाव से 'ये भेरे ही कर्मोंका फल हैं'—ऐसी प्रज्ञामे अपनेको स्थिर करे । रोग द्वारा आक्रांत होने पर उसे समभावपूर्वक सहन करे । आत्म

गवेषी भिक्षु चिकित्साकी अनुमोदना न करे । समाधिपूर्वक रहे ।
श्रमणका श्रमणत्व इसीमें है कि वह चिकित्सा न करे और न करावे ।

१४—निरद्वगस्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंबुडो ।
जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण पावग ॥

उत्त० २ : ४२

‘मंने निरंथक ही मैथुन आदिसे निवृत्ति ली और इन्द्रियोको सबृत
किया है, जो छद्मस्थभावको दूर कर साक्षात् कल्याण अथवा पाप
कारी धर्मको नहीं जान सकता’—भिक्षु ऐसा विचार कभी भी न करे ।

१५—से नूणं मए पुब्बिं, कम्माऽनाणफला कडा ।
जेणाहं नाभिजाणामि पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥
अह पच्छा उड्डज्जंति, कम्माऽनाणफला कडा ।
एवमासासि अप्पाणं, नच्चा कम्मविवागयं ॥

उत्त० २ : ४०, ४१

वही पर किसीके द्वारा पूछे जाने पर जो मैं उसका उत्तर नहीं
जानता—यह निश्चय ही पूर्वमें मंने जो अज्ञान फलवाले कर्म किये हैं,
उन्हीका फल है । ‘अज्ञान फलके देनेवाले कृत कर्मोंका फल बादमें
उद्यममें आता है’—भिक्षु कर्मके विपाकको जानकर अपनी आत्माको
इसी तरह आश्वासन दे ।

१६—नारइं सहई वीरे, वीरे न सहई रइं ।
जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे न रज्जई ।

आ० १, २ । ६

अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए ।
धम्माराभेणिरारंभे उवसंते मुणि चरे ॥

उत्त० २ : १५

वीर पुरुष धर्ममें उत्पन्न अरुचि भावको सहन नहीं करता और न अक्षयममें उत्पन्न रुचिभावको सहन करता है । वीर साधक जिस तरह धर्मके प्रति उदासीन वृत्तिवाला नहीं होता, उसी तरह वह अधर्म के प्रति रागवृत्तिवाला भी नहीं होता ।

हिंसादिसे विरत, निरारम्भी, उपशात और आत्मरक्षक मृनि, अरति—संयमके प्रति अरुचिभावको हटाकर धर्मरूपी उद्यानमें विचरे—रमण करे ।

३ : दर्शन पद :



१ : सम्यक्त्व-सार

१—नत्थि लोए अलोए वा नेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि लोए अलोए वा एवं सन्नं निवेसए ॥

ऐसी सज्ञा—विश्वाम—मत रक्खो कि लोक और अलोक नहीं है पर विश्वास रक्खो कि लोक और अलोक है ।

२—नत्थि जीवा अजीवा वा नेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि जीवा अजीवा वा एवं सन्नं निवेसए ॥

ऐसी सज्ञा—विश्वाम—मत रक्खो कि जीव और अजीव नहीं है, पर विश्वास रक्खो कि जीव और अजीव है ।

३—नत्थि पुण्णे व पावे वा नेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि पुण्णे व पावे वा एवं सन्नं निवेसए ॥

मत विश्वास रक्खो कि पुण्य और पाप नहीं है, पर विश्वाम रक्खो कि पुण्य और पाप है ।

४—नत्थि आसवे संवरे वा नेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि आसवे संवरे वा एवं सन्नं निवेसए ॥

मत विश्वास रक्खो कि आश्रव और सवर नहीं है, पर विश्वाम रक्खो कि आश्रव और सवर है ।

५—नत्थि वेयणा निज्जरा वा नेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि वेयणा निज्जरा वा एवं सन्नं निवेसए ॥

मत विश्वास रक्खो कि वेदना कर्म-फल—और निर्जरा नहीं है,
पर विश्वास रक्खो कि कर्म-फल और निर्जरा है ।

६—नत्थि वन्धे व मोक्खे वा नेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि वन्धे व मोक्खे वा एवं सन्नं निवेसए ॥

मत विश्वास रक्खो कि वन्ध और मोक्ष नहीं है, पर विश्वास
रक्खो कि वन्ध और मोक्ष है ।

७—नत्थि धम्मो अधम्मो वा नेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि धम्मो अधम्मो वा एवं सन्नं निवेसए ॥

ऐसी सज्जा मत रक्खो कि धर्म और अधर्म नहीं है, पर विश्वास
रक्खो कि धर्म और अधर्म है ।

८—नत्थि किरिया अकिरिया वा नेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि किरिया अकिरिया वा एवं सन्नं निवेसए ॥

मत विश्वास रक्खो कि क्रिया और अक्रिया नहीं है पर विश्वास
रक्खो कि क्रिया और अक्रिया है ।

९—नत्थि कोहे व माणे वा नेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि कोहे व माणे वा एवं सन्नं निवेसए ॥

मत विश्वास रक्खो कि क्रोध और मान नहीं है, पर विश्वास
रक्खो कि क्रोध और मान है ।

१०—नत्थि माया व लोभे वा नेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि माया व लोभे वा एवं सन्नं निवेसए ॥

मत विश्वास रक्खो कि माया और लोभ नहीं है, पर विश्वास
रक्खो कि माया और लोभ है ।

११—नत्थि पेज्जे व दोसे वा नेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि पेज्जे व दोसे वा एवं सन्नं निवेसए ॥

मत विश्वास रक्खो कि राग और द्वेष नही है, पर विश्वास रक्खो कि राग और द्वेष है ।

१२—नत्थि चाउरन्ते संसारे नेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि चाउरन्ते संसारे एवं सन्नं निवेसए ॥

मत विश्वास रक्खो कि चार गति रूप सासार नही है, पर विश्वास रक्खो कि चार गति रूप सासार हैं ।

१३—नत्थिसिद्धी असिद्धी वा नेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि सिद्धी असिद्धी वा एवं सन्नं निवेसए ॥

मत विश्वास रक्खो कि मोक्ष और अमोक्ष नही है, पर विश्वास रक्खो कि मोक्ष और अमोक्ष हैं ।

१४—नत्थि सिद्धी नियं ठाणं नेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि सिद्धी नियं ठाणं एवं सन्नं निवेसए ॥

मत विश्वास रक्खो कि सिद्धि—सिद्धोका निर्दिष्ट—स्थान नही है, पर विश्वास रक्खो कि सिद्धि—सिद्धोका निर्दिष्ट स्थान—है ।

१—सूत्रकृताग सूत्र श्रु० २ । ५: १२, १३, १६, १७, १८, १५, १४, १९, २०, २१, २२, २३, २५, २६

२ : लोक और द्रव्य

१—जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए ।
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए ॥

उत्त० ३६ : २

आकाशके उस भागको, जिसमें जीव अजीव दोनो हूँ, लोक कहा गया है और उस भागको, जहाँ केवल आकाश है और कोई जीव अजीव द्रव्य नहीं, उसे अलोक कहा गया है ।

२—धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जन्तवो ।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥

उत्त० २८ : ७

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल ये पांच अजीव और छट्ठा जीव ये छ. द्रव्य है। यह लोक छ द्रव्यात्मक है, ऐसा ही श्रेष्ठ दर्शनके धारक जिन भगवान ने कहा है ।

३—गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
लपख्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥

उत्त० २८ : ६

गुण जिसके आश्रित होकर रहे—जो गुणोंका आधार हो—उसे द्रव्य कहते हैं । किसी द्रव्यको आश्रय कर जो रहे वे गुण हैं तथा द्रव्य और गुण दोनोंके आश्रित होना पर्यायका लक्षण है ।

४—गड्लक्षणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो ।

भायणं सब्बद्व्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ॥

उत्त० २८ : ६

पदार्थोंकी गतिमें सहायक होना यह धर्मका लक्षण है, उनकी स्थितिमें सहायक होना यह अधर्म द्रव्यका लक्षण है और सर्व द्रव्योंको अपनेमें अवकाश—स्थान देना—यह आकाशका लक्षण है ।

५—वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो ।

नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥

नाणं च दंसणं चैव, चरित्तं च तवो तथा ।

वीरिअं उवओगो अ, एअं जीवस्स लक्खणं ॥

उत्त० २८ : १०, ११

पदार्थोंके वर्तनमें सहायक होना यह काल का लक्षण है । जीवका लक्षण उपयोग है, जो ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःखसे व्यक्त होता है ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये सब जीवके लक्षण हैं ।

६—सह्दण्धार—उज्जोओ, प्रभा छायाऽऽतवो इ वा ।

वण्ण-रस-गन्ध-फासा, पुग्गलाण तु लक्खणं ॥

उत्त० २८ : १२

शब्द, अन्धकार, उद्योत—प्रकाश, प्रभा, छाया, धूप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श ये पुद्गलके लक्षण हैं ।

७—एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य ।

संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥

उत्त २८ . १३

एकत्व, पृथक्त्व, सख्या, सस्यान, सजोग और विभाग ये पर्यायोंके लक्षण हैं ।

३ : अजीव

१—रूविणो चेषऽरूवी य, अजीवा दुविहा भवे ।

अरूवी दसहा बुत्ता, रूविणो य चउन्विहा ॥

अजीव दो प्रकारके हाते हैं—रूपी और अरूपी । अरूपी अजीव दस प्रकारके कहे गए हैं और रूपी अजीव चार प्रकार के ।

२—धम्मस्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए ।

अहम्मै तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥

आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।

अद्धासमए चैव, अरूवी दसहा भवे ॥

उत्त० ३६ : ५, ६

घर्मास्तिकाय समूची उसका देश और प्रदेश, अघर्मास्तिकाय समूची, उसका देश और प्रदेश,

आकाशास्तिकाय समूची, उसका देश और प्रदेश और अद्धा समय—काल ये सब मिलाकर अरूपी अजीवके दस भेद हांते हैं ।

३—खंधा य खन्ध देसा य, तप्पएसा तद्देव य ।

परमाणुणो य बोधन्वा, रूविणो य चउन्विहा ॥

३६ : १०

स्कध—समूची पुद्गलास्तिकाय, उसका देश, उसका प्रदेश और परमाणु ये रूपी अजीव पदार्थक चार भेद जानना ।

४—धस्मो अहस्मो आगासं, दव्वं इक्किक्काहियं ।

अणन्ताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजन्तवो ॥

उत्त २८ : ८

धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं । काल, पुद्गल और जीव ये तीन द्रव्य अनन्त हैं ।

५—धस्माधस्मे य दौवेए, लोगमित्ता वियाहिया ।

लोआलोए य आगासे, समए समयखेत्तिए ॥

उत्त० ३६ : ७

धर्म और अधर्म ये समूचे लोकमे व्याप्त हैं । आकाश लोक अलोक दोनोमें विस्तृत—फंला हुआ—है और समय समयक्षेत्रमे फंला हुआ है ।

६—एगत्तेण पुहत्तेणं, खन्धा य परमाणुणो ।

लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खेत्तओ ॥

उत्त० ३६ : ११

जब परमाणु एकत्रित होते हैं तो स्कध रूप होते हैं और अलग-अलग होते हैं तो परमाणु रूप । क्षेत्रकी अपेक्षासे परमाणु लोकके एक प्रदेश मात्रमे और स्कध एक प्रदेश या समूचे लोकमे व्याप्त है ।

७—धस्माधस्मागासा, तिन्नि वि एए अणाइया ।

अपज्जवसिया चेव, सव्वद्धं तु वियाहिया ॥

उत्त० ३६ : ८

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनों द्रव्य कालकी अपेक्षा अनादि और अनन्त हैं अर्थात् सदा काल शाश्वत हैं—ऐसा कहा गया है ।

८—समए वि सन्तईं पप्प, एवमेव वियाहिए।

आएसं पप्प साईंए, सपज्जवसिया वि थ ॥

उत्त० ३६ : ६

समय—काल—भी निरन्तर प्रवाहकी अपेक्षासे अनादि और अनन्त है परन्तु किसी कार्यको अपेक्षासे सादि और अन्त सहित है।

९—संतईं पप्प तेऽणार्ई, अपज्जवसियावि थ।

ठिईं पडुच्च साईंया, सपज्जवसिया वि थ ॥

उत्त० ३६ : १२

प्रवाहकी अपेक्षासे पुद्गल अनादि और अनन्त है परन्तु रूपान्तर और स्थितिकी अपेक्षासे सादि और सात है।

१०—असंख्यकालमुक्कोसं, एगो समयं जहन्नयं।

अजीवाण थ रूबीणं, ठिईं ऐसा वियाहिया ॥

उत्त० ३६ : १३

एक स्थानमें रहनेकी अपेक्षासे रूपी अजीव पुद्गलको स्थिति कम से कम एक समय और अधिकसे अधिक असख्यात कालको बतलाई है।

११—अर्णतकालमुक्कोसं, एगं समयं जहन्नयं।

अजीवाण थ रूबीणं, अन्तरेयं वियाहियं ॥

उत्त० ३६ : १४

अजीव रूपी पुद्गलोंके अलग-अलग होकर फिरसे मिलनेका अंतर क्रमसे-क्रम एक समय और अधिक-से-अधिक अनन्त काल कहा गया है।

१२—वण्णओ गंधओ चैव, रसओ फासओ तथा।

संठाणओ थ विन्नेओ, परिणामो तेसि पंचहा ॥

उत्त० ३६ : १५

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान (आकार) इनकी अपेक्षासे पुद्गलोंके परिणाम—अवस्थान्तर भेद—पाच प्रकारके होते हैं।

४ : सिद्ध जीव

१—संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया ।
सिद्धाऽणोग विहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण ॥

उत्त० ३६ : ४८

जीव दो तरहके बताए है— (१) संसारी और (२) सिद्ध ।
सिद्ध जीव अनेक प्रकारके कहे हैं । मैं उन्हे बतलाता हू सुनो ।

२—इत्थी पुरिससिद्धा य, तहेव य नपुंसगा ।
सल्लिगे अन्नलिगे य, गिहिल्लिगे तहेव य ॥
उक्कोसागाहणाए य, जहन्न मज्झिमाइ य ।
उद्धे अहे य तिरियं च, समुद्धम्मि जलम्मि य ॥

उत्त० ३६ : ५०, ५१

स्त्री शरीरसे, पुरुष शरीरसे, नपुंसक शरीरसे, जैन साधुके वेशमें.
अन्य दर्शनके साधुके वेशमें और गृहस्थके वेशमें सिद्ध हुए जीव—इस
तरह सिद्ध जीव अनेक प्रकारके हैं । अधिकसे अधिक कदवाले, कमसे
कम कदवाले और मध्यम कदवाले इस तरह सब शरीरवाले जीव सिद्ध
हो सकते हैं और इसी तरह ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मनुष्यलोक
आदि वाले जीव तीरछे लोकसे, समुद्र या अन्य जल-स्थानसे सिद्ध हो
सकते हैं ।

३—अलोए पडिह्या सिद्धा, लोयगगे य पडिह्या ।

इहं बोन्दि चइत्ता णं, तत्थ गन्तूण सिज्मई ॥

उत्त० ३६ : ५६, ५७

सिद्ध इस लोकमें शरीर त्याग कर—यही पर सिद्ध होकर, स्वभाविक उर्ध्वगतिसे लोकके अग्रभाग पर जाकर स्थिर होते हैं—वही अटक जाते हैं । इससे आगे अलोकमें नहीं जा पाते ।

४—तत्थ सिद्धा महाभागा, लोग्गम्मि पडिट्ठिया ।

भवप्पवंचउ मुक्का, सिद्धि वरगइं गया ॥

उत्त० ३६ : ६४

महा भाग्यवत सिद्ध पुरुष भव प्रपचसे मुक्त हो, श्रेष्ठ सिद्धगति को पाकर लोकके अग्रभाग—अन्तिम छोर पर स्थिर होते हैं ।

५—उस्सेहो जेस्स जो होइ, भवम्मि चरिमम्मि अ ।

तिभागहीणा तत्तो य, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥

उत्त० ३६ : ६५

चरम भवमें जीवका जो कद—शरीर-ऊँचाई होती है, उसके तीन भागके एक भागको छोड़कर जो ऊँचाई रहती है वही उस सिद्ध जीवका कद—ऊँचाई रहती है ।

६—एगत्तेणं साईया, अपज्जचसिया वि थ ।

पुहत्तेण अणाईया, अपज्जचसिया वि थ ॥

उत्त० ३६ : ६६

एक जीवकी अपेक्षासे मोक्ष सादि और अत रहित हैं । समूचे समुदायकी दृष्टिसे मोक्ष आदि और अत रहित हैं ।

७—अरूविणो जीवघणा, नाणदंसणसन्निया ।

अउलं सुहंसंपत्ता, उवमा जस्स नत्थि उ ॥

उत्त० ३६ : ६७

ये सिद्ध जीव ब्रह्मी और जीवघन हैं । ज्ञान और दर्शन इनका स्वरूप है । जिसकी उपमा नहीं ऐसे अतुल्य सुखसे ये संयुक्त होते हैं ।

८—छोएगदेसे ते सव्वे, नाणदंसणसन्निया ।

संसारपारनित्थिण्णा, सिद्धिं वरगइं गया ॥

उत्त० ३६ : ६८

सर्व सिद्ध जीव लोकके एक देश—भाग विशेषमें वसते हैं । ये केवलज्ञान और केवलदर्शनमय स्वरूपवाले हैं । ये संसारको पारकर उत्तम सिद्ध नामा गतिको पहुँचते हैं ।

५ : संसारी जीव

१—संसारस्था उ जे जीवा, दुविहा ते विआहिआ ।

तसा य थावरा चैव, थावरा तिचिहा तर्हि ॥

उत्त० ३६ : ६८

जो ससारी जीव हैं, वे दो प्रकारके कहे गए हैं—त्रस और स्थावर ।
स्थावर तीन प्रकारके हैं ।

२—पुढवी आउजीवा य, तहेव य वणस्सई ।

इच्चेते थावरा तिचिहा, तेसिं भेए सुणेह मे ॥

उत्त० ३६ : ६६

पृथ्वीकायिक जीव, अणुकायिक जीव और वनस्पतिकायिक जीव—
इस तरह स्थावर जीव तीन प्रकारके हैं, जिनके भेद मुझसे सुनो ।

३—दुविहा पुढवी जीवा उ, सुहुमा बायरा तहा ।

पज्जत्तमपज्जत्ता , एवमेए दुहां पुणो ॥

उत्त० ३६ : ७०

पृथ्वीकायिक जीव दो प्रकारके हैं—सूक्ष्म और बादर और इनमें
से प्रत्येक पर्याप्त अपर्याप्त भेदसे दो तरहके हैं ।

किण्हा नीला य रुहिरा य, हालिहा सुक्खिला तहा ।

पण्डु पणगमट्टिआ, खरा छत्तीसई विहा ॥

पुढवी य सक्करा बालुगा य, उवले सिला य लोणूसे ।

अय तंब तउव सीसगा रूप्प सुवण्णे य वइरे य ॥

उत्त० ३६ : ७२, ७३

कृष्ण, नीली, लाल, पीली, श्वेत, पाडू तथा पनक मिट्टी—ये
 उल्लक्षण—वादर कोमल पृथ्वीकायके सात भेद हैं। वादर खर—
 कठिन पृथ्वीकायके छतीस भेद हैं। यथा पृथ्वी, ककड़, बालू, उपल,
 निला, लवण, खारी मिट्टी, लोह, तरुआ, ताम्बा, सीसा, चादी, सोना,
 ब्रह्म आदि आदि। सूक्ष्म पृथ्वीकायजीव नाना भेदोंसे रहित एक ही
 प्रकारके होते हैं।

४—दुविहा आउ जीवा उ, सुहुमा बायरा तथा ।

पञ्जत्तमपञ्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥

उत्त० ३६ : ८४

अपकाय जीवोंके सूक्ष्म वादर इस प्रकार दो भेद हैं। इन दोनोंमें
 से प्रत्येकके फिर पर्याप्त अपर्याप्त ये दो भेद हैं।

बायरा जे उ पञ्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिआ ।

सुद्धोदए अ उस्से, हरतणू महिआहिमे ॥

उत्त० ३६ : ८५

जो वादर पर्याप्त अपजीव हैं वे पाच प्रकारके कहे गए हैं—
 (१) मेघका जल, (२) ओस, (३) हरतनु (४) घुअर और (५)
 वर्ष। सूक्ष्म नाना भेदोंसे रहित—एक प्रकारके होते हैं।

५—दुविहा वणस्सई जीवा, सुहुमा बायरा तथा ।

पञ्जत्तमपञ्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥

बायरा जे उ पञ्जत्ता, दुविहा ते विआहिआ ।

साहारणसरीरा य, पत्तेगा य तहेव य ॥

पत्तेअसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिआ ।

रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य, लया वल्ली तणा तथा ॥

साधारणसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिआ ।
आलूए मूलए चैव, सिंगवेरे तहेव य ॥

उत्त० ३६ : ६२, ६३, ६४, ६८

वनस्पति जीव सूक्ष्म और वादर—इस तरह दो प्रकारके हाते हैं ।
इनमेंसे प्रत्येक फिर पर्याप्त अपर्याप्त भेदसे दो तरहके होते हैं ।

जो वादर पर्याप्त है वे दो प्रकारके कहे गए हैं—(१) साधारण
शरीरी और (२) प्रत्येक शरीरी

वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, बल्ली, तृण, बलय आदि इस तरह प्रत्येक
शरीरी वनस्पति जीव अनेक प्रकारके कहे गए हैं ।

साधारण शरीरी वनस्पति जीव भी अनेक प्रकारके कहे गए हैं—
जैसे आलू, मूला, शृगवेर और हरिली आदि ।

६—तेउ वाऊ अ बोधच्वा, उराला य तसा तहा ।
इच्चेते तसा तिबिहा, तेसिं भेए सुणेह मे ।

उत्त० ३६ : १०७

त्रस जीव तीन प्रकारके हैं—तेजस्, वायु और प्रधान त्रस । इनके
उपभेद मुझसे सुनो ।

७—दुविहा तेउ जीवा उ, सुहुमा वायरा तहा ।

पज्जत्तमज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥

वायरा जे उ पज्जत्ता, णेगहा ते पकित्तिआ ।

अंगारे मुम्मुरे अगणी, अच्चि जाला तहेव य ॥

उत्त० ३६ : १०८-६

तेजस्कायके जीव दो प्रकारके होते हैं—सूक्ष्म और वादर ।
पर्याप्त वादर तेजस्कायके जीव अनेक प्रकारके कहे गये हैं—अगार,
मुर्मुर, अग्नि, अच्चि, ज्वाला, उलका, विद्युत् आदि । सूक्ष्म तेजस्जीव
नाना भेदोंसे रहित—एक ही प्रकारके—होते हैं ।

८—दुविहा वाउजीवा उ, गुहुमा वायरा तहा ।
 पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥
 वायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पक्कित्तिआ ।
 उक्कलिया मंडलिया, घण गुजा सुद्धवाया य ॥

उत्त० ३६ : ११७-१८

वायु जीव दो प्रकारके हैं— सूक्ष्म और वादर । इनमेंसे प्रत्येक पर्याप्त अपर्याप्त भेदसे दो प्रकारके होते हैं । पर्याप्त वादर वायुजीव— पाच प्रकारके कहे गये हैं—उत्कालिका, माडलिका, घन, गुजा, और शुद्ध वायु । सूक्ष्म वायुजीव नाना भेद रहित—एक प्रकारके हैं ।

९—उराला य तसा जे उ, चउहा ते पक्कित्तिआ ।
 वेइंदिआ तेइंदिआ, चउरो पंचिदिया चेव ॥

उत्त० ३६ : १२६

उदार त्रस जीव—चार प्रकारके कहे गये हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चन्द्रिय ।

१०—वेइंदिआ उ जे जीवा, दुविहा ते पक्कित्तिआ ।
 पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसि भेए सुणेह मे ॥
 किमिणो मंगला जेव, अलसा माइवाहया ।
 वासीमुहा य सिप्पीआ, संखा संखणया तहा ॥

उत्त० ३६ : १२७-२८

त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकारके कहे गए हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त । अब उनके उपभेद मूलसे सुनो । कृमि, सुमगल, अलसिया, मातृ-वाहक—घुण, वासीमुख, सीप, शख, छोटे शख, पल्लक आदि—द्वीन्द्रिय—जीव अनेक प्रकार हैं ।

११—तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिआ ।
 पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥
 कुंथू पिपीलि उहंसा, उक्कलुदेहिया तहा ।
 तणहारकट्टहारा, मालुगा पत्तहारगा ॥

उत्त० ३६ : १३६-३७,

त्रोन्द्रिय जीव—दो प्रकारके कहे गये हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त ।
 उनके प्रभेद मूझसे चुनो । कुंथू, चीटी, उदघ, उपदेहिक, तृणहार,
 ऋणहारक, मालुगा, पत्रहारक वादि अनेक तरहके त्रीन्द्रिय जीव हैं ।

१२—चउरिंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिआ ।
 पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे ॥
 अंधिया पोत्तिआ चैव. मन्धिआ मसगा तहा ।
 भमरे कीडपरंगे अ, टिंकुणे कुंठुणे तहा ॥

उत्त० ३६ : १४५-४६

चतुरिन्द्रिय जीव पर्याप्त अपर्याप्त भेदने दो प्रकारके कहे गये
 हैं । चतुरिन्द्रिय जीवके प्रकार मूझसे चुनो । अन्धिक, पौतिक
 मक्षिका, मक्षक, भ्रमर, कीट पतंग, टिंकण, कुकण वादि अनेक तरह
 के चतुरिन्द्रिय जीव होते हैं ।

१३—पंचेदिया उ जे जीवा, चउच्चिहा ते विआहिआ ।
 नेरइआ तिरिस्खा य, मणुआ देवा य आहिआ ॥

उत्त० ३६ : १५५

पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकारके कहे गये हैं—(१) नैरयिच,
 (२) तिर्यक् (३) मनुष्य और (४) देव ।

१४—नेरइआ सत्तविहा, पुद्वीसु सत्तसू भवे ।
 रयणाभसक्कराभा, वालुआभा य आहिआ ॥

पंकाभा धूमाभा, तमा तमस्तमा तथा ।
इति नेरइआ एते, सत्तहा परिकित्तिआ ॥

उत्त० ३६ : १५६-७

नैरयिक जीव सात प्रकारके सात पृथिवयोमे हांते हैं । रत्नाभा, बर्कराभा, वालुकाभा, पकभा, धूमाभा, तमा, तमस्तमा—इन सत भेदोसे नैरयिक सात प्रकारके कहे गए हैं ।

१५—पंचिदिअतिरिप्खा उ, दुविहा ते वियाहिया ।
सम्मच्छिमतिरिप्खा य, गन्भवक्कंतिआ तथा ॥

उत्त० ३६ : १७०

पचेंन्द्रिय तिर्यञ्च दो प्रकारके कहे गये हैं—सम्मच्छिम और गभंव्युत्क्रान्त ।

१६—मणुआ दुविहभेया उ, ते मे कित्तयओ सुण ।
सम्मच्छियम मणुस्सा य, गन्भवक्कंतिआ तथा ॥

उत्त० ३६ : १६३

मनुष्योंके दो भेद हैं । मनुष्य सम्मच्छिम और गभं व्युत्क्रान्त—दो तरहके हाते हैं ।

१७—देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमेज्जवाणमंतर, जोइसवेमाणिआ तथा ॥

उत्त० ३६ : २०२

देव चार प्रकारके हैं, उनका वर्णन मुझसे सुनो । मवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वंभानिक ये चार देवोंके भेद हैं ।

६ : कर्मवाद*

१—नो इन्द्रियगोष्ठम् अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ निञ्चो ।
अज्मत्थहेउ' निययस्स वंधो, संसारहेउ' च वयंति वंधं ॥

उत्त० १४ : १६

आत्मा अमूर्त है इसलिए वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है । अमूर्त होने के कारण ही आत्मा नित्य है । अज्ञान आदि कारणोंसे ही आत्माके कर्म-बन्धन है और कर्म-बन्धन ही संसारका कारण कहलाता है ।

२—अट्ट कम्मार्इ' वोच्छामि, आणुपुट्ठिवं जहाकर्मं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परिवट्ठई ॥

उत्त० ३३ : १

जिन कर्मोंसे बन्धा हुआ यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता है, वे सख्यामें आठ है । मैं यथाक्रम उनका वर्णन करूंगा ।

३—नाणस्सावरणिज्जं, हुंसणावरणं तथा ।
वेयणिज्जं तथा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥

कर्मका अर्थ साधारण तौर पर क्रिया किया जाता है । परन्तु यहा पर कर्मका अर्थ क्रिया नहीं है । जैन परिभाषामें, नियामें आत्म प्रदेशोंके साथ जिन पुद्गल-स्कन्धोंका सम्बन्ध होता है, उन्हें कर्म कहते हैं । आत्माके साथ इस प्रकार बंधे हुए जेठ कर्म भिन्न-भिन्न प्रकृति व स्वभावके होते हैं । स्वभावके भेदसे कर्मोंको ज्ञानावरणीय आदि आठ वर्ग होते हैं ।

नामकर्मं च गोत्तं च, अंतरायं तद्देव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्टेव उ समासओ ॥

उत्त० ३३ : २, ३

(१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४)
मोहनीय (५) आयु कर्म (६) नाम कर्म (७) गोत्र कर्म और
(८) अन्तराय कर्म—ये सक्षेपमें आठ कर्म* हैं ।

४—सव्वजीवा ण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण वज्झमां ॥

उत्त० ३३ : १८

सर्व जीव अपने भास-पास छवो दिशाओंमें रहे हुए कर्म पुद्गलो
को ग्रहण करते हैं और आत्माके सर्व प्रदेशोंके साथ सर्व कर्मोंका सर्व
प्रकारसे वधन होता है ।

५—जमिणं जगई पुढो जगा, कम्महिं लुप्पन्ति पाणिणो ।
सयमेव कडेहि गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जपुट्टयं ॥

सू० १, २ । १ : ४

. इस जगत्में जो भी प्राणी है, वे अपने-अपने सचित कर्मोंसे ही
संसार-भ्रमण करते हैं और स्वकृत कर्मोंके अनुसार ही भिन्न-भिन्न
योनिधा पाते हैं । फल भोगे बिना उपाजित कर्मोंसे प्राणीका छुटकारा
नहीं होता ।

६—असिं च लोए अट्टु वा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा ।
संसारमावन्न परं परं ते, वंधंति वेयंति य दुन्नियाणि ॥

सू० १, ७ : ४

* इन आठ कर्मोंके अर्थके लिए देखिए प्रकरणके अन्तमें क्रमशः
टिप्पणी न० १ से ८

इसी जन्ममें अथवा पर जन्ममें कर्म फल देते हैं। किए हुए कर्म एक जन्ममें अथवा सहस्रों—अनेक जन्मों भी फल देते हैं। जिस प्रकार वे कर्म किए गए हैं उसी तरहसे अथवा दूसरी तरहसे भी फल देते हैं। संसारमें चक्र काटता हुआ जीव कर्म बरा बड़ेसे बड़ा दुःख भोगता है और फिर आर्त्त ध्यान कर नये कर्मको बांधता है। बांधे हुए कर्मोंका फल दुर्निवार्य है।

७—कामेहि य संघवेहि गिद्धा, कल्पसहा कालेण जन्तवो।

ताले जह बन्धणच्छुए, एवं आयुक्खयम्मि तुद्धई॥

सू० १. २। १ : ६

जिस तरह बन्धनसे मुक्त हुआ ताल फल भूमि पर गिर पड़ता है उसी तरह समय पाकर आयु शेष हो जाती है और काननोग तथा सम्बन्धियोंमें आसक्त प्राणी अपने कर्मोंका फल भोगता है।

८—सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो।

हिण्डन्ति भयाडला सढा, जाइजरा मरणेहिभिद्धया॥

सू० १. २। ३ : १८

सर्व प्राणी अपने कर्मोंके अनुसार ही पृथक्-पृथक् योगियोंमें व्यवस्थित हैं। कर्मोंकी अर्थात्ताके कारण अव्यक्त दुःखने दुखिन प्राणी जन्म, मरा और मरणसे सदा भयभीत रहते हुए चार गति रूप संसार-चक्रमें भटकते हैं।

९—तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।

एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मुक्खुजत्थि॥

उत्त० ४ : ३

जैसे पापी चोर खातके मुह पर पकड़ा जाकर अपने कर्मोंके कारण ही दुःख उठाता है उसी तरहसे इस लोक या परलोकमें कर्मोंके फल

भोगने ही पडते हैं । फल भोगे बिना संचित कर्मोंसे छुटकारा नहीं हो सकता ।

१०—तम्हा एएसिं कम्माणं, अणुभागा वियाणिया ।

एएसिं संवरे चेव, खवणे य जए बुहो ॥

उत्त० ३३ : २५

अत इन कर्मोंके अनुभाग—फल देनेकी शक्तिको समझकर बुद्धिमान पुरुष नये कर्मोंके सवयको रोकनेमें तथा पुराने कर्मोंके क्षय करने में सदा यत्नवान रहे ।

११—रागो य दोसो वि य कम्मवीयं, कम्मंच मोहप्पभवं वयंति ।

कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च त्ताईमरणं वयंति ॥

उत्त० ३२ : ७

राग और द्वेष ये दोनों कर्मके बीज हैं—कर्म मोहसे उत्पन्न होता है, ऐसा ज्ञानियोका कथन है । कर्म जन्म-मरणका मूल है और जन्म-मरणको दुःखकी परम्परा कहा है ।

१२—सुक्कमूले जहा रुक्खे, सिंचमाणे ण रोहति

एवं कम्मा ण रोहंति मोहणिज्जे खयं गए

दशाश्रुत स्कंध ५ : १४

जिस तरह मूल सूख जानेसे सीचने पर भी वृक्ष लहलहाता-हरा भरा नहीं होता है, इसी तरहसे मोह कर्मके क्षय हो जाने पर पुन कर्म उत्पन्न नहीं होते ।

१३—जहा दड्ढाणं वीयाणं, ण जायंति पुणअंकुरा

कम्म वीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा

दशाश्रुत स्कंध ५ : १५

जिस तरह दग्ध बीजोंमें से पुन अंकुर प्रगट नहीं होते, उभी तरह

से कर्म-रूपी वीरोंके दण्ड ही जानसे भव-बन्धुर उत्पन्न नहीं होते हैं ।

१४—जह जीवा वज्झन्ति मुञ्चन्ति जह च परिक्रित्तिस्सति

जह दुक्खाण अंतं करेति केइ अपड्विवद्धा

औपपातिक सू० ३४

जैसे कई जीव कर्मोंसे बंधते हैं, वैसे ही मृत्यु भी होते हैं और जैसे कर्मोंके संचयने महान कष्ट पाते हैं वैसे ही कर्मोंके क्षयने दुःखोंका अन्त भी कर डालते हैं । अप्रतिबद्ध विहारो निग्रन्थोने ऐसा कहा है ।

१५—अद्दुद्दुद्द्वियचित्ता जह जीवा दुक्खसागरमुवेति

जह वेरगानुवगया कम्मससुगं विहाडेति

औपपातिक सू० ३४

जैसे अत-रहित ध्यानसे विकल्प चित्तवाले दुःखसागरको प्राप्त होने हैं, वैसे ही वैराग्यको प्राप्त हुए जीव कर्म-समूहको नष्ट कर डालते हैं ।

१६—जह रागेण कडाण कम्माणं पावगो फल विवागो

जह च परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेति

औपपातिक

जैसे राग (—द्वेष) द्वारा उपाजित कर्मोंके फल दूरे होते हैं, वैसे ही सर्व कर्मोंके क्षयसे जीव सिद्ध होकर सिद्ध लोकको पहुँचने हैं ।

टिप्पणियाँ

१—आत्माकी ज्ञान शक्तिको प्रगट होनेसे रोके उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं । ज्ञान पांच तरहके होते हैं । (१) इन्द्रिय व मनके सहारेसे जो ज्ञान होता है वह भक्ति ज्ञान; (२) शान्त्रिके अध्ययन व मुननेसे जो ज्ञान होता है व श्रुति ज्ञान; (३) किसी बीनाके अन्दरके पदार्थोंका इन्द्रिय आदिसे सहारे बिना ही जो ज्ञान होना

है वह अवधि ज्ञान, (१) बिना इन्द्रिय आदिकी सहायताके सजी जीवोके मनोगत भावोका ज्ञान होना मन पर्यव ज्ञान, (५) पदार्थों का सम्पूर्ण ज्ञान केवल ज्ञान—इस तरह ज्ञानके पाच भेद होते हैं ।

—दर्शन—आत्माकी देखनेकी शक्तको रोकनेवाले कर्मको दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं । निद्रा—सजग नीद, निद्रा निद्रा—कठिनाई से जागनेवाली नीद; प्रचला—बैठे-बंठे या खड़े-खड़े नीद आना; प्रचला-प्रचला—चलते फिरते नीदका आना; स्त्यानगृद्धि—दिनमें व रातमें विचारे हुए कामको नीदमें ही कर डालना । नीदके ये पाच भेद हैं । पाचो प्रकारके निद्रा भाव दर्शनावरणीय कर्मके उसी नामके उपभेदके उदयसे होते हैं । निद्राके भेदोके अनुसार ही इन उपभेदोके नाम निद्रा दर्शनावरणीय आदि कर्म हैं ।

चक्षुदर्शन—आखके द्वारा पदार्थोका सामान्य बोध होना ।

अचक्षुदर्शन—ग्राह्य विना त्वचा, कान, जिह्वा आदिसे पदार्थोका सामान्य बोध होना ।

अवधि दर्शन—इन्द्रिय और मनके सहारे बिना ही किसी खास सीमाके अन्दर रहे रूपा पदार्थोका सामान्य बोध ।

केवल दर्शन—सम्पूर्ण पदार्थोका सामान्य बोध ।

—वेदनीय कर्म.—जिस कर्मसे सुख दुःखका अनुभव होता हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं । सुखात्मक व दुःखात्मक अनुभूतिके भेदसे यह कर्म साता वेदनीय व असाता वेदनीय दो प्रकारका होता है ।

—मोहनीय कर्म—जो कर्म आत्माको मोह दिहल्ल करे, स्व-पर विवेकमें बाधा पहुँचावे उसे मोहनीय कर्म कहते हैं । आत्माके सम्यक्त्व या चरित्र गुणकी घात करनेसे यह कर्म दर्शन व चरित्र मोहनीय दो तरहका होता है ।

- ५—जो कर्म प्राणीकी जीवन-अवधि—आयुको निर्धारित करे उसे आयु कर्म कहते हैं । जीवकी नरकादि गतिके अनुसार आयु कर्मके चार भेद हैं ।
- ६—जो कर्म प्राणीकी गति, शरीर, परिस्थिति आदिका निर्मायक हो उसे नाम कर्म कहते हैं । शुभ अशुभ भेदसे यह दो तरहका है ।
- ७—गोत्र कर्म—ब्रह्म कर्म है जो मनुष्यके ऊच नीच कुलका निर्धारण करे ।
- ८—जो कर्म—दान, लाभ, भोग-उपभोग, पराक्रम—इन चार बातोंमें रूकावट डाले, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं ।

७ : मोक्ष मार्ग

[१]

१—नाणं च दंसणं चैव, चरित्तं च तवो तथा ।

एस मग्गु त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वर दंसिहिं ॥

उत्त० २८ । २

वस्तु स्वरूपको जाननेवाले—परमदर्शी जिनोने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस चतुष्टयको मोक्ष-मार्ग कहा है ।

२—एयं पंचविहं नाणं, ढव्वाण य गुणाण य ।

पज्जवाण च सव्वेसिं, नाणं नाणीहिं देसियं ॥

उत्त० २८ : ५

सर्व द्रव्य, उनके सर्व गुण और उनकी सर्व पर्यायिके यथार्थ ज्ञान को ही ज्ञानी भगवानने 'ज्ञान' कहा है । यह ज्ञान पाच^१ प्रकारसे होता है ।

३—जीवाऽजीवा य वन्धो य, पुण्णं पावासवो तथा ।

संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव ॥

उत्त० २८ : १४

(१) जीव, (२) अजीव, (३) बन्ध, (४) पुण्य, (५) पाप, (६) आश्रय, (७) संवर, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष—ये नौ तत्त्व—मत् पदार्थ है ।

१—देखिए पृ० ४१४ टिप्पणी नं० १

४—तहियाणं तु भावाण, सवभावे उवएसणं ।
भावेणं सदहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहिर्यं ॥

उत्त० २८ : १५

स्वय ही—अपने आप ही या उपदेशसे उपरोक्त सत् भूत तत्त्वों के अस्तित्वमें आन्तरिक श्रद्धा—विश्वास—होना—इसे ही सम्यक्त्व कहा गया है ।

५—परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि ।
वावन्नकुदंसणवज्जणा, य सम्मत्तसदहणा ॥

उत्त० २८ : २८

परमार्थका सत्त्व—परिचय, तत्त्वज्ञानी—जो परमार्थको अच्छी तरह पा चुके उनकी सेवा तथा सन्मार्ग-भ्रष्टता और कुदर्शनका वर्जन—ये ही सम्यक्त्वकी श्रद्धा—सत्य श्रद्धानके लक्षण हैं ।

६—निसंक्रिय-निक्रंखिय, निव्वित्तिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उवयूह-थिरीकरणे, वञ्छहपभावणे अट्ठ ॥

उत्त० २८ : ३१

(१) नि.शका—(२) नि काक्षा, (३) निव्विचिकत्सा (४) अमूढदृष्टित्व (५) उपवृ ह (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य भाव और (८) प्रभावना—ये आठ सत्त्वो श्रद्धावालेके आचार हैं ।

७—नत्थिचरित्तं सम्मत्तविहूणं, ढंसणे उ भइयव्वं ।

सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥

उत्त० २८ : २६

सत्त्वो श्रद्धा बिना चारित्र्य सभव नहीं है, श्रद्धा होनेसे ही चारित्र्य होता है । जहा सम्यक्त्व और चारित्र्य युगपत्—एक साथ होते है वहा पहले सम्यक्त्व होता है ।

८—नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं ॥

उत्त० २८ : ३०

जिसके श्रद्धा नहीं है, उसके सच्चा ज्ञान नहीं होता और सच्चे ज्ञान विना चारित्र्यगुण नहीं होते और चारित्र्यगुणोंके विना कर्म मुक्ति नहीं होती और कर्म-मुक्ति विना निर्वाण नहीं होता ।

९—जहा सुई ससुत्ता, पडियावि न विणस्सइ ।

तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ ॥

उत्त० २६ : ५६

जिस तरह सूतेमें पिरोई हुई सूई गिरने पर भी नहीं खोती, उसी प्रकार ज्ञानरूपी सूतेमें पिरोई हुई आत्मा संसारमें विनाशको प्राप्त नहीं होती ।

१०—नाणेण जाणई भावे, दंसणेणं य सद्धे ।

चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ॥

उत्त० २८ : ३५

ज्ञानसे जीव पदार्थोंको जानता है, दर्शनसे श्रद्धा करता है, चारित्र्य में आस्रवका निरोध करता है और तपसे कर्मोंको भ्राड कर शुद्ध होता है ।

[२]

१—नाणं च दसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।

वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ॥

उत्त० २८ : ११

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप, वीर्य और उपयोग—ये सब जीवके लक्षण हैं ।

२—तत्थ पंचविहं नाण, सुयं आभिनिवोहियं ।

ओहिनाणं तु तइयं, मणनाण च केवलं ॥

उत्त० २८ । ४

ज्ञान पाच प्रकारका है . (१) श्रुत ज्ञान, (२) ज्ञानि-
निवोधिक—मति ज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन पर्यव ज्ञान
और (५) केवल ज्ञान ।

३—निसग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्त-वीयरुइमेव ।

अभिगम-वित्थाररुई, किरिया-संखेव-धम्मरुई ॥

उ० २८ : १६

सम्यक्त्व दस प्रकारका है (१) निसर्ग रुचि, (२) उपदेख
रुचि, (३) आज्ञा रुचि, (४) सूत्र रुचि (५) वीज रुचि, (६)
अभिगम रुचि, (७) विस्तार रुचि, (८) क्रियारुचि, (९) नक्षेप-
रुचि और (१) धर्मरुचि ।

४—सामाइयत्थ पढमं, छेदोवट्ठावण भवे वीयं ।

परिहारविसुद्धीयं, सुहुम तह संपरायं च ॥

अकसाय महक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्सवा ।

एयं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं ॥

उ० २८ : ३२, ३३

(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थानीय, (३) परिहार विशुद्धि,
(४) सूक्ष्मसंपराय तथा (५) कषाय रहित यथास्यात् चारित्र
(जो छद्मस्थ या जिनको प्राप्त होता है) ये सब कर्मोंकी राशिको
रिक्त—क्षय करनेवाले चारित्रके पाच भेद है ।

५—तवो य दुविहो वुत्तो, वाहिरम्भंतरो तहा ।

वाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमम्भंतरो तवो ॥

उ० २८ : ३४

तप दो प्रकारका कहा गया है—वाह्य और आभ्यन्तर ।
वाह्य तप छ. प्रकारका है और आभ्यन्तर तप भी छ प्रकार का ।

६—अणसणमूणोयरिया, भिप्खायरिया य रसपरिञ्चाओ ।
कायक्लेशो संलीणया य, वज्झो तवो होह ॥

उत्त० ३० : ८

अनश्न, ऊनोदरी, भिक्षाचारी, रस-परित्याग, कायक्लेश और
सलेपना—ये छ वाह्य तप हैं ।

७—पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
भाणं च विडस्सग्गो, एसो अट्ठिभतरो तवो ॥

उत्त० ३० : ३०

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग—
ये छ आभ्यन्तर तप हैं ।

८—नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं ॥

उ० २८ : ३

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप—इस मार्गको प्राप्त हुए जीव
सुगतिको जाते हैं ।

८ : सिद्धि-क्रम

१—जया जीवमजीवे य, दोऽधि एए वियाणइ ।

तया गइं बहुविहं, सब्वजीवाण जाणइ ॥

द० ४ : १४

जब मनुष्य जीव और अजीव—इन दोनोंको अच्छी तरह जान लेता है, तब सब जीवोंकी बहुविध गतियोंको भी जान लेता है ।

२—जया गइं बहुविहं, सब्वजीवाण जाणइ ।

तया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ ॥

द० ४ : १५

जब मनुष्य सर्व जीवोंकी बहुविध गतियोंको जान लेता है, तब पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षको भी जान लेता है ।

३—जया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ ।

तया निट्ठिदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ॥

द० ४ : १६

जब मनुष्य पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षको जान लेता है, तब जो भी देवो और मनुष्योंके कामभोग है, उन्हें जानकर उनसे विरक्त हो जाता है ।

४—जया निट्ठिदए भोए, जे दिव्वे जे अ माणुसे ।

तया चयइ संजोगं, सट्ठिंत्तरवाहिरं ॥

द० ४ : १७

जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगोंसे विरक्त हो जाता है, तब वह अन्दर और बाहरके सयोग—सम्बन्धोंको छोड़ देता है ।

५—जया जयइ सजोगं, सच्चिन्तरवाहिर ।
तया मुण्डे भवित्ताणं, पठ्वयइ अणगारियं ॥

द० ४ : १८

जब मनुष्य बाहर और भीतरके सासारिक सम्बन्धोंको छोड़ देता है, तब मुण्ड हो अनगारवृत्तिको धारण करता है ।

६—जया मुण्डे भवित्ताणं, पठ्वयइ अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्टं, धम्मं फासे अणुत्तरं ॥

द० ४ : १६

जब मनुष्य मुण्ड हो अनगार वृत्तिको ग्रहण करता है, तब वह उत्कृष्ट समय और अणुत्तर धर्मका स्पर्श करता है ।

७—जया संवरमुक्किट्टं, धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं, अवोहिकलुसं कडं ॥

द० ४ : २०

जब मनुष्य उत्कृष्ट समय और अनुत्तर धर्मका स्पर्श करता है, तब वह अज्ञानसे सचित की हुई कलुष कर्मरजको धुन डालता है ।

८—जया धुणइ कम्मरयं, अवोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥

द० ४ : २१

जब मनुष्य अज्ञानसे सचित की हुई कलुष कर्मरजको धुन डालता है, तब सर्वगामी केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त कर लेता है ।

६—जया सञ्चत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥

द० ४ : २२

जब मनुष्य सर्वगामी केवल ज्ञान और केवल दर्शनको प्राप्त कर लेता है, तब वह जिन केवली लोक-अलोकको जान लेता है ।

१०—जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसि पठिवज्जइ ॥

द० ४ : २३

जब मनुष्य जिन केवली हो लोक अलोकको जान लेता है, तब योगीका निरोध कर वह शैलेशी अवस्थाको प्राप्त करता है ।

११—जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसि पठिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥

द० ४ : २४

जब मनुष्य योगीका निरोध कर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त करता है, तब कर्मोंका क्षय कर निरज सिद्धिको प्राप्त करता है ।

१२—जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो ह्यइ सासओ ॥

द० ४ : २५

जब मनुष्य सर्व कर्मोंका क्षय कर निरज सिद्धिको प्राप्त करता है, तब वह लोकके मस्तक पर स्थित शाश्वत सिद्ध होता है ।

१३—सोच्चा जाणइ कल्लणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समाचरे ॥

द० ४ : ११

जीव सुनकर कल्याणको जानता है और सुनकर ही पापको जानता है । पाप और कल्याण दोनो सुनकर ही जाने जाते हैं । सुन कर मनुष्य जो श्रेय हो उसका आचरण करे ।

९ : अज्ञान क्षय-क्रम

१—ओयं चित्तं समादाय, भ्राण समुप्पज्जइ ।

धम्मो ठिओ अविमाणो, निव्वाणमभिगच्छइ ॥

द० श्रु० ५ : १

राग द्वेष रहित निर्मल चित्तवृत्तिको धारण करनेसे जीव धर्म ध्यानको प्राप्त करता है । जो शब्दा रहित मनसे धर्ममे स्थित होता है, वह निर्वाण-पदकी प्राप्ति करता है ।

२—ण इमं चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायइ ।

अप्पणो उत्तमं ठाणं, सन्नि-णाणेण जाणइ ॥

द० श्रु० ५ : २

इस प्रकार द्वेष रहित निर्मल चित्तको धारण करनेवाला मनुष्य इस लोकमें बार-बार जन्म नहीं लेता, वह सन्नि-ज्ञानसे अपने उत्तम स्थानको जान लेता है ।

३—अहातच्चं तु सुमिण, खिपं पासेति संवुडे ।

सब्बं वा ओहं तरति, दुक्ख-दोय विमुच्चइ ॥

द० श्रु० ५ : ३

सवृतात्मा शीघ्र ही यथातथ्य स्वप्नको देखता है और सर्व प्रकार मे ससाररूपी समुद्रसे पार हो, शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःखसे छुट जाता है ।

४—पंताइं भयमाणस्स, त्रिवित्तं सयणासणं ।

अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसति ताइणो ॥

द० श्रु० ५ : ४

जो अन्त प्रान्त आहारका भोजन करनेवाला हाता है, जो एकात शयन आसनका सेवन करता है, जो अल्पाहारी और दात-इन्द्रियोंको जोतनेवाला—होता है तथा जो षट्कायके जीवोंका त्राता होता है, उसे देव शीघ्र ही दर्शन देते हैं ।

५—सव्व-काम-विरत्तस्स, खमणो भय-भेरवं ।

तओ से ओही भवइ, संजयस्स तवस्सिणो ॥

द० श्रु० ५ : ५

जो सर्वकामसे विरक्त होता है, जो भय-भैरवको सहन करता है, उस मयमी और तपस्वी मुनिके अवधिज्ञान उत्पन्न होता है ।

६—तवसा अवहट्ठूलेस्सस्स, दंसण परिमुज्झइ ।

उड्डुं अहे तिरियं च, सव्वमणुपासत्ति ॥

द० श्रु० ५ : ६

जो तपसे अशुभ लेश्याओंको दूर हटा देता है, उसका अवधिदर्शन विशुद्ध—निर्मल—हो जाता है और फिर वह ऊर्ध्वलोक अधोलोक और तिर्यक्लोकके जीवादि पदार्थोंको सब तरहसे देखने लगता है ।

७—सुसमाहिण्णस्सस्स, अवितक्कस्स भिक्खुणो ।

सव्वतो विप्पमुक्कस्स, आया जाणाइ पज्जावे ॥

द० श्रु० ५ : ७

जो साधु भली प्रकार स्थापित शुभ लेश्याओंको धारण करने वाला होता है, जिसका चित्त तर्क-वितर्कसे चंचल नहीं होता—इस तरह जो सर्व प्रकारसे विमुक्त होता है उसकी आत्मा मनके पर्यवोंको

जान लेती हैं—उसे मन-पर्यव ज्ञान उत्पन्न होता है ।

८—जया से णाणावरणं, सर्व्वं होइ खयं गयं ।

तओ लोगमलोगं च, जिणो जाणति केवली ॥

द० श्रु० ५ : ८

जिस समय उस मुनिका ज्ञानावरणीय कर्म सब प्रकारसे क्षय-गत हो जाता है, उस समय वह केवल ज्ञानी और जिन हो लोक-अलोकको जानने लगता है ।

९—जया से दरसणावरणं, सर्व्वं होइ खयं गयं ।

तओ लोगमलोगं च, जिणो पासति केवली ॥

द० श्रु० ५ : ९

जिस समय उस मुनिका दर्शनावरणीय कर्म सब प्रकारसे क्षय गत होता है, उस समय वह जिन और केवली हो लोक-अलोकको देखने लगता है ।

१०—पडिमाए विसुद्धाए, मोहणिज्जं खयं गयं ।

असेसं लोगमलोगं च, पासेति सुसमाहिण ॥

द० श्रु० ५ : १०

प्रतिज्ञाके विशुद्ध आराधनसे जब मोहनीय कर्म क्षय-गत होता है, तब सुसमाहित आत्मा अशेष—सम्पूर्ण—लोक और अलोकको देखने लगता है ।

११—जहा मत्थय सूइए, हंताए हम्मइ तले ।

एवं कम्माणि हम्मंति, मोहणिज्जे खयं गयं ॥

द० श्रु० ५ : ११

जिस तरह अन्नभाग पर छेदन करनेसे ताडका गुच्छ भूमि पर गिर पड़ता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्मके क्षय-गत होनेसे सर्व कर्म

भी-नष्ट हो जाते हैं ।

१२—सेणावतिमि निहते जहा, सेणा पणस्सत्ति
एवं कम्माणि णस्संति, मोहणिज्जे खयं गयं ।

द० श्रु० १ : १२

जिस प्रकार सेनापतिके मारे जाने पर सारी सेना नाशको प्राप्त होती है, उसी तरह मोहनीय कर्मके क्षय गत होने पर सर्व कर्म नाश को प्राप्त होते हैं ।

१३—धूमहीणो जहा अग्गी, खीयति से निरिंधणे ।
एवं कम्माणि खीयंति, मोहणिज्जे खयं गए ॥

द० श्रु० ५ : १३

जिस तरह अग्नि इन्धनके अभावमें धूम रहित होकर क्रमशः क्षय को प्राप्त होती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्मके क्षय होने पर सर्व कर्म क्षयको प्राप्त होते हैं ।

१४—चिच्चा औरालियं वोंदि, नाम गोयं च केवली ।
आउयं वेयणिज्जं च, छित्ता भवति नीरणे ॥

दशा० श्रु० ५ : १६

केवली भगवान् इस शरीरको छोड़कर तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्मका छेदन कर कर्म रजसे सर्वथा रहित हो जाते हैं ।

१५—एवं अभिसमागम्म, चित्तमादाय आउसो ।
सेणि-सुद्धिमुवागम्म, आया सुद्धिमुवागई ॥

दशा० श्रु० ५ : १७

हे शिष्य ! इस प्रकार समाधिसे भेदको जान, राग और द्वेषसे रहित चित्तको धारण करनेसे शुद्धि श्रेणीको प्राप्त कर आत्मा शुद्धिको प्राप्त करता है ।

१० : सिद्ध और उनके सुख

१—असरीरा जीवघणा उचउत्ता, ढंसणे य णाणे य ।

सागार मणागारं, लक्खणमेय तु सिद्धाणं ॥

उव० सू० १७८

सिद्ध अशरीर—शरीर रहित—होते हैं। वे चैतन्यघन और केवलज्ञान-केवलदर्शनसे सयुक्त होते हैं साकार और अनाकार उपभोग उनका लक्षण होता है।

२—केवलणाणुवउत्ता जाणंहि सव्वभावगुणभावे ।

पासंति सव्वओ खलु केवलदिट्ठीअणंताहिं ॥

उव० सू० १७९

सिद्ध केवलज्ञानसे सयुक्त होनेसे सर्वभाव, गुणपर्यायको जानते हैं और अपनी अनन्त केवल दृष्टिसे सर्वभाव देखते हैं।

३—णवि अत्थि माणुसाणं तं सोक्खं ण विय सव्वदेघाणं ।

जं सिद्धाणं सोक्खं अच्चावाहं उदर/याणं ॥

उव० सू० १८०

म मनुष्यके ऐसा सुख होता है और न सब देवोंके जैसा कि अच्चा-वाघ गुणको प्राप्त सिद्धोंके होता है।

४—जइ णाम कोइ मिच्छो णगरगुणे बहुविहे वियाणं तो ।

ण चएइ परिकहेउ उवमाए तहिं असंतीए ॥

इय सिद्धाण सोपखं अणोवमं णत्थि तस्स ओवन्मं ।
किचि विसेसेणेत्तो ओवम्ममिणं सुणह वोच्छं ।

उव० सू० १८३, १८४

जैसे कोई म्लेच्छ नगरकी अनेक विध विशेषताका देख चुकने पर भी उपमा न मिलनेसे उनका वर्णन नहीं कर सकता, इसी तरह सिद्धों का सुख अनुपम होता है। उनकी तुलना नहीं हो सकती।

५—जह सव्वकामगुणियं पुरिसो भोत्तूण भोयणे कोई ।
तण्हा छुहाविमुको अच्चेज्ज जहा अमियत्तित्तो ॥
इय सव्वकालत्तित्ता अउलं निव्वाणमुवगया सिद्धा ।
सासयमव्वावाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता ॥

उव० सू० १८५, १८६

जिस प्रकार सर्व प्रकारके पाचो इन्द्रियाके भागका प्राप्त हुआ मनुष्य भोजन कर, क्षुधा और प्याससे रहित हो अमृत पीकर तृप्त हुए मनुष्यकी तरह होता है उसी तरह अतुल निर्वाण प्राप्त सिद्ध सदा काल तृप्त होते हैं। वे शाश्वत सुखको प्राप्तकर अव्यावाहित सुखी रहते हैं।

६—सिद्धत्ति य वुद्धत्ति य पारगयत्ति य परंपरगयत्ति ।

उम्मुक्कक्कम्मक्कवया अजरा अमरा अरंगा य ॥

उव० सू० १८७

सर्व कार्य सिद्ध होनेसे वे सिद्ध हैं सर्व तत्त्वके पारगामी होनेसे वुद्ध हैं, सत्तार-समृद्धको पार कर चुके होनेसे पारगत हैं, हमेशा सिद्ध रहेंगे इससे परंपरागत हैं।

७—णिच्छिण्णसव्वदुधखा जाइजरासरणवंधणविमुक्का ।

अव्वावाहं सुक्खं अणुहोति सासयं सिद्धा ॥

उव० सू० १८८

वे सब दुःखोको छेद चुके होते हैं। वे जन्म, जरा और मरणके बधनसे विमुक्त होते हैं। वे अव्यावाध सुखका अनुभव करते हैं और शाश्वत सिद्ध होते हैं।

८—अतुल सुहसागरगया अन्वावाहं अणोवमं पत्ता।

सव्वमणागपमद्धं चिद्धंति सुही सुहं पत्ता ॥

उव० सू० १८६

वे अतुल सुख-सागरको प्राप्त होते हैं, वे अनुपम अव्यावाध सुखको प्राप्त हुए होते हैं। अनन्त सुखको प्राप्त हुए वे अनन्त सुखी वर्तमान अनागत सभी कालमें वैसे ही सुखी रहते हैं।

११ : दुर्लभ सुलभ

१—मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा हु हिंसगा ।
इय जे मरन्ति जीवा, तेसि पुण दुल्लहा बोही ॥

उत्त० ३६ : २५५

जो जीव मिथ्यादर्शनमें रत है, जो निदान—फल पानेकी कामना—सहित है तथा जो हिंसामे प्रवृत्त है—ऐसी स्थितिमें जो जीव मरते हैं उनके लिए पुन. बोधि—सम्यक्त्व—का पाना दुर्लभ है ।

२—सम्मदंसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इय जे मरन्ति जीवा, तेसि सुलहा भवे वोही ॥

उत्त० ३६ : २५६

जो सम्यक्दर्शनमें अनुरक्त, निदान—फल-कामनासे रहित और शुक्ललेश्यामें प्रतिष्ठित है—ऐसी स्थितिमें जो जीव मरते हैं, उनके लिए बोधि—सम्यक्त्व—सुलभ होता है ।

३—मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा कण्हलेसमोगाढा ।
इय जे मरन्ति जीवा, तेसि पुण दुल्लहा बोही ॥

उत्त० ३६ : २५७

जो जीव मिथ्यादर्शनमें रत, निदान—फल कामनासे सहित तथा कृष्णलेश्यामें प्रतिष्ठित है, इस प्रकारकी स्थितिमें जो जीव मरते हैं, उन्हें पुन. बोधि प्राप्त होना दुर्लभ है ।

४ - जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेति भावेण ।
अमला असंकलिद्धा, ते होंति परित्तसंसारी ॥

उत्त० ३६ : २६१

जो जोगेव जिन वचनोमें अनुरक्त, जिन वचनोके अनुभार भावसे
आचरण करनेवाले, अमल—मिथ्यात्व-मल और रागादि क्लेषोंसे
रहित है, वे परित्तसंसारी—ससारका छोटी करनेवाले होते हैं ।

१२ : दिग्मूढ

१—वणे मूढे जहा जन्तू, मूढे नेयाणुगामिए ।
दो वि एए अकोविया, तिब्बं सोयं नियच्छई ॥
अन्धो अन्धं पहं नेन्तो, दूरमद्वाण गच्छइ ।
आवज्जे उप्पहं जन्तू, अदु वा पन्थाणुगामिए ॥
एवमेगे नियागट्ठी, धम्ममाराहगा वयं ।
अदु वा अहम्ममावज्जे, न ते सब्वज्जुयं वए ॥

सू० १, १ । २ : १८, १६, २०

जैसे वनमे भूला कोई दिग्मूढ जीव दूसरे दिग्मूढ जीवका अनुसरण कर ठीक रास्ते पर नहीं आता और रास्तेको नहीं जाननेसे दोनो ही तीव्र शोकको प्राप्त होते हैं ।

जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धेको मार्ग दिखाता हुआ दूर निकल जाता है या उत्पथमे चल आता या उल्टे पथ पर चला जाता है, उसी तरहसे कई मुक्तिकी कामना रखनेवाले समझते हैं कि हम धर्म की आराधना कर रहे हैं परन्तु मिथ्या धर्म पर चलनेसे वे सर्वथा ऋजू—सरल—मार्गको नहीं पाते ।

२—एवमेगे वियक्काहि, नो अन्नं पज्जुवासिया ।

अप्पणो य वियक्काहिं, अयमज्जुहि दुम्मई ॥

एवं तफकाइ साहेन्ता, धम्माधम्मे अकोविया।
दुस्खं ते नाइतुट्टेन्ति, सउणि पञ्जरं जहा ॥

सू० १, १। २ : २१, २२

कई ऐसे हैं जो केवल कृतक ही किया करते हैं और दूसरे सच्चे हो तो भी उनकी पर्युपासना नहीं करते। दुर्मति अपनी तर्कसे ही सोचते रहते कि उनका मार्ग ही सरल है। इस प्रकार अपनी पक्षमें तर्क करते हुए तथा धर्माधर्मको नहीं जानते हुए ऐसे लोग पीजरेमें बंधे हुए पक्षीकी तरह दुःखका अन्त नहीं कर सकते।

३—सयं सयं पसंसन्ता, गरहन्ता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति, संसारं ते विउस्सिया ॥

सू० १, १। २ : २३

अपने-अपने मतकी प्रशंसा करनेमें और दूसरोंके मतकी गर्दा—
निन्दा करनेमें ही जो पाण्डित्य दिखाते हैं वे संसारमें बंधे रहते हैं—
उसके पार नहीं पहुंचते।

४—ते नावि संधिं नञ्चा णं, न ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंतराहिया ॥

सू० १, १। १ : २०

इन सब वादियोंको न सच्चे ज्ञानकी खबर है और न सच्चे धर्म
का गान। इसलिए वे संसार-समुद्रको नहीं तिर सकते।

५—नाणाविहाइ दुक्खाइ, अणुहोन्ति पुणो पुणो।
संसारचक्रवालम्भि, मच्चुवाहिजराकुले ॥

१, १। १ : २६

जरा-मृत्यु और व्याधिसे पूर्ण इस संसार-चक्रमें वे ऐसे कुतर्फी
बार बार अनेक प्रकारके दुःख भोगते रहते हैं।

७—जहा अस्साविणि नावं, जाइअन्धो दुरुहिया ।
इच्छई पारमागन्तुं, अन्तरा य विसीयई ॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्ठन्ति ॥

सू० १, १।२ : ३१, ३२

जिस तरह छेदवाली फूटी नावमें बँठकर पार जानेकी इच्छा करनेवाले जन्मान्ध पुरुष पार नहीं पा सकते और बीचमें ही डूबते हैं इसी तरहसे कई अनार्य और मिथ्यादृष्टी श्रमण ससारसे पार पानेकी आकांक्षा रखते हुए भी ससारमें ही गंते खाया करते हैं ।

८—सुद्धं मगं विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मई ।
उम्मगागया दुप्पलं, घायमेसन्ति तं तथा ॥

सू० १, ११ : २६

शुद्ध मार्गकी विराधना करते हुए कई दुर्मति उन्मार्ग पर चले जाते हैं और (कर्मोंका संचय कर) दुःख और घातको प्राप्त होते हैं ।

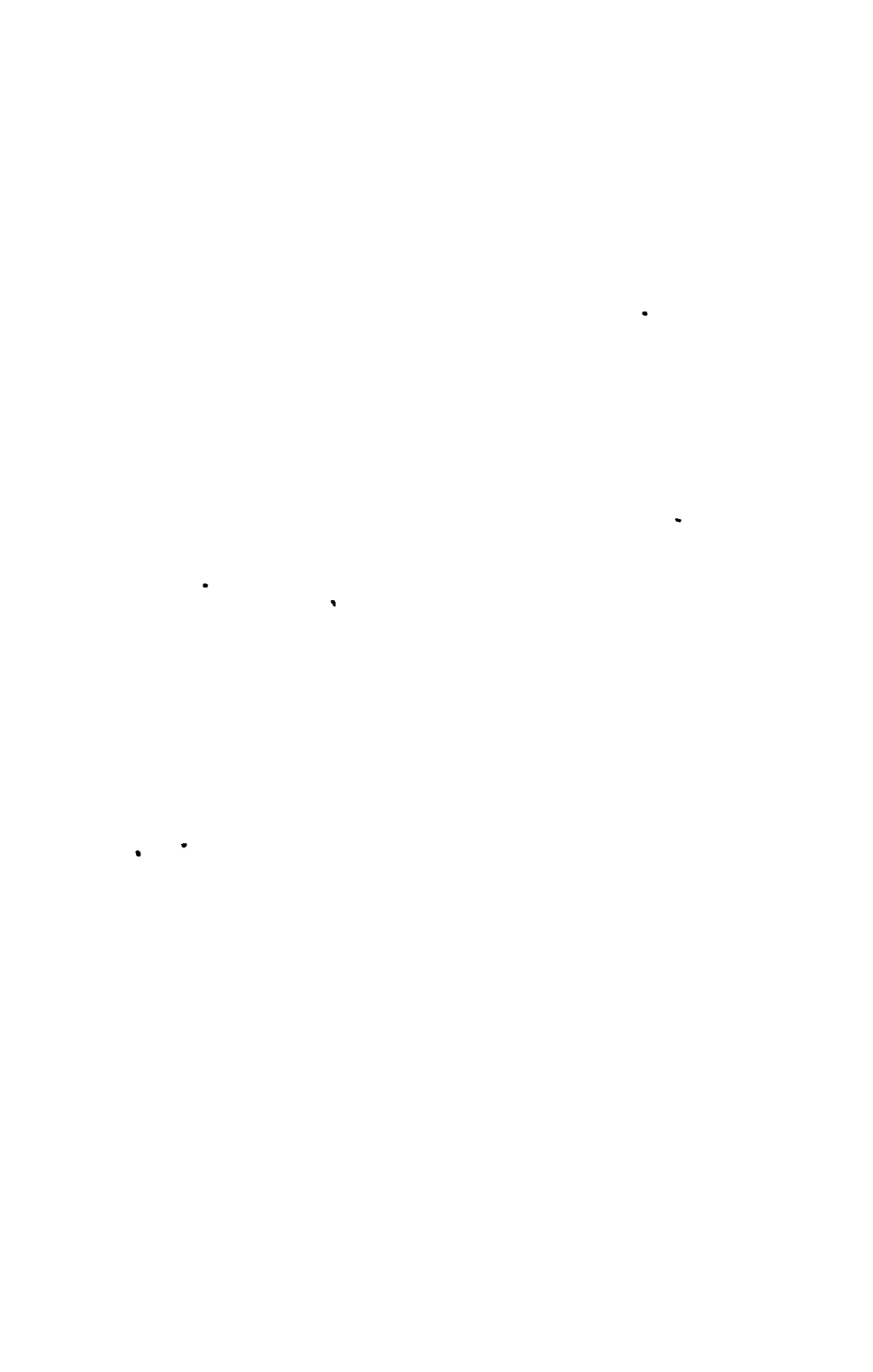
९—इमं च धम्ममायाय, कासवेण पवेइयं ।
तरे सोयं महाघोरं, अत्तत्ताए परिव्वए ॥

सू० १, ११ : ३२

काश्यप भगवान महावीर द्वारा कहे हुए धर्मके ग्रहण करनेसे मनुष्य इस ससार-रूपी घोर समुद्रसे तिर^० जाता है । इसलिए आत्माकी रक्षाके अभिप्रायसे मुमुक्षु इसी मार्गमें विहार करते हैं ।



४ : क्रांति पद



१ : अनाथ

१—जो पञ्चइत्ता ण महव्वयाइं, सम्मं च नो फासयई पमाया ।
अणिग्गहापा य रसेसु गिद्धे, न मूलओ छिदइ बंधण से ॥

उत्त० २० : ३६

जो प्रव्रजित हो थादमे प्रमादके कारण महाव्रतोंका समुचित रूपसे पालन नहीं करता, जो आत्म-निग्रही नहीं होता और रसमें गूढ़ होता है, वह ससार-बन्धनकी जड़ोंको मूलसे नहीं उखाड़ सकता ।

२—चिरं पि से मुंडरुई भवित्ता, अथिरव्वए तवनियमेहि भट्टे ।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता, न पारए होइ हु संपराए ।

उत्त० २० : ४१

जो चिरकालसे मुड़ होकर भी व्रतोंमें स्थिर नहीं होता और तप नियमोंसे भ्रष्ट होता है, वह चिरकाल तक आत्माको क्लेश पहचानने पर भी इस ससारका पार नहीं पाता ।

३—पोल्लेव मुट्ठी जह से असारे, अयतिए कूडकहावणे वा ।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ हु जाणएसु ॥

उत्त० २० : ४२

जिस तरह पोली मूट्टी और बिना छापका छोटा सिक्का असार होता है, उसी तरह जो व्रतोंमें स्थिर नहीं होता उसके गुण हीन वेपकी कीमत नहीं होती—वह असार ही होता है; क्योंकि वैडूर्य मणि की

तरह प्रकाश करता हुआ भी काच जानकारके सामने मूल्यवान नहीं होता ।

४—विसं तु पीयं जह कालकूटं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं ।
एसो वि धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो॥

उ० २० : ४४

जिस तरह कालकूट त्रिप पीनेवालेको मारता है, जिस तरह उल्टा ग्रहण किया हुआ शस्त्र शस्त्रधारीको ही घातक होता है और जिस तरह विधिसे बश नहीं किया हुआ वैताल मन्त्रधारीका ही विनाश करता है, उसी तरह विषयकी पूर्तिके लिए ग्रहण किया हुआ धर्म आत्माके पतनका ही कारण होता है ।

५—कुसील लिगं इह धारइत्ता, इसिउभयं जीविय वूहइत्ता ।
असंजए संजयलिपमाणे, विणिघायमागइइ से चिरंपि ॥

उ० २० : ४३ /

जो दुराचारी केवल रजोहरणादि बाह्य वेपको रखता है, जो पेट पूर्तिके लिए ही साधु लिगको धारण करता है और जो असयमी होने पर भी सयमी होनेका दिखाव करता है वह चिरकाल तक दुखी होता है ।

६—निरद्विया नग्गइई उ तस्स, जे उत्तमइदं विवज्जासमेइ ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए, दुहओ वि से किज्जइ तत्थलोए ॥

उ० २० : ४६

उसका नग्नभाव निरर्थक है, जो उत्तमार्थमें विपर्यास करता है—
पुरुषार्थी नहीं होता । वह न इस लोकका होता है, न परलोक का ।
वह इह भव और पर भव दोनोंको खोता है ।

७—न तं अरी कंठच्छेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।

से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥

उ० २० : ४८

दुरात्मा अपना जो अनिष्ट करती है वह कंठछेदकरनेवाला बंदी भी नहीं करता । दुराचारी अपनी आत्माके लिए सबसे बड़ा दया हीन होता है, पहले उसे प्रपन्न कर्मोंका भान नहीं होता परन्तु जब वह मृत्युके मुखमें पहुँचता है तो पछताता हुआ बहुत दुःखी होता है ।

८—एमेवहाछंदकुसीलरूवे, मगं विराहित्तु जिणुत्तमाण ।

कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा, निरद्धसोया परितावमेइ ॥

उ० २० : ५०

जो स्वच्छद, कुशील और निरावेपधारी होता है और जो उत्तम जिन मार्गकी विराधना कर टोटोडीकी तरह रस भोगमें गृद्ध होता है, उसका बादमें पछताना निरर्थक है ।

२ : ब्राह्मण कौन ?

१—न वि मुंडिष्ण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।

न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥

उत्त० २५ : ३१

सिर मुडा लेने मात्रसे कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' के उच्चारण मात्रसे कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्यवास करने मात्रसे कोई मुनि नहीं होता और न वल्कल चीर धारण मात्रसे तापस होता है ।

२—समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो ।

नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो ॥

उत्त० २५ : ३२

समभावसे ही कोई श्रमण होता है और ब्रह्मचर्यसे ही कोई ब्राह्मण, ज्ञानसे ही कोई मुनि होता है और तपसे ही कोई तापस ।

३—कम्ममुणा बंभणो होइ, कम्ममुणा होइ खत्तिओ ।

कम्ममुणा वइसो होइ, सुदो हवइ कम्ममुणा ॥

उत्त० २५ : ३३

कर्मसे ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्मसे ही क्षत्रिय । कर्मसे ही मनुष्य वैश्य होता है और शूद्र भी कर्मसे ही ।

४—जो लोए बंभणो वुत्तो, अग्गी वा महिओ जहा ।

सया कुसलसंदिट्ठं, तं घयं वूम माहणं ॥

उत्त० २५ : १६

जिसे कुशल पुरुषोने ब्राह्मण कहा है तथा जो लोकमें अग्निकी तरह पूज्य है, उसे हम सदा कुशल पुरुष द्वारा कहा हुआ ब्राह्मण कहते हैं ।

५—जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयंतो न सोयई ।

रमइ अज्जवयणांमि, तं वयं धूम माहणं ॥

उत्त० २५ : २०

जो आए हुए सम्बन्धियोंमें प्रीतिवान नहीं होता, जो जाते समय शोक नहीं करता और जो आर्य वचनोंमें सदा अनुरक्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

६—जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमलपावणं ।

रागद्वोसभयार्दियं, तं वयं धूम माहणं ॥

उत्त० २५ : २१

जो अग्निमें तपाकर शुद्ध किये और घिसे हुए मोनेकी तरह पाप-मल रहित होता है तथा जो राग-द्वेष और भयसे शून्य होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

७—तवस्सियं किसं दन्तं, अवचयमंससोणियं ।

सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं धूम माहणं ॥

उत्त० २५ : २२

जो तपस्वी है, क्रुश है, जितेन्द्रिय है, तप साधनासे जिसने रक्त और मांस सूखा दिया है, जो सुव्रती है और जिसने क्रोध, मान, मर्गा और लोभसे मुक्ति पाली है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

८—तसे पाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे ।

जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं धूम माहणं ॥

उत्त० २५ : २३

जो प्रस (चलने फिरनेवाले) और स्थावर (स्थिर) जीवोको अच्छी तरह जान कर उनकी तीनों प्रकारसे कभी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

६—कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं वूम माहणं ॥

उ० २५ : २४

जो क्रोध, हसी-मजाक, लोभ, भय इन किसी भी कारणोंसे झूठ नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

१०—चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा वहं ।
न गिण्हइ अदत्तं जो, तं वयं वूम माहणं ॥

उ० २५ : २५

जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ, थोड़ा या अधिक कितना ही क्यों न हो, मालिकके दिए बिना ग्रहण नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

११—दिव्वमाणुसतेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा कायवक्केणं, तं वयं वूम माहणं ॥

उ० २५ : २६

जो देव, मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी प्रकारके मंथुनका मन, वचन और शरीरसे सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

१२—जहा पोम्मं जले जायं, नोव लिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं वूम माहणं ॥

उ० २५ : २७

जिस तरह कमल जलमे उत्पन्न होकर भी जलसे लिप्त नहीं होता,

इसी प्रकार भोगोमें उत्पन्न होकर भी जो उनसे सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

१३—अलोलुपं मुहाजीवि, अणगारं अकिचणं ।

असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं वूम माहणं ॥

जो लोलुपी नहीं है, जो पेटके लिए सग्रह नहीं करता, जो घरवार रहित है, जो अकिचन ह, और जो गृहस्थोसे परिचय नहीं करता, उसे ब्राह्मण कहते हैं ।

१४—जहित्ता पुव्वसंजोगं, नाइसंगे य वन्धवे ।

जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं वूम माहणं ॥

उत्त० २५ : २८, २६

जो पूर्व संयोग (स्त्री, माता-पिताके मोह-पाश), जाति विरादरी और बान्धवोको एक वार छोड़ चूकने पर फिर भोगोमें अनुरक्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

१५—एए पाउकरे बुद्धे, जहि होइ सिणायओ ।

सव्वकम्मविणिम्मुक्कं, तं वयं वूम माहणं ॥

बुद्ध पुरुषोने जो गुण बतलाए है, उनसे सयुक्त होनेसे ही कोई स्नातक होता है । जो सब कर्मोंसे मुक्त होता है, उसे ही हम ब्राह्मण कहते हैं ।

१६—एवं गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा ।

ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव च ॥

उ० २५ : ३४, ३५

इस भाति उत्तम गुणोंसे सक्त जो द्विजोत्तम होते हैं, वे ही अपना तथा दूसरोका उद्धार करनेमें समर्थ हैं ।

३ : कुशील

१—एवमेगो उ पासत्था, पन्नवन्ति अणारिया ।

इत्थीवसं गया वाला, जिणसासणपरंमुहा ॥

स्त्रीके वश हुए तथा सदाचारमें ढीले कई मूर्ख अनार्य जिन शासन से पराङ्गमुख हो इस प्रकार कहते हैं :

२—जहा गण्डं पिलागं वा, परिपीलेज्ज सुहुत्तगं ।

एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ॥

जैसे फुन्सी अथवा फोड़ेको मूर्त भर दबा दिया जाता है, उसी तरह समागमकी प्रार्थना करनेवाली स्त्रीके साथ समागम करना चाहिए, इस कार्यमें दोष कैसे हो सकता है ?

३—जहा मन्धादणे नाम', थिमिय भुञ्जई दगं ।

एवं विन्नवणित्थीसु, दोषो तत्थ कओ सिया ॥

जैसे भेड़ या पिङ्ग नामक पक्षिणा विना हिलाए जल पीती है, उसी तरह समागमकी प्रार्थना करनेवाली स्त्रीके साथ समागम करनेसे किसी को पीडा न होनेसे इसमें कोई दोष कैसे हो सकता है ?

४—एवमेगो उ पासत्था, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।

अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणा इव तरुणए ॥

सू० १, ३ । ४ : ६, १०, ११, १३

१—जहा विहगमा पिङ्गा

इस तरह कितने ही शीलभ्रष्ट, मिथ्या दृष्टि तथा अनार्य पुरुष कामभोगमें वैसे ही अत्यन्त मूर्छित रहते हैं जैसे पूतना डाकिनी बालको पर ।

५—अणागयमपस्सन्ता, पच्चुप्पन्नगवेसगा ।

ते पच्छा परितापन्ति, खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥

सू०१, ३। ४ : १४

भविष्यमे होनेवाले दुखोकी ओर न देख जो केवल वर्तमान सुखको खोजते हैं वे आयु और जीवन क्षीण होने पर पश्चात्ताप करते हैं ।

६—अवंभयारी जे केइ, वंभयारी त्ति हं वए ।

गद्देव्व गवा मज्जे, विस्सरं नयई नदं ॥

दशा० श्रु० ६ : १२

ब्रह्मचारी न होते हुए भी जो ब्रह्मचारी हूँ, ऐसा कहता हूँ, वह गायोके बीचमें गर्दभकी तरह विस्वर नाद करता हूँ ।

४ : वस्त्र और मार्ग

पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्चय्यं ।

उत्त० २३ : २५

पच्चयत्थं च लोगस्स, नानान्निहविगप्पणं ।

जत्तत्थं गहणत्थं च, लोए लिंगप्पयोयणं ॥

अह भवे पइन्ना उ, मोक्खसब्भूयसाहणो ।

नाणं च दंसणं चेष, चरित्तं चेष निच्छए ॥

उत्त० २३ : ३२-३३

प्रज्ञासे ही धर्म अच्छी तरह देखा जाता है और उसके द्वारा ही तत्त्वका विनिश्चय होता है ।

नाना प्रकारकी वेषभूषा लोगोंकी प्रतीतिके लिए है । समय यात्रा के निर्वाह तथा मैं साधु हू इस बातकी स्मृतिके लिए ही लोकमें लिंग का प्रयोजन है ।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य यही निश्चय रूपसे मोक्षकी साधना है— इसमें तीर्थंकर एक मत हैं ।

५ : पापी श्रमण

१—दुद्धदही विगईओ, आहारेइ अभिक्खणं ।
अरण्ये तवोक्खमि, पावसमणे त्ति बुच्चई ॥

उत्त० १७ : १५

जो दूध, दही आदि विकृतियोंका बार-बार आहार करता है और
जिसे तप-कर्ममें रति नहीं वह पापी श्रमण कहा जाता है ।

२—सयं गेहं परिच्चज्ज, परगेहंसि धावरे ।
निमित्तेण य ववहरइ, पावसमणे त्ति बुच्चई ॥

उत्त० १७ : १८

जो अपना घर छोड़ कर पर घरोंमें काम करता है और निमित्तसे
—शुभाशुभ बतलाकर—व्यवहार—आजीविका—करता है, वह पापी
श्रमण कहा जाता है ।

३—द्वद्वस्स चरई, पमत्ते य अभिक्खणं ।
उल्लंघणे च चण्डे य, पावसमणे त्ति बुच्चई ॥

उत्त० १७ : ८

जो शीघ्र-शीघ्र चलता है, उन्मत्त होकर बार-बार जालादिका,
उल्लंघन कर जाता है और क्रोधो है, वह पापी श्रमण कहलाता है ।

४—जे केई उ पण्डईए, निहासीले पगामसो ।
भोच्चा पेच्चा सुहं सुअइ, पावसमणे त्ति बुच्चई ॥

उत्त० १७ : ३

जो कोई प्रव्रजित होकर अत्यन्त निन्द्राशील और आलसी होता है और खा-पीकर सुखसे सोता रहता है वह पापी श्रमण कहा जाता है।

५—आयरियवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गाहए ।

ते चेव खिसई वाले, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

उत्त० १७ : ४

जो मूर्ख आचार्य और उपाध्यायसे श्रुत और विनय ग्रहण कर उन्हीकी निन्दा करता है वह पापी श्रमण कहलाता है ।

६—सम्मद्दमाणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य ।

असंजए संजयमन्नमाणे, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

उत्त० १७ : ६

जो प्राणी, बीज और हरी वनस्पतिका मर्दन करता हुआ असयमी होने पर भी अपनेको सयमी मानता है, वह पापी श्रमण कहलाता है ।

७—बहुमाई पमुहरी, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।

असंविभागी अचियत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

उत्त० १७ : ११

जो अत्यन्त मायावी, विना विचारे बोलनेवाला, अहंकारी, लोभी, अतिग्रही, असविभागी और प्रेमभाव नहीं रखनेवाला होता है, वह पापी श्रमण कहलाता है ।

८—विवार्यं च उदीरेइ, अहम्मै अत्तपन्नहा ।

वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

उत्त० १७ : १२

जो विवाद को खड़ा करता है, जो अधर्ममें आत्मप्रज्ञा—बुद्धिवाला है और युद्ध और कलहमें रत है, वह पापी श्रमण कहलाता है ।

६ : परमार्थ

१—जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए ।
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचण ॥

उत्त० ६ : ४०

जो प्रतिमास दस दस लाख गायोका दान देता है, उसकी अपेक्षा कुछ भी नहीं देनेवाले समयीका समय श्रेष्ठ है ।

२—सन्ति एगेहिं भिम्बूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहि य सव्वेहि, साहवो संजमुत्तरा ॥

उत्त० ६ : २०

कई कई भिक्षुओंसे तो गृहस्थ ही समयमें उत्तम होते हैं परन्तु साधु पुरुष सभी गृहस्थोंसे समयमें उत्तम होते हैं ।

३—चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुण्डिणं ।
एयाणि चि न तायन्ति, दुस्सीलं परिचागयं ॥

उत्त० ६ : २१

बल्कलके चौर, मृग-चर्म, नग्नता, जटा, संघाटि—कंथा, सिर मुडन इत्यादि नाना वेप दुराचारी पुरुषकी जरा भी रक्षा नहीं कर सकते ।

४—पिंडोलए व्व दुस्सीले, नरगाओ न मुच्चई ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुच्चए कम्मई दिवं ॥

उत्त० ६ : २२

भिक्षा माग कर जीवन चलनेवाला भिक्षु भी अगर दुराचारी है तो नरकसे नहीं बच सकता । भिक्षु हो या गृहस्थ, जो सुव्रती—सदाचारी—होता है वह स्वर्गको प्राप्त करता है ।

५—पडन्ति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो ।

दिव्वं च गइं गच्छन्ति, चरित्ता धम्ममारियं ॥

उत्त० १८ : २५

(साधु हो या गृहस्थ) जो मनुष्य पापी होते हैं वे घोर नरकमें गिरते हैं और आर्य धर्म—सत्य धर्मका जो अनुसरण करते हैं वे दिव्य गति में जाते हैं ।

६—वत्थगन्धमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि थ ।

अच्छन्दा जे न भुंजन्ति, न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥

द० २ : २

वस्त्र, गन्ध, बलकार स्त्रिया और शयन इनके अभावसे जो इनका भोग नहीं करता वह कोई त्यागी नहीं कहा गया है ।

७—जे थ कन्ते पिए भोए, लद्धे वि पिट्टिकुच्चइ ।

साहीणे चयई भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई ॥

द० २ : ३

जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर भी उनसे मुह फेरता है—उन्हे पीठ दिखा देता है और जो स्वाधीन भोगोको भी त्यागता है उसे ही सच्चा त्यागी कहा गया है ।

७ : मद

१—जे यावि अप्पं वसुमं ति मत्ता, संखाय वायं अपरिक्ख कुज्जा ।
 तवेण वाहं सहिउ त्ति मत्ता, अन्नं जणं पस्सइ विम्बभूयं ॥
 एगन्तकूडेण उ से पलेइ, न विज्जई मोणपयंसि गोत्ते ।
 जे माणणट्टेण विउक्कसेज्जा, वासुमन्नतरेण अबुज्झमाणे ॥

सू० १, १३ : ८, ६

जो अपनेको सयमी समझ, मान करता है, परमार्थकी परख न होने पर भी जो अपनेको ज्ञानी मान बडाई करता है और जो मैं ही तपस्वी हूँ, ऐसा गुमान करता हुआ दूसरेको परछाईकी नाई देखता है, वह कर्म-पाश में जकडा जाकर—जन्म मरणके एकान्त दुःखपूर्ण चक्रमे घूमता है। ऐसा पुरुष सयमरूपी सर्वज्ञमान्य गौत्रमे अघिष्टित नहीं होता। जो मानका भूखा अपनी बडाई करता है और सयम धारण करने पर भी अभिभानी होता है, वह परमार्थको नहीं समझता।

२—जे माहणे खत्तियजायए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा ।

जे पव्वईए परदत्तभोई, गोत्ते न जे थव्वइ माणवद्धे ॥

सू० १, १३ : १०

ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र व लेच्छविय, कोई भी जिसने घरवार छोड़ प्रव्रज्या ले ली है और जो दूसरेके दिए हुए भोजन पर ही जीवन

चलाता है, उसे अपने मानस्पद गौत्रका अभिमान नहीं होना चाहिए।

३—न तस्स जाई व कुलं व ताणं, नन्नत्थ विज्जाचरणं सुचिण्ण।

निक्खम्म से सेवइ गारिकम्मं, न से पारए होइ विमोयणाए ॥

सू० १, १३ : ११

गोत्राभिमानीको उसकी जाति व कुल शरणभूत—रक्षाभूत नहीं हो सकते। गुणाचरित विद्या और चरण—घमंके सिवा अन्य वस्तु नहीं जो उसकी रक्षा कर सके। जो घरदारसे निकल चुकने पर भी गृह-कर्मोंका सेवन करता है, वह कर्म मृगत होकर ससारके पार नहीं पहुँचता।

४—निष्किचणे भिक्खु सुल्लहजीवी, जे गारवं होइ सिलोगकामी।

आजीवमेयं तु अवुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुवेन्ति ॥

सू० १, १३ : १२

निष्किचन और लूखे-सूखे आहार पर जीवन चलानेवाला भिक्षु होकर भी जो मानप्रिय और स्तुतिकी कामनावाला होता है, उसक वेप केवल आजीविकाके लिए होता है। परमार्थको न जान वह बार-बार ससार-भ्रमण करता है।

५—जे भासवं भिक्खु सुसाहुवाई, पडिहाणवं होइ विसारए य।

आगाढपन्ने सुविभावियप्पा, अन्नं जणं पन्नया परिह्वेज्जा ॥

एवं न से होइ समाहिपत्ते, जे पन्नवं भिक्खु विउक्खसेज्जा।

अह्वा वि जे लाहमयावलित्ते, अन्नं जणं खिसइ वालपन्ने ॥

सू० १, १३ १३, १४

भाषाका जानकार, हित-मित बोलनेवाला, प्रतिभावान, विशारद, स्थिर प्रज्ञ और आत्माको धर्मभावमें लीन रखनेवाला—ऐसा भी जो

साधु अपनी प्रज्ञासे दूसरेका तिरस्कार करता है, जो लाभ-मदसे अव-
लिप्त हो दूसरेकी निन्दा करता है और अपनी प्रज्ञाका अभिमान रखता
है वह मूर्ख बुद्धिवाला पुरुष समाधि प्राप्त नहीं कर सकता ।

६—पन्नामयं चैव तवोमयं च, निन्नामए गोयमयं च भिक्षू ।
आजीवगं चैव चउत्थमाहु, से पण्डिए उत्तमपोगले से ॥

सू० १, १३ : १५

प्रज्ञा-मद, तप-मद, गौत्र-मद और चौथा आजीविकाका मद—इन
चार मदोको नहीं करनेवाला निस्पृह भिक्षु सच्चा पण्डित और उत्तम
आत्मावाला होता है ।

७—मयाइँ एयाइँ विगिञ्च धीरा, न ताणि सेवन्ति सुधीरवम्मा ।
ते सव्वगोत्तावगया महेसी, उच्चं अगोत्तं च गतिं वयन्ति ॥

उत्त० १, १३ : १६

जो धीर पुरुष इन मदोको दूर कर धर्ममें स्थिर बुद्धि हां इनका
सेवन नहीं करते वे सर्व गौत्रसे पार पडुचे हुए महर्षि उच्च अगोत्र
गतिको—मोक्षको पाते हैं ।

८—तय सं व जहाइ से रयं, इइ संखाय मुणी न मज्जई ।
गोयन्नतरेण माहणे, अहसेयकरी अन्नेसि इंखिणी ।

सू० १, २१२ : १

जिस तरह सर्प कांचलीको छोड़ता है उसी तरह सत पुरुष पाप
रजको झाड़ देते हैं । यह जान कर मुनि गोत्र या अन्य बातोंका अभि-
मान न करे और न दूसरोकी अश्रेयस्कारी निन्दा करे ।

९—जो परिभवई परं जणं, संसारे परिवत्तई महं ।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इइ संखाय मुणी न मज्जई ॥

सू० १, २१२ : २

जो दूसरोका तिरस्कार करते हैं, वे ससारमें अत्यन्त, परिभ्रमण करते हैं । पर निन्दाको पापकारी समझ कर मुनि किसी प्रकारका मद न करे ।

१०—जे यावि अणायगे सिया, जे वि थ पेसगपेसगेसिया ।

जे मोणपर्यं उवड्डिए, नो लज्जे समयं सया चरे ॥

सू० १, २।२ : ३

कोई भ्रताप हो और कोई नीकरका नीकर तो भी समय ग्रहण कर लेने पर मुनि परस्पर वदनादि करनेमें निःसकोच भाव हो और सदा परस्पर समभाव रखे ।

८ : सच्चा तप

१—जइ वि य नगिणे किसे चरे, जइ वि य भुञ्जिय मासमंतसो ।

जे इह मायाहि मिज्जई, आगन्ता गव्भाय णन्तसो ॥

सू० १, २ । १ : ६

भले ही कोई नग्न रहे और देहको कृश करे, भले ही कोई मास-मासके बन्तरसे भोजन करे, जे मायावी होता है, वह अनन्त बार गर्भावास करता है ।

२—मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए ।

न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसि ॥

उत्त० ६ : ४४

यदि अज्ञानी मनुष्य महीने-महीनेके उपवास करे और पारणमें कुशाके अग्रभाग पर आवे उतना ही आहार करे तो भी वह सत्पुरुषों के बताये धर्मके सोलहवें हिस्सेको भी नहीं पहुच सकता ।

३—जो लक्षणं सुविण पउंजमाणे, निमित्तकोऊहलसंपगाढे ।

कुहेडविज्जासवदारजीवी, न गच्छई सरणं तस्मि काले ॥

उत्त० २० : ४५

जो लक्षण विद्या, स्वप्न विद्या, ज्योतिष और विविध कृतुहल आदि में रत रहता है और जो तुच्छ विद्याओं द्वारा उदर पोषण करता है, उसको ये सब बातें मरण समयमें शरणभूत नहीं होती ।

४—तर्मतमेणेव उ से असीले, सया दुही विप्परियासुवेइ ।
संधावइ नरगतिरिफ्त्वजोणी, मोणं विराहित्तु असाहुखे ॥

उत्त० २० ४६

दुराचारी मनुष्य सदा दुखी रहकर घोर तमस्तभा नरकमें गिरता है । असाधु पुरुष सदाचारके नियमोका उल्लंघन कर नरक और पञ्च-पक्षियोंकी योनिमें उत्पन्न होता है ।

५—सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई ।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥

उत्त० १२ : ३७

निश्चय ही तपकी विशेषता तो यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है और जातिकी विशेषता तो थोड़ी सी भी नजर नहीं आती । चाण्डाल पुत्र हरिकेश साधुकी महा ऋद्धि और प्रभावको तो देखो !

६—तेसिं पि न तवो सुद्धो, निक्खन्ता जे महाकुला ।

जं नेवन्ने वियाणन्ति, न सिलोगं पवेज्जए ॥

सू० १, ८ : २४

जो कीर्ति आदिकी कामनासे तप करते हैं, उनका तप शुद्ध नहीं है, भले ही उन्होंने महाकुलमेंसे व्रज्या भी हो । जो दूसरे नहीं जाने (वही सच्चा तप है) । तपस्वी आत्मश्लाघा न करे ।

७—जे कोहणे होइ जयट्टभासी, विओसियं जे उ उदीरएज्जा ।

अन्धे व से ढण्डपहं गहाय, अविओसिए धासइ पाचकम्मी ॥

सू० १, १३ : ५

जो स्वभावसे क्रोधो होता है, जो कटुभापी है, जो शान्त हुए कलहको उखाड़ता है वह अनुपशांत परिणामवाला पापी जीव पगडंडी पर चलनेवाले अन्धेकी तरह धर्ममार्गसे पतित होता ।

८—जे विग्गहीए अन्नायभासी, न से समे होइ अर्मभपत्ते ।
ओवायकारी य हिरीमणे य, एगन्तदिट्ठी य अमाइरूवे ॥

सू० १, १३ : ६

जो भगड़ा करनेवाला और अन्यायभापी है वह कलह रहित न होनेसे—सम—मध्यस्थभावी नहीं होता । जो आज्ञाकारी और पाप कर्म करनेमें लज्जाशील होता है और जिसकी आत्मार्थमें एकान्त दृष्टि होती है वही अमायी है ।

९ : पात्र कौन ?

१—काहो य माणो य वहो य जेसि, मोसं अदत्तं च परिग्गहो च ।
ते माहणा जाइविज्जाविहीणा ताइं तु खित्ताइं सुपावयाइं ॥

उत्त० १२ : १४

जिनके क्रोध, मान, हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रह है वे ब्राह्मण जाति और विद्या दोनोसे ही रहित हैं। ऐसे ब्राह्मण निश्चय ही पाप रूप क्षेत्र हैं।

२—तुब्भेत्य भो भारधरा गिराणं, अट्ठं न याणाह अहिज्ज वेए ।
उच्चावयाइं मुणियो चरन्ति, ताइं तु खित्ताइं सुपेसलाइं ॥

उत्त० १२ : १५

हे ब्राह्मणो ! तुम लोग इस लोकमें वेदरूप वाणीके केवल भार उठानेवाले ही हो ! वेदोकी पढकर भी तुमने उनके अर्थको नहीं जाना। सामान्य व उच्च घरोमें भिक्षाचर्या करनेवाले मुनि ही वास्तवमें कृत्यकारी पुण्यरूप क्षेत्र हैं।

१० : बाह्य शुद्धि

१—किं माह्वणा जोइसमार भन्ता, उदएण सोहि वहिया विमग्गह ।
जं मग्गहा वाहिरियं विसोहिं, न तं सुद्धिं कुसला वयंति ॥

उत्त० १२ : ३८

हे ब्राह्मणो ! अग्निका आरम्भ कर और जल-मंजन कर बाह्य शुद्धि द्वारा अन्तर शुद्धिकी गवेषणा क्यों करते हो ? जो मार्ग केवल बाह्य शुद्धिका है, उसे कुशल पुरुषोंने इष्ट नहीं बतलाया है ।

२.—कुसं च जूवं तणकट्टमग्गिं, सायं च पायं उदग्गं फुसन्ता ।
पाणाइं भूयाइं विहेडयन्ता भुज्जो वि मन्दा पकरेह पावं ॥

उत्त० १२ : ३६

कुशा, यूप, तृण, काष्ठ और अग्नि तथा प्रातः और सन्ध्या उदक का स्पर्श कर प्राणी और भूतोका विनाश कर, हे मन्द बुद्धि पुरुष ! तुम केवल पापका ही उपाजन करते हो !

३—इहेग मूढा पवयंति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं ।
एगे य सीओदग्गसेवणेणं, हुएण एगे पवयंति मोक्खं ॥

सू० १, ७ : १२

कई खूँ लवण छोड़नेसे मोक्ष बतलाते हैं और कई शीतोदक सेवन करनेसे (सुबह साम नहाने घोनेसे) और कई हुताशन—घूनों तपनेसे मोक्ष बतलाते हैं ।

४—पाओ सिणाणाइसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणास णेणं ।
ते मज्जमंसं लसुणं च भोच्चा, अन्नत्थ वासं परिकप्पयंति ॥

सू० १, ७ : १३

प्रातः स्नानादिसे मोक्ष नहीं होता और न नमकके वर्जनसे । मूर्ख मनुष्य मद्य, मास तथा लहसुनका सेवनकर मोक्षकी आशा रखता है परन्तु वह अपने लिए कोई दूसरा ही वास (नरकस्थान) तैयार करता है ।

५—उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं उदगं फुसंता ।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झिंसु पाणा बहवे दांसि ॥

सू० १, ७ : १४

जो सुबह और सायं जलका स्पर्श करते हुए—जल स्नानसे मुक्ति बतलाते हैं वे मूर्ख हैं । जो जल-स्पर्शसे ही सिद्धि होती हो तब तो जलमें रहनेवाले बहुत जीव मोक्ष प्राप्त करे ।

६—उदगं जई कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामित्तमेव ।
अंधं व नेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चैवं विणिहंति मंदा ॥

सू० १, ७ : १६

जैसे जलसे पाप मल दूर होता होगा वैसे ही पुण्य भी क्यों नहीं धुलता होगा ? जल स्नानसे पाप-मल धुलनेकी बात मनोकल्पना मात्र है । जिस तरह अन्धा पुरुष अन्धे पुरुषका अनुसरण कर अभिप्रेत स्थानको नहीं पहुँच सकता उसी तरह स्नान आदिसे मोक्ष मानने वाले मूर्ख प्राणियोंकी धात करते हुए सिद्धि नहीं पा सकते ।

७—पावाइं कम्ममाइं पक्कुव्वोहि, सिओदगं उ जइ तं हरिज्जा ।
सिज्झिंसु एगे दगसत्तघाई, मुसं वयन्ते जलसिद्धिमाहु ॥

सू० १, ७ : १७

यदि पाप कर्मोंको करता हुआ मनुष्य शीतोदकके स्पर्शसे उन्को दूर कर सकता है तब तो जीव घातक जल जंतु भी मुक्त हो नकते होंगे ? जो जल-स्नानमें मुक्ति बतलाते हैं वे मिय्या बोलते हैं ।

८—हुण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च प्रायं अगणिं फुसन्ता ।

एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणिं फुसंताण कुकंमिणं पि ।

सू० १, ७ : १८

मूढ़ मनुष्य मुवह और सध्या अग्निका स्पर्श करते हुए हुताशनने सिद्धि बतलाते हैं । अगर इस तरहसे मुक्ति मिले तब तो रात-दिन अग्निका स्पर्श करनेवाले लोहारादि कर्मों भी मोक्ष पहुँचेंगे ।

९—जे मायरं वा पियरं च हिजा, समणब्बए अगणिं समारभिज्जा ।

अहाहु से लोए कुसील धम्मे, भूयाइं जे हिंसई आयसाए ॥

सू० १, ७ : १

जो माता-पिता आदिको छोड़कर सन्यासी हो चुकने पर भी अग्नि का समारम्भ करते हैं तथा जो आत्म-मुखके लिए प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, उन्हें कुशीलधर्मों कहा है ।

१०—उज्जालओपाण निवायएज्जा, निव्वावओ अगणिं निवाग्गेज्जा

तम्हा उमेहावि समिक्ख धम्मं, ण पंडिए अगणिं समारभिज्जा

सू० १, ७ : ६

जो अग्नि सुलगाता है, वह त्रस-स्थावर जीवोंका विनाश करता है और जो अग्नि वृक्षाता है वह भी अनंक जीवोंका विनाश करता है । अतः विवेकी पुरुष दया धर्मको अच्छी तरह समझ अग्निका समारम्भ नहीं करते ।

११—पुढवी वि जीवा आज वि जीवा, पाणा य संपाइम संपयंति ।

संसेयया कट्टसमस्सिया य, एए द्देहे अगणिं समारभंते ॥

सू० १, ७ : ७

अग्निका समारम्भ करनेवाला पृथ्वीकायिक जीव, जलकायिक जीव, उड़ उड़कर गिरनेवाले सपातिम प्राणी, सस्वेदज तथा काण्ठ इ घनादिमें रहे हुए जीव आदि स्थावर-जगम प्राणियोंको जला डालता है ।

१२—हरियाणि भूयाणि विलंबगाणि, आहार देहा य पुढो सियाइ जे छिंदई आयसुहं पडुच्च, पगन्भि पाणे बहुणं तिवाई ॥

सू० १, ७ : ८

मनुष्यकी तरह ही हरी वनस्पति विकास शील होती है । इसके अलग-अलग भागोंमें पृथक्-पृथक् जीव होते हैं । जो आत्म-सुखके लिए—आहार तथा शरीरके लिए वनस्पतिका छेदन-भेदन करते हैं, वे हीठतापूर्वक अनेक जीवोंका नाश करते हैं ।

१३—जातिं च बुद्धिं च विणासयंते, बीयाइ असंसजय आयदंडे ।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे, बीयाइ जे हिंसति आयसाते ॥

सू० १, ७ : ९

जो कंद-मूल, शाखा-प्रशाखा, फल-फूल, बीज आदि वनस्पतिकाय का विनाश करता है, वह असयमी अपनी आत्माकी ही घात करता है । जो आत्म-सुखके लिए बीज प्रमुख हरी कायकी हिंसा करता है, उसे लोकमें अनार्यधर्मी कहा है ।

१४—अपरिस्व दिट्ठं णहु एव सिद्धी, एहिंति ते घायमवुज्झमाणा ।
भूएहिं जाणं पडिलेह सातं, विज्जंगहायं तसथावरेहिं ॥

सू० १, ७ : १६

जो स्नान और होमादिसे सिद्धि बतलाते हैं, वे आत्मार्थको नहीं पहचानते । इस तरह मुक्ति नहीं होती । वे परमार्थको समझे बिना प्राणी-हिंसा कर ससारमें भ्रमण करेंगे । विवेकी पुरुष 'वस-स्थावर

सब जीव सुख चाहते हैं—इस तत्त्वको ग्रहण कर वर्तन करते हैं ।

१५—थणंति लुप्यंति तसंति कम्मी, पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू ।
तम्हाविऊ विरतो आयगुत्ते, दड्ढुं तसेया पडिसंहरेज्जा ॥

सू० १, ७ : २०

पापी जीव नरकमे जाकर आक्रद करता है, छेदा-भेदा जाता है और व्याकूल हो इत्रर-उधर दौड़ता है । इसलिए विद्वान् मुनि पापसे निवृत्त होकर अपनी आत्माकी रक्षा करे । वह त्रस और स्थावर प्राणियोकी घातकी क्रिया न करे ।

११ : तुष

१—जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे, वियडेण साहट्टु यजे सिणाइं ।
जे धोवई लूसयई व वत्थं, अहाहु ते नागणियस्स दूरे ॥

सू० १, ७ : २१

जो सग्रह कर रखे हुए भोजनका आहार करते हैं फिर वह आहार निर्दोष और नियमानुसार प्राप्त भी क्यों न हो और जो स्नान करते हैं, फिर चाहे वह शरीर सकोच कर और प्रासुक जलसे ही क्यों न किया गया हो तथा जो वस्त्रोको धोते अथवा वस्त्रोको शोभाके लिए छोटा व लम्बा करते हैं वे श्रमणधर्मसे दूर हैं—ऐसा ज्ञानियोने कहा है ।

२—जे मायरं च पियरं च हिच्च, गारं तथा पुत्तपसुं धणं च ।
कुलाइं जे धावइ सावगाइं, अहाहु से सामणियस्स दूरे ॥

सू० १, ७ : २३

माता-पिता, घर, पुत्र, पशु और धनको त्यागकर सर्वत्रती साधु हो चुकने पर भी जो जिह्वा-लोलुपी वन स्वादु भोजनवाले घरोंमें दीड़ता हैं, वह श्रमण भावसे दूर हैं ऐसा ज्ञानियोने कहा है ।

३—कुलाइं जे धावइ सावगाइं, आघाइ धम्मं उयरणुगिद्धे ।
अहाहु से आयरियाण सयंसे, जे लावएज्जा असणस्स हेऊ ।

सू० १, ७ : २४

जो स्वादु भोजनवाले घरोंमें बार-बार जाता है और उदर पूर्ति के लिये लोलुपी बना मन चाहा धर्म कहता है तथा जो आहार वस्त्र आदि वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए अपनी प्रशसा करता है वह आर्य धर्म के शताशसे भी दूर है।

४—णिश्वम्म दीणे परभोयणंमि, मुहमंगलीए उयरणुगिद्धे ।
नीवारगिद्धे व महावराहे, अदूरए एहिइ घायमेव ॥

सू० १, ७ : २५

जो घरवार छोड़ चुकने पर पर भी भोजनके लिए दीनता दिखाते हैं और उदर पूर्तिके लिए गृह्य बने भाटकी तरह गृहस्थकी प्रशसा करते फिरते हैं वे चावलमें आसक्त सूअरकी तरह शीघ्र ही विनाशको प्राप्त होते हैं।

५—अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स, अणुप्पियं भासइ सेवमाणे ।
पासत्थयं चैव कुसीलयं च, निस्सारए होइ जहा पुलाए ॥

सू० १, ७ : २६

जो अन्न-पान व वस्त्रादिके लिये नौकरकी तरह खुशामद करता हुआ प्रिय बोलता रहता है वह सदाचार-भ्रष्ट पासत्थ कृशीलभाव को प्राप्त हो विना धानके तुषकी तरह निस्तार होता है।

६—आउत्तया जस्स न अत्थि काइ, इरियाए भासाए तहेसणाए ।
आयाणनिष्खेव दुगुंझणाए, न वीरजायं अणुजाइ मगं ॥

उत्त० २० : ४०

गमनागमान, बोलने, एषणा—भोजनादि शोषने और ग्रहण करने, वस्त्रादि सामगियोंको रखने उठाने तथा दुगुञ्जनीय चीजोंके उत्सर्ग करने इन—समित्तियोंके विषयोंमें जिसके निरन्तर उपयोग—सावधानता नहीं है वह वीरोपदिष्ट मार्गका अनुयायी नहीं है।

७—उद्देशियं क्रीयगडं नियागं, न मुच्चई किंचि अणेसणिज्जं ।
अग्गीविवा सन्वभक्षी भविता, इओ चुओ गच्छइ कट्टुपावां ॥

उत्त० २० : ४७

जो अग्निकी तरह सर्वभक्षी बन साधुको उद्देश्य कर किया हुआ, साधुके लिए खरीद कर लाया हुआ और नित्य पिण्ड—इस तरहके किसी भी अनैषणीय आहारको नहीं छोड़ता वह यहासे देह छोड़कर अत्यन्त पापवाली नारकीको जाता है ।

८—चरित्तमायार गुणणिणए तओ, अणुत्तरं संजम पालिया णं ।
निरासवे संखखवियाणकम्मं, उवेइ ठाणं विउल्लुत्तमंधुवं ॥

उत्त० २० : ५२

जो चारित्र्याचारके गुणोसे सयुक्त है, जो सर्वोत्तम सयमका पालन करता है, जिसने सर्व आश्रवोको रोक दिया है । जिसने कर्मोका क्षय कर दिया है वह विपुल, उत्तम और द्रुवगति—भुवितको पाता है ।

